महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

लोक-साहित्य

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
प्रथम सेमेस्टर
पंचम पाठ्यचर्या (वैकल्पिक) विकल्प – II
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 06

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

लोक-साहित्य

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ अरबिन्द कुमार झा
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक- एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग एवं अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रथम संस्करण : अप्रैल 2017

पाठ-रचना

डॉ० गीता सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
हिन्दी विभाग, राजकुमार केवलरामानी कन्या महाविद्यालय, नागपुर, महाराष्ट्र

खण्ड – 1 : इकाई – 1, 2 एवं 3
खण्ड – 4 : इकाई – 1, 2 एवं 3

डॉ० धनंजया अमरावत
असिस्टेंट प्रोफेसर
राजस्थानी विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान

खण्ड – 2 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4

डॉ० सुषमा सोलंकी
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान

खण्ड – 3 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़-रीडिंग

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पहला प्रूफ़

श्री महेन्द्र प्रसाद
सम्पादकीय सहायक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री राजदीपसिंह राठौर फोटोग्राफर एंड डॉक्यूमेंटेशन सहायक, जनसंपर्क विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करनेके सभी प्रयास किये गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रहगई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

प्रथम सेमेस्टर
पंचम पाठ्यचर्या (वैकल्पिक)
विकल्प – II
पाठ्यचर्या कोड : MAHD - 06
पाठ्यचर्या का शीर्षक : लोक-साहित्य

क्रेडिट – 04

खण्ड – 1 : लोक-साहित्य : अवधारणा एवं स्वरूप

- इकाई – 1 : लोक, लोक वार्ता और लोक-साहित्य, लोक-साहित्य और संस्कृति, लोक वार्ता के तत्त्व और लोक मानस, लोक-साहित्य में समानान्तरता और प्रसार
- इकाई – 2 : भारत में लोक-साहित्य के अध्ययन का इतिहास, हिन्दी लोक-साहित्य के विशिष्ट अध्येता, लोक-साहित्य की अध्ययन-प्रक्रिया, लोक-साहित्य संकलन
- इकाई – 3 : लोक-साहित्य : लक्षण, परिभाषा और क्षेत्र, लोक-साहित्य और अन्य समाज-विज्ञान, हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में लोक तत्त्व, वर्तमान अभिजात साहित्य और लोक-साहित्य का अन्तस्सम्बन्ध

खण्ड – 2 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 1

- इकाई – 1 : लोक-गीत : प्रतिपाद्य एवं महत्त्व, सामान्य प्रवृत्तियाँ और रूढ़ियाँ, लोक गीत एवं शिष्ट गीत, लोक-गीतों का वर्गीकरण : समस्या और समाधान, लोक-गीतों के वर्गीकरण की परम्परा, लोक गीत के निर्माणक तत्त्व, लोक-गीतों में निरूपित संस्कृति, विभिन्न प्रकार के गीत यथा – संस्कार-गीत, व्रत-गीत, श्रम-गीत, ऋतु-गीत, जाति-गीत आदि का परिचय, लोक-गीतों में संगीत का विधान एवं वाद्य-यन्त्र, लोक-गीतों के गाने में प्रयुक्त लोक-वाद्य, लोक गायक, लोक गायकों का वर्गीकरण, विशिष्ट लोक-धुनों का परिचय
- इकाई – 2 : लोक-नाट्य : लक्षण-निर्धारण, नाट्य-धर्मिताएँ, लोक-नाट्यों का उद्‌भव एवं विकास, लोक नाट्य-परम्परा एवं प्रविधि, लोक-नाट्यों की विशेषताएँ, लोकमंच का स्वरूप और उसके उपादान, लोक-नाट्यों की लोकप्रियता के कारण, लोक नाट्यों के प्रकार, हिन्दी नाटक और रंगमंच पर लोक-नाट्यों का प्रभाव, भारत के प्रसिद्ध लोक-नाट्यों यथा – बहुरूप या नकल, नसीरा, भगत, रामलीला, रासलीला, कीर्तनियाँ, यक्षगान, भवाई, संपेडा, विदेसिया, माच, भाँड, तमाशा, स्वाँग, नौटंकी, जात्रा, कथकली, ख्याल, तुर्राकलंगी, रम्मत आदि का परिचय
- इकाई – 3 : लोक-नृत्य : परिभाषा, वैशिष्ट्य, उत्पत्ति, श्रेणी-विभाजन, भारतीय परम्परा, प्रस्तुतीकरण, भारत के प्रसिद्ध लोक-नृत्यों यथा – घूमर, अग्निनृत्य, चरीनृत्य, तेराताली, डांडिया-गेर आदि का परिचय
- इकाई – 4 : लोकोत्सव : प्रतिपाद्य एवं महत्त्व, वर्गीकरण, लोकोत्सवों की लोकप्रियता के कारण, भारत के विशिष्ट लोकोत्सव

खण्ड – 3 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 2

इकाई – 1 : लोक-कथा : पुरातन परम्परा स्रोत, परिभाषा, रूपात्मक परिचय, लोक-कथाओं का शिल्प, विशेषताएँ, वर्गीकरण, फेबुल, व्रतकथा, परीकथा, लीजेंड, मिथ : पौराणिक कथा, नाग-कथा, बोध-कथा, कथानक-रूढ़ियाँ अथवा अभिप्राय, छोगे एवं बात बणाव आदि, लोक कथा कथन में कथक्कड़ की भूमिका

इकाई – 2 : लोक-गाथा : परिभाषा, विशेषताएँ, उत्पत्ति, श्रेणी-विभाजन, भारतीय परम्परा, प्रस्तुतीकरण, भारत की प्रसिद्ध लोक-गाथाओं यथा – ढोला-मारू, गोपीचन्द-भरथरी, लोरिकायन, नल-दमयन्ती, लैला-मझनूँ, हीर-राँझा, सोहनी-महीवाल, लोरिक-चंदा, बगड़ावत, आल्हा-हरदौल, पाबूजी री पड़, वीर तेजा आदि का परिचय

इकाई – 3 : प्रकीर्ण साहित्य : लोकोक्ति – परम्परा, उद्भव और विकास, लक्षण, परिभाषा एवं वर्गीकरण, मुहावरे – मुहावरों और लोकोक्तियों का अन्तर, मुहावरों के प्रकार, लोकोक्तियों और मुहावरों में लोक संस्कृति का प्रतिबिम्ब, पहेलियाँ – उद्भव और विकास, परम्परा, वर्गीकरण, लघुगीत

इकाई – 4 : लोक कलाएँ : प्रतिपाद्य एवं महत्त्व, रूपात्मक परिचय, लोक-कलाओं का शिल्प, विशेषताएँ, वर्गीकरण, भारत की प्रसिद्ध लोक-कलाओं यथा – माँडणा, मेहँदी, पातचित्र, भित्तिचित्र आदि का परिचय

खण्ड – 4 : हिन्दी का लोक-साहित्य

इकाई – 1 : हिन्दी के लोक-साहित्य का इतिहास, विभिन्न जनपदीय बोलियाँ, यथा – राजस्थानी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेली, हरियाणवी, खड़ीबोली, कुमाऊँनी, गढ़वाली, छत्तीसगढ़ी, बघेली, मालवी, कन्नौजी और उनका लोक-साहित्य

इकाई – 2 : हिन्दी लोक-साहित्य के अग्रणी विद्वानों यथा – संकलन-संग्रह करने वाले विद्वान्, अध्ययन की प्रेरणा देने वाले विद्वान् एवं अनुसन्धान करने वाले विद्वान् आदि के कार्यों की समीक्षा, हिन्दी-प्रदेश का लोक-साहित्य : अध्ययन की सीमाएँ एवं आवश्यकताएँ

इकाई – 3 : हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियाँ यथा – राजस्थानी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेली, हरियाणवी, खड़ीबोली, कुमाऊँनी, गढ़वाली, छत्तीसगढ़ी, बघेली, मालवी, कन्नौजी आदि के लोक-साहित्य का लोक-गीत, लोक नाट्य, लोक-नृत्य, लोकोत्सव, लोक कथा, लोक गाथा, प्रकीर्ण साहित्य, लोक कलाओं आदि प्रमुख रूपों के अन्तर्गत परिचय

सहायक पुस्तकें :

01. ब्रज लोक-साहित्य और संस्कृति, राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा – 02
02. भारत के लोक नाट्य, शिवकुमार मधुर
03. भारतीय लोक-साहित्य की रूपरेखा, दुर्गा भागवत
04. राजस्थानी लोक-कथावां, मनोहर शर्मा, उजास ग्रन्थमाला – 2, राजस्थानी साहित्य एवं संस्कृति जनहित प्रन्यास द्वारा बैद बोरड एंड कंपनी, बीकानेर
05. लोक गीत की सत्ता, सुरेश गौतम
06. लोकधर्मी नाट्य-परम्परा, श्याम परमार
07. लोक-साहित्य और संस्कृति, दिनेश्वर प्रसाद, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद – 03
08. लोक-साहित्य की भूमिका, कृष्णदेव उपाध्याय
09. लोक-साहित्य का अध्ययन, त्रिलोचन पाण्डेय
10. लोक-साहित्य विज्ञान, सत्येन्द्र, शिवलाल अगरवाल एंड कंपनी, आगरा – 03
11. लोक-साहित्य : सिद्धान्त और प्रयोग, श्रीराम शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा – 02
12. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी (16 वाँ खण्ड)
13. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह 'दिनकर'

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	09 – 19
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	20 – 34
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	35 – 46
04.	खण्ड – 2	इकाई – 1	47 – 84
05.	खण्ड – 2	इकाई – 2	85 – 101
06.	खण्ड – 2	इकाई – 3	102 – 113
07.	खण्ड – 2	इकाई – 4	114 – 121
08.	खण्ड – 3	इकाई – 1	122 – 142
09.	खण्ड – 3	इकाई – 2	143 – 162
10.	खण्ड – 3	इकाई – 3	163 – 184
11.	खण्ड – 3	इकाई – 4	185 – 204
12.	खण्ड – 4	इकाई – 1	205 – 218
13.	खण्ड – 4	इकाई – 2	219 – 236
14.	खण्ड – 4	इकाई – 3	237 – 272

खण्ड – 1 : लोक-साहित्य : अवधारणा एवं स्वरूप

इकाई – 1 : लोक, लोक वार्ता और लोक-साहित्य, लोक-साहित्य और संस्कृति, लोक वार्ता के तत्त्व और लोक मानस, लोक-साहित्य में समानान्तरता और प्रसार

इकाई की रूपरेखा

1.1.0 उद्देश्य कथन
1.1.1 प्रस्तावना
1.1.2 लोक वार्ता (FOLKLORE) और लोक-साहित्य
1.1.3 लोक वार्ता के तत्त्व और लोक मानस
1.1.4 लोक-साहित्य और संस्कृति
1.1.5 लोक-साहित्य में समान्तरता और प्रसार
1.1.6 'लोक' और 'शिष्ट' साहित्य का अन्तस्सम्बन्ध
1.1.7 लोक-साहित्य का प्रसार
1.1.8 पाठ-सार
1.1.9 बोध प्रश्न

1.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. 'लोक' शब्द का अर्थ, परिभाषा एवं लोक शब्द की परम्परा को समझ सकेंगे।
ii. लोक वार्ता और लोक-साहित्य के अन्तस्सम्बन्ध को समझ सकेंगे।
iii. लोक-साहित्य और संस्कृति से परिचित हो सकेंगे।
iv. लोक वार्ता के तत्त्व और लोक मानस के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
v. लोक-साहित्य में समान्तरता के विषय में परिचित हो सकेंगे।

1.1.1 प्रस्तावना

लोक-साहित्य की अवधारणा उतनी ही प्राचीन है जितना प्राचीन मानव का इतिहास है। धरती के इस छोर से उस छोर तक 'लोक' और उसके साहित्य की ही व्याप्ति है। मानव इतिहास के किसी भी साहित्य की 'लोक' संकल्पना मौलिक एवं सार्थक है इसलिए इस लोक की ओर निरखना वैसा ही है जैसे किसी एक महावृक्ष के ऊपरी पल्लव को देख नीचे की मूल (जड़) की ओर दृष्टि को टिका देना, यह प्रक्रिया सायास न होकर अति स्वाभाविक है। इस प्रक्रिया को मानव का प्रथम इतिहास कहा जा सकता है। 'लोक' अर्थात् 'The Root' अतः लोक-साहित्य की अवधारणा मानव-समाज की मूल (The Root) की अवधारणा है। लोक-साहित्य का अर्थवान् रचनाकार है स्वयं 'लोक'। लोक-साहित्य साधारणजन के हृदय के भावों की अभिव्यक्ति है। लोक-साहित्य के

निर्मल नीर में हम अनादिकाल से लेकर अब तक के समाज का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। लोक-साहित्य विराट् जनसमूहों की रचना है। युगानुकूल इन रचनाओं के कथ्य, शिल्प, शब्द, भाषा बदलते रहते हैं। लोक-साहित्य में लोक की श्वास होती है, स्पन्दन होता है, प्राण होता है। लोक-साहित्य जिन लोकाचार के माध्यम से पनपती है उसका साक्ष्य स्वयं लोक है। इसमें रचनाकार और श्रोता का या प्रेक्षक का वर्गभेद नहीं है, दोनों एकाकार हैं। शिष्ट साहित्य से लोक-साहित्य के इस मूलभूत अन्तर के कारण ही यह अपनी अलग पहचान बनती है। इसका रचनाकार नगर से दूर एकान्त का नहीं, अपने अंचल का ही होता है। अपने अंचल में गहरी पैठ रखने वाले ही इसके मर्म को समझते हैं और उस अंचल की जनसंवेदना के रचयिता होते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में प्रो० चाइल्ड किट्रेज, सिनविक गुमेर, लूसी पौंड आदि ने लोक-साहित्य को मनुष्य की आदिम अवस्था की अभिव्यक्ति माना है और इसे असंस्कृत समाज की अभिव्यक्ति कहा है। उन देशों में ही लोक-संस्कृति और लोक-सभ्यता जैसे शब्दों का जन्म हुआ जिसका ध्वन्यात्मक अर्थ गँवार तथा असंस्कृत समाज के लिए प्रयुक्त होने लगा।

लोक-साहित्य दो शब्दों से बना है – लोक और साहित्य। संस्कृत में लोक का अर्थ है देखनेवाला इसीलिए यह 'लोक' समूचे जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व करता है। ऋग्वेद में 'लोक' के लिए 'जन' शब्द का प्रयोग हुआ है अतः यह 'जनता' का अर्थ भी प्रदान करता है। यहाँ 'लोक' जीव और स्थान दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में 'ऐहिक' और 'दिव्य' दो लोक हैं। यही लोक व्याप्ति विराट् है। जैमिनीय उपनिषद में कहा गया है – यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। सायास भी इसे जानना सरल नहीं है। पाणिनि ने 'लौकिक', सार्वलौकिक' आदि शब्दों की निष्पत्ति की है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने 'नाटक' के सन्दर्भ में लोकधर्मी प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। 'महाभारत' के रचयिता अपने ग्रन्थ की विशेषता व्यक्त करते हुए 'लोक' शब्द को साधारण जन के अर्थ में प्रयुक्त करता है। भगवद्गीता में भी यही अर्थ ग्रहण किया गया है। तुलसी ने 'मानस' में 'लोक वेद' का प्रयोग कर इसकी पृथक् सत्ता मानी है। आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना को लोकधर्मी प्रतिपादित किया है। शब्दकोश में लोक के विभिन्न अर्थ मिलते हैं यथा – स्थान, संसार, प्रदेश, जन या लोग, समाज, प्राणी, यश आदि। पुराणों में लोक से आशय विशेष प्रकार के संसार के अर्थ में है यथा – भूलोक, भुर्वलोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक या ब्रह्मलोक। लोक से ही लोग बना है। साहित्य में 'लोक' विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' को परिभाषित करते हुए लिखा है – "लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग परिष्कृत, रुचिसम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जानेवाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उत्पन्न करते हैं।" आचार्य द्विवेदी की परिभाषा सार्वभौमिक, सार्वकालिक होने के साथ-साथ कई मिथकों को भी तोड़ती है। विशेषतः लोक सम्बन्धी पाश्चात्य मान्यताओं को।

लोक-साहित्य के अध्येता डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक' शब्द को परिभाषित करते हुए इसे आधुनिक सभ्यता से दूर अपने स्वाभाविक वातावरण में रहने वाला तथा कथित तौर पर अशिक्षित और असंस्कृतजन कहा है, जो विचार और जीवन परम्परा द्वारा अनुशाषित है। वस्तुतः लोक अपनी प्राचीन स्थिति में वर्तमान है। इन लोगों का साहित्य ही लोक-साहित्य है।

डॉ॰ श्याम परमार द्वारा प्रदत्त 'लोक' की परिभाषा महत्त्वपूर्ण है। उनका मानना है कि इस लोक में गीत, वार्ता तथा संगीत साहित्य है जिसमें जनसामान्य की पूर्व संचित परम्पराएँ, भावनाएँ, विश्वास एवं आदर्श संरक्षित हैं। इसमें भाषाई तथा साहित्यगत अनेक रत्न छिपे हैं। वेद और लोक की भिन्नता ने वेद की प्रतिष्ठा के साथ लोक के स्वतन्त्र महत्त्व को क्रमश: समादृत किया है। आज यह लोक वेदेतर संस्कृति के सीमित अर्थ से ऊपर उठ चुका है। यह वैदिक-अवैदिक दोनों क्षेत्रों को अपने नैसर्गिक स्वरूप में स्पर्श करने लगा है।

डॉ॰ श्रीराम शर्मा ने लोक को सभ्यता, साज-सज्जा, शिक्षा, परिष्कार आदि से पृथक् एक जनसमूह विशेष का वाचक शब्द कहा है जिसमें आदिम मनोवृत्तियों के अवशेषों की परिधि का समावेश है। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने लोक और ग्राम को समानार्थी माना है। Folk Song और ग्राम गीत समान हैं परन्तु लोक में अर्थ की व्यापकता है जो ग्राम में नहीं है। ग्राम शब्द एक संकुचित अर्थ का परिचायक है। जन शब्द का भी प्रयोग लोक के लिए किया गया है। जनप्रवाह और जनपद लोक से सम्बन्धित है। वेदों में सर्वसाधारण लोगों को जन कहा गया है। लोक की अपनी एक परम्परा है जो अपनी अभिव्यक्ति में सक्षम और पूर्ण है।

डॉ॰ श्याम परमार के अनुसार हिन्दी का 'लोक' शब्द Folk का पर्यायवाची है। यद्यपि हिन्दी में 'जन' या 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त होते हैं तथापि अपने सीमित क्षेत्र के कारण उन्हें लोक की व्यापकता के अनुरूप नहीं मानना चाहिए। 'जन' एक प्राचीन शब्द है। संस्कृत एवं पालि ग्रन्थों में मानव-समाज का बोध 'जन' से ही कराया गया है। इस दृष्टि से 'लोक' और 'जन' में पर्याप्त समानता है पर प्रयोग और परम्परा के प्रचार में आधुनिक हिन्दी की अनुरूपता के लिए लोक ही अधिक उपयुक्त एवं प्रतिबिम्बात्मक शब्द है। केवल इतना ही नहीं बल्कि पूर्व संस्कारों के कारण वह FOLK से कहीं अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करता है।

1.1.2 लोक वार्ता (FOLKLORE) और लोक-साहित्य

डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'हिन्दी लोर' का हिन्दी पर्यायवाची शब्द लोक वार्ता वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता शब्द के आधार पर किया है। यद्यपि अंग्रेजी में इसके सम्बन्ध में कहा गया है– Folklore means the traditions and facts related to a given subject like popular superstition, tales, traditions or legends. अर्थात् हिन्दी लोर किसी भी दिए हुए विषय सम्बन्धी रीति-रिवाज, तथ्य, लोकविश्वास, कथाएँ, धरोहर या विरासत को कहा जाता है। प्रत्येक शब्द की अपनी एक संस्कृति होती है और उसका अर्थ उसी संस्कृति की धरती की निष्पत्ति होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में देवेन्द्र सत्यार्थी ने ठीक ही लिखा है – "लोक वार्ता शब्द नया नहीं है परन्तु उसका वर्तमान प्रयोग अवश्य नया है।

लोक वार्ता शब्द अंग्रेजी के हिन्दी लोर से कहीं अधिक अर्थपूर्ण है। जनता जो कुछ युग-युग से कहती और सुनती आयी है अर्थात् मौखिक परम्परा की समूची सामग्री, वह सब लोक वार्ता के अन्तर्गत आ जाती है।"

मेक एडवर्ड लीच ने लिखा है कि – "लोक वार्ता एक संज्ञानात्मक शब्द है जो किसी भी एक जातीय कृत्रिमता विमुक्त जनसमूह के समग्र संचित ज्ञानभण्डार अर्थात् उसका रीति-रिवाज, लोकविश्वास, लोक परम्पराओं, लोक कथाओं, जादू-टोना की क्रियाओं, लोकोक्तियों, लोक गीत इत्यादि का परिचायक है जो कि न केवल उसे साधारण भौतिक बन्धनों से परस्पर आबद्ध करता है बल्कि जिसके बीच भावात्मक एकता के सूत्र भी हैं जो उनकी हर अभिव्यंजना को न केवल अपने रंग में अनुरंजित कर लेते हैं, बल्कि उन्हें निराली और निजी विशिष्टता ही प्रदान करते हैं।"

गाम्बे ने हिन्दी लोर को परिभाषित करते हुए कहा है – "लोक वार्ता के अन्तर्गत वह समस्त संस्कृति आ जाती है जो 'जन' से सम्बन्ध रखती है, जो शास्त्रीय धर्म तथा इतिहास में परिणत हो गई है और जो सर्वदा अपने आप बढ़ती रही है। सभ्य समाज में इस संस्कृति का प्रतिनिधित्व परम्परा से चले आते हुए अपरिमार्जित विश्वास तथा प्रथाएँ करती हैं।"

जर्मनी, फ्रांस, इटली आदि देशों में इसके जो समानार्थी शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं उनका अर्थ जनता का काव्य या जनता की परम्पराएँ होता है। रूसी भाषा में भी जनता की सर्जना को 'लोक वार्ता' कहा गया है।

लोक वार्ता का हिन्दी में सर्वप्रथम प्रयोग डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया था। उनका कहना है कि लोक वार्ता एक जीवन शास्त्र है। लोक का जितना जीवन है उतना ही लोक वार्ता का विस्तार है। लोक में बसने वाला जन, जन की भूमिका और भौतिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति। इन तीनों क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अन्तर्भाव होता है और लोक वार्ता का सम्बन्ध भी उन्हीं के साथ है। इस वक्तव्य के प्रथम आह्वान के साथ साहित्य के इस नवीन हवन कुण्ड में नित नई हविष्य-सामग्री तैयार होने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी है।

हिन्दी कोश में इसका अर्थ आध्यात्मिक संवाद है जबकि लोक वार्ता का अर्थ है 'जनस्वर'। ब्रजभाषा में इसे बुढ़िया पुराण कहते हैं।

1.1.3 लोक वार्ता के तत्त्व और लोक मानस

यदि लोक वार्ता किसी सम्पूर्ण समाज या जाति विशेष का जीवन शास्त्र है जिसमें लोक ज्ञान-भण्डार है और उसकी समूची विरासत है तो निश्चित रूप से लोक वार्ता के तत्त्व भी उस समाज के रीति-रिवाज, विश्वास-अन्धविश्वास, परम्पराएँ, मान्यताएँ, लोक गीत, लोक नाट्य, लोक कथा, लोक गाथा, भावात्मक एकता एवं व्यक्तिगत विशेषता आदि से प्रभावित होंगे। इन्हीं के आधार पर लोक वार्ता के तत्त्व – उस समाज विशेष के इतिहास, मानव-अवशेष एवं अभिव्यक्ति का अध्ययन करना आवश्यक है। लोक वार्ता, लोकविज्ञान, लोकचर्चा और लोक वाङ्मय वस्तुतः एक ही रूप हैं।

इस क्षेत्र में डॉ० वासुदेशरण अग्रवाल ने लोक वार्ता के अध्ययन को जनपदीय अध्ययन से जोड़ दिया है जिसके तीन प्रमुख घटक हैं – (1) भूमि और भूमि सम्बन्धित अध्ययन (2) भूमि पर रहने वालों का अध्ययन (3) उसके जनजीवन और जन संस्कृति का अध्ययन।

(1) भूमि का भौतिक अध्ययन : भूमि की मिट्टी, चट्टानें, उस पर बहने वाले झरने, वृक्ष-वनस्पतियाँ, औषधियाँ, पशु-पक्षी आदि।

(2) भूमि जन : उनकी जातीयता, रहन-सहन, रीति-रिवाज, गीत, नृत्य, उत्सव-मेले आदि का अध्ययन।

(3) जनसभ्यता और संस्कृति : जनता का इतिहास, उसका जीवन-दर्शन, भाषाई सूक्ष्म अध्ययन आदि लोक वार्ता के तत्त्व या स्वरूप हैं।

सोफियावर्न के अनुसार इसके निम्नलिखित तीन घटक हैं – (1) लोक-साहित्य (2) लोकजीवन के रीति-रिवाज (3) लोकप्रचलित विश्वास।

डॉ० श्याम परमार के अनुसार इसके निम्नलिखित घटक हैं – (1) लोक गीत, लोक-कथाएँ, कहावतें, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ आदि (2) रीति-रिवाज, त्योहार, पूजा, व्रत-अनुष्ठान आदि (3) जादू-टोना, टोटका, भूत-परत सम्बन्धी विश्वास (4) लोक नृत्य, लोक नाट्य, लोक गाथा आदि (5) बालकों सम्बन्धी गीत, खेल गीत आदि

डॉ० सत्येन्द्र ने भी लोक वार्ता के तत्त्व और लोक मानस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है – "लोक-साहित्य के अन्तर्गत वे समस्त बोलियाँ या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें (1) आदिमानव के अवशेष उपलब्ध हों, (2) परम्परागत मौखिक रूप से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो, जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समाई हो, (3) कृतित्व तो हो किन्तु वह लोक मानस के सामान्य तत्त्वों से युक्त हो ताकि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी लोक उसे अपने व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करें।"

1.1.4 लोक-साहित्य और संस्कृति

लोक-साहित्य में लोक-संस्कृतियों के अवशेष निहित रहते हैं। 'संस्कृति' शब्द का अर्थ है 'परिष्कार करना', 'संशोधन करना', 'श्रेष्ठ बनाना' आदि। अंग्रेजी में इसे 'कल्चर' कहते हैं जिसका अर्थ है 'सुधारना' या 'उत्पन्न करना'। जातीय संस्कारों की समष्टि का नाम ही संस्कृति है।

संसार के हर जाति की भाषा का स्वयं का एक लोक-साहित्य होता है जो मौखिक होता है। यह लोक-साहित्य एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को मौखिक परम्परा से ही प्रदान की जाती है। इसमें रचनाकार अज्ञात होता है। यह अभिव्यक्ति सहज और स्वाभाविक होने के साथ ही परिवर्तनशील भी होती है। यह लोक का हृदय पक्ष है जिसमें मूल्यवान् विचार भी हैं। इसमें लोक जनजीवन स्पन्दित होता है। इसमें बाल-शिशुओं की अल्हड़ नींद है,

तरुणियों की भाव लहरियाँ हैं, विरहणी की सिसकियाँ हैं, समाज की कुरीतियों पर करार प्रहार भी है, लोक-मनोरंजन है, समूह की वाणी है किन्तु आप्त वचन नहीं है। इसका प्रवाह झरने और वायु की तरह स्वच्छन्द होता है। बन्धन से इसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। शिष्ट और लोक-साहित्य में यह एक मौलिक अन्तर है। इसकी रचना को प्रत्येक जनसमूह अपना मानता है। भले ही किसी एक ने उसे रचा हो पर वह रचना भावाभिव्यक्ति के लिए सबका साधन बनती है। लोक-साहित्य रचना का प्रत्येक शब्द, लय, तुक, लहजा लोक का अपना है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार – "जो चीजें लोक-चित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्व साधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करते हैं, वे ही लोक-साहित्य, लोकशिल्प, लोक नाट्य, लोक कथानक आदि नामों से पुकारी जा सकती हैं।" वस्तुतः लोक-साहित्य रचनाकाल की सहजावस्था है जिसमें साधारणीकरण द्वारा रस निष्पत्ति के साथ-साथ विकारों के विरेचन का कार्य भी निष्पन्न होता है। मनचक्षु द्वारा चित्त से भाव-विभोर होकर अक्षर ज्ञान के बिना जो रच दिया गया, वह लोक-साहित्य है।

संस्कृति परिष्कृत आचरण से बनती है। आचरण में विकार आ जाने से वह संस्कृति नहीं रह जाती, रूढ़ि बन जाती है। रूढ़ियों को फेंककर जो नवीन वस्तु अपनायी जाती है वही समाजोपयोगी संस्कृति बनती है। इसी से संस्कारित होकर मनुष्य का निजी जीवन तथा सामाजिक जीवन प्रभावित होता है। इस संस्कृति से व्यष्टि या समष्टिरूप में मुक्ति पाना सम्भव नहीं है। किसी कारणवश यदि विपरीत परिवेश में इससे मुक्त हो भी जाएँ तब भी अनुकूल वातावरण मिलते ही यह फिर से उभर आती है। धर्म और संस्कृति दोनों में प्रायः यही संस्कार होता है। धर्म की व्यापकता के कारण ही वह समूचे समाज को अनुशासित करता है। धर्म व्यापक है क्योंकि धर्म देश व्यापक है और संस्कृति देश सापेक्ष है अतः लोक वार्ता (Folklore) और संस्कृति में कोई अन्तर नहीं माना जा सकता। हिन्दी लोर के लिए लोक-संस्कृति सटीक, उपयुक्त एवं समीचीन शब्द है। लोक संस्कृति 'हिन्दी लोर' के व्यापक और विस्तृत अर्थ को व्यक्त करने में सक्षम है। साथ ही यह शब्द अव्ययादि दोष से मुक्त है। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय दोनों में कोई अन्तर नहीं मानते। हिन्दी में लोक संस्कृति चिर-परिचित शब्द है। इसके उच्चारण मात्र से ही जनजीवन का चित्र, उनके संस्कृति की झाँकी आँखों के सामने उपस्थित हो जाती है इसलिए लोक वार्ता, लोकायन, लोकयान जैसे अपरिचित शब्दों का निर्माण कर उसे प्रचलित करना तर्कसंगत नहीं है। हिन्दी लोर और हिन्दी कल्चर दोनों एक दूसरे की सीमाओं को स्पर्श करती हैं।

'भारतीय लोक संस्कृति शोध-संस्थान' में अखिल भारतीय लोक संस्कृति सम्मेलन के विद्वानों ने भी हिन्दी लोर के लिए लोक संस्कृति शब्द का ही प्रयोग किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी यही सुझाव है। डॉ० उपाध्याय ने लिखा है कि हिन्दी में 'लोक वार्ता' शब्द ने जो अव्यवस्था और गड़बड़ी पैदा कर दी है वह लोक संस्कृति शब्द के प्रयोग से सदा के लिए नष्ट हो जाएगी तथा लोक-साहित्य एवं लोक संस्कृति के पर्याय को सरलता से समझा जा सकेगा।

संस्कृत में सम्यक् कृति ही 'संस्कृति' है, वही सम्भूय कृति भी है। मनुष्य की व्यक्तिश: कृति ही सामूहिक रूप से करने पर 'सम्भूय कृति' बन जाती है। अज्ञेय कहते हैं – "यह दीप अकेला मदमाता, इसको भी पंक्ति को दे

दो ।" जब व्यक्ति और समूह दोनों जिस समय सम्यक् कृति होते हैं, वह मानव को अति विशिष्ट मानव बना देते हैं और संस्कृति शब्द अतिव्यापक अवधारणा का परिचायक हो जाता है, जिसमें समस्त धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, कला, सामाजिक और राजनैतिक प्रथा तथा संस्थाएँ आ जाती हैं लेकिन यही संस्कृति शब्द जब लोकविशेषण बन जाता है तो इसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से लोकजीवन से हो जाता है और यह उस सभ्य और शिष्ट समाज का बोध कराती है जो कृत्रिमता, साज-सज्जा रहित सीधी-सादी, सामान्य, सरल जीवन जीने को अभ्यस्त होती है। इतना ही नहीं, संगीत और वाद्य के साथ झंकृत होकर जब जीवन अगणित तरंगों में बहा और अगणितकण्ठों से स्वर फूटा, वह सब आत्मप्रकाश प्रदायनी समष्टिगत रूप में 'लोक संस्कृति' है। एक और बात ध्यातव्य है कि 'लोक संस्कृति' शब्द अतिगाम्भीर्य अर्थ वाला है। ऐसे में लोक वार्ता का सटीक शब्द 'लोक मुखरित स्वर' ही है। जहाँ लोक वार्ता एकांगी अर्थ व्यक्त करता है वहीं 'लोक मुखरित स्वर' समुच्चयबोधक लगता है। शिष्ट साहित्य जब स्वयं में शुष्ट लगने लगता है तो उसे वापस लौटकर अपने 'लोक स्रोत' के पास आना ही पड़ता है अतः लोक संस्कृति में लोक और उसके भौतिक वातावरण से पुष्ट परिवर्धित विचार है और किसी भी देश की यह मौलिक धरोहर भी है। बाबू गुलाबराय ने शिष्ट और लोक संस्कृति पर ठीक ही लिखा है – "बात सोलह आना ऐसी नहीं है जिस सभ्यता का आधार संस्कृति में नहीं है, वह सभ्यता सभ्यता नहीं है। संस्कृति की आत्मा के बिना सभ्यता का शरीर शव की भाँति निष्प्राण रहता है।" विनय और शील के बिना कटी-छटी पोशाक, सुसज्जित बंगले, क्रीम, सेंट और पाउडर मनुष्य को सभ्य नहीं बना सकते। अर्थात् विनयशील त्याग, धैर्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, सत्य आदि शिष्टाचार ही शिष्ट संस्कृति है।

1.1.5 लोक-साहित्य में समान्तरता और प्रसार

लोक ज्ञान, बौद्धिक चेतना, सुसंस्कृत तथा बौद्धिक चेतना वाले मनुष्यों काएक ऐसा समुदाय है जो मानव की आदिम वृत्तियों तथा मान्यताओं की धारा से बहता हुआ नैसर्गिक जीवन जीने में विश्वास रखता है। जिन तत्त्वों के माध्यम से यह लोक अपनी अभिव्यक्ति करता है वह लोक तत्त्व है। यही लोक तत्त्व जिस शब्द-विधान, वाणी-विधान द्वारा व्यक्त होता है और जिसमें लोक मानस की व्याप्ति होती है वह लोक-साहित्य है।

वह साहित्य जिसका सरोकार सहजता, अकृत्रिमता, अनायास रूप से, समूहबद्धता और भाव-प्रवणता से है वह लोक-साहित्य है और जिसका सरोकार सचेष्ट, सोद्देश्य, व्यष्टिनिष्ठ, विचारोत्तेजक, पर व्यक्ति द्वारा रचा जाता है वह जन साहित्य है। एक का रचयिता जनता द्वारा, जनता के लिए है तो दूसरे का रचयिता व्यक्ति है पर वह भी रचता जनता के लिए ही है। डॉ० नामवर सिंह लिखते हैं– "लोक-साहित्य जहाँ जनता के लिए जनता द्वारा रचित साहित्य है, वहाँ जन साहित्य जनता के लिए व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है। अर्थात् वह रचनाकार जिसकी रचित कृति लोकमय ही हो जाती है, जिसे ढूँढ़ना कठिन है, वह लोक-साहित्य है जो माटी की सौंधी सुगन्धयुक्त है। जबकि जन साहित्यकार अपनी रचना के पीछे सचेष्ट रहता है जिसमें उसकी निजता भी रहती है और अपनी रचना के प्रति गौरव का भाव भी रहता है।" इन दोनों रचनाकारों की समान्तरता को निम्नलिखित बिन्दुओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है –

लोक-साहित्य	:	**जनसाहित्य**
सहज स्वाभाविक	:	सचेष्ट, सोद्देश्य
व्यापक	:	क्षेत्रीय
समष्टिनिष्ठ	:	व्यक्तिनिष्ठ
सहज कला-विधान	:	अनुशासित रीतिबद्ध
सहज स्फूर्त गेयता	:	संविधानमय गेयता
पूर्णरूपेण मुखरित स्वर	:	लिखित

लोक-साहित्य की विशेषताएँ इस प्रकार हैं –

1. रचयिता अज्ञात होता है।
2. मौखिक परम्परा होती है और पीढ़ी परम्परा से सुरक्षित होती है।
3. भाषा लोक-भाषा होती है। वह सहज एवं अकृत्रिम होती है। वह किसी भाषा-सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं बँधती।
4. लोक-रचनाकार का व्यक्तित्व लोक में समाहित हो जाता है।
5. लोकानुभूतियों का संग्रह होता है। जैसे लोकजीवन की अनुभूतियाँ, दुःख-सुख, लोकविश्वास, रीति-रिवाज की अभिव्यक्ति आदि।
6. लोक-साहित्य में आंचलिकता की झलक विद्यमान रहती है।

शिष्ट साहित्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

1. रचनाकार ज्ञात होता है।
2. लिखित होता है, वंश परम्परा नहीं होती।
3. भाषा व्याकरणसम्मत, सुसंस्कृतऔर परिनिष्ठित होती है। साहित्यशास्त्रों का पालन होता है।
4. रचनाकार का व्यक्तित्व मिला रहता है। उसका नाम होता है।
5. शिष्ट साहित्य लोक मानस, सुसंस्कृत परिष्कृत अनुभूतियों को ग्रहण करता है और साहित्यकार के साँचे में ढलता है।
6. शिष्ट साहित्य की आंचलिकता भी सार्वभौम बन जाती है।

1.1.6 ‘लोक’ और ‘शिष्ट’ साहित्य का अन्तस्सम्बन्ध

लोक-साहित्य ने शिष्ट साहित्य को पृष्ठभूमि दी है जिसके आधार पर यह पल्लवित और पुष्पित हुआ है। आज जो शिष्ट साहित्य है उसे ऊर्जा लोक-साहित्य से ही प्राप्त हुई है। लोक के मूल पर ही शिष्ट साहित्य का निर्माण होता है। लोक-साहित्य के अनेक कथानक शिष्ट साहित्य की श्रेणी में आ चुके हैं। डॉ॰ सच्चिदानन्द तिवारी ‘आधुनिक हिन्दी कविता में गीति’ नामक ग्रन्थ में स्वीकार किया है कि कालान्तर में कला के सहयोग से

यही लोक गीत साहित्यिक गीत बन गए। इनमें कवि-रुचि प्रधान होने लगी फिर भी इनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ रहीं जो इनके आदिम सामाजिक स्वरूप की ओर संकेत करती हैं। इनके आकार और संस्कार बहुत दिनों तक लोक-गीतों के समान ही बने रहे। इस प्रकार चिन्तन-मनन के परिणामस्वरूप निम्नलिखित तत्त्व दोनों साहित्य में समान रूप से पाए जाते हैं –

1. लोक-साहित्य में पशु-पक्षी बोलते दिखाई देते हैं और मानव जैसा व्यवहार करते हैं। रामचरितमानस में भी हनुमान, जटायु, मृग आदि ऐसा ही व्यवहार करते हैं। शकुन्तला की विदाई की वेला में जीव-जन्तु, पशु-पक्षी सभी मनुष्य की भाँति दुःख से व्याप्त हो जाते हैं। पद्मावत में हीरामन तोता अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की बातें बताता है। मध्यकालीन साहित्य में पशु-पक्षियों द्वारा मानव वाणी और मानव आचरण दिखाया गया है।
2. लोकोक्तियाँ और मुहावरे शिष्ट साहित्य में लोक-साहित्य से सीधे ही आया है।
3. लोक गाथा और लोक कथा में जो रूढ़ियाँ मिलती हैं, जो कथा को गति देने में अधिक सहायक होती हैं वही रूढ़ियाँ शिष्ट साहित्य में भी विद्यमान हैं।
4. शिष्ट भाषा को शब्द भण्डार के लिए लोक-भाषा की सहायता लेनी पड़ती है। छन्द, अलंकार और रस का परिपाक दोनों में समान रूप से होता है।
5. जीवन की अनुभूतियों का क्षेत्र दोनों में समान है। डॉ॰ श्रीराम शर्मा की मान्यता है – "गेय मुक्तकों की परम्परा पर विचार करें तो विद्यापति से लेकर सन्त कवियों की वाणियों और यहाँ तक की कृष्णभक्त कवियों द्वारा रचित पद्य साहित्य को दूसरे शब्दों में लोक-साहित्य भी कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। वही स्वच्छन्दता, वही आह्लाद, वही सहजता, वही लोक मानस की अकृत्रिम अनुभूति – सब कुछ लोक-साहित्य जैसा ही तो है। तब शिष्ट साहित्य और लोक-साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध मानने में क्या आपत्ति हो सकती है !"

1.1.7 लोक-साहित्य का प्रसार

लोक-साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विशाल है। लोक-अनुभूतियों की व्यापकता और अभिव्यक्तियाँ ही लोक-साहित्य है। जीवन की सभी क्रियाएँ इस क्षेत्र में समाहित हैं। डॉ॰ कुन्दनलाल उप्रेती ने लिखा है – "एक समय था जब जनता की सरलता, स्वभाविकता तथा स्वच्छन्दता से यह साहित्य विभूषित रहता था। वह साहित्य उतना ही स्वाभाविक था जितना जंगल का फूल, उतना ही स्वच्छन्द था जितना आकाश में विचरने वाली चिड़ियाँ, उतना ही सरल एवं पवित्र था जितनी गंगा की निर्मल धारा। उस समय के साहित्य का जो अंश आज अवशिष्ट रह गया है, वही हमें लोक-साहित्य के रूप में उपलब्ध होता है।"

इन रचनाओं में लोक-गीतों की प्रमुखता है। लोक गीत छोटे भी होते हैं और बड़े भी। बड़े गीतों को लोक गाथा या लोक कथा कहते हैं। आदिकाल के वीरगाथाओं में भरपूर लोक तत्त्व विद्यमान है। राहुल सांकृत्यायन का यह अभिमत समीचीन प्रतीत होता है – "सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली, अपनी सहजावस्था में वर्तमान में जो

निरक्षर जनता है उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में होती है उसे लोक-साहित्य कहते हैं।" (हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ 15-16) अतः सामाजिक, पारिवारिक, ऋतु सम्बन्धी, श्रम सम्बन्धी, कृषि सम्बन्धी गीतों के अतिरिक्त, राजनीति एवं राष्ट्रीय चेतना से परिपूर्ण गीत भी लोक-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इसके अतिरिक्त नानी, दादी, काकी की कहानियाँ, माताओं की लोरियाँ, भूत भागने के लिए पचरा (देवी गीत) लोगों के मनोरंजन के लिए नौटंकी, बहुरूपिया-स्वांग, रामलीला, रासलीला आदि का आयोजन एवं रोजमर्रा के प्रयोग में आने वाली कहावतें, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, खेल गीत आदि लोक-साहित्य की धरोहर हैं, अमूल्य पूँजी हैं।

1.1.8 पाठ-सार

'लोक' की अवधारणा ही लोक-साहित्य के रूप में उसकी अभिव्यक्ति है। लोक-साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है जिसे सम्पूर्ण लोक समूह अपना मानता है। लोक-साहित्य मौखिक परम्परा से विकासशील परम्परा में रहता है। उसकी शैली सहज अलंकृत होती है। उसका रचनाकार एवं रचनाकाल अज्ञात होता है। लोक-साहित्य का प्रचार नहीं किया जाता। वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चलता रहता है। लोक-साहित्य में धार्मिक आग्रह नहीं होता। वह जनसामान्य के लिए होता है, उसमें सहिष्णुता होती है।

लोक-साहित्य लोक मानस की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। लोक-साहित्य अलिखित साहित्य है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकसित होता रहता है। यह शिष्ट साहित्य से भिन्न होता है। लोक-साहित्य की भाषा अपरिमार्जित होती है। लोक-साहित्य लोक मानस की अकृत्रिम अभिव्यक्ति होती है। लोक-साहित्य में सभी धर्म सम्प्रदायों के प्रति संवेदना, सहिष्णुता विद्यमान रहती है। लोक-साहित्य का कार्य इसका संग्रह या संकलन करना मात्र नहीं है अपितु आदिकाल से अनवरत प्रवहमान मानव जीवन की यात्रा, उसका विकास, उसका पतन और उनके कारणों की खोज-शोध एवं अध्ययन करने का कार्य है।

1.1.9 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. लोक-साहित्य परम्परा है –

(क) लिखित
(ख) मौलिक
(ग) मौखिक
(घ) साहित्यिक

2. लोक-साहित्य की भाषा है –

(क) साहित्यिक
(ख) परिमार्जित
(ग) शिष्ट
(घ) अपरिमार्जित

3. लोक वार्ता का अर्थ है –

(क) लोक गीत
(ख) लोक कथा
(ग) लोकायन
(घ) लोक संस्कृति

4. लोक-साहित्य का प्रसार होता है –

(क) लिखित रूप में
(ख) पीढ़ी-दर-पीढ़ी रूप में
(ग) लोक गाथा में
(घ) लोक कथा में

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लोक क्या है ?
2. लोक वार्ता किसे कहते हैं ?
3. लोक मानस का क्या अर्थ है ?
4. लोक-साहित्य को परिभाषित कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोक-वार्ता को परिभाषित करते हुए उसके क्षेत्र का विस्तार लिखिए।
2. लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य में अन्तर एवं समानताएँ स्पष्ट कीजिए।
3. लोक-साहित्य और लोक वार्ता का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके तत्त्वों का वर्णन कीजिए।
4. लोक-साहित्य सम्बन्धी कार्यों के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

❖❖❖

खण्ड – 1 : लोक-साहित्य : अवधारणा एवं स्वरूप

इकाई – 2 : भारत में लोक-साहित्य के अध्ययन का इतिहास, हिन्दी लोक-साहित्य के विशिष्ट अध्येता, लोक-साहित्य की अध्ययन-प्रक्रिया, लोक-साहित्य संकलन

इकाई की रूपरेखा

1.2.0 उद्देश्य कथन
1.2.1 प्रस्तावना
1.2.2 भारत में लोक-साहित्य के अध्ययन का विकास
1.2.2.1 राजस्थान
1.2.2.2 पंजाब
1.2.2.3 मध्यप्रदेश
1.2.2.4 बंगाल
1.2.2.5 कश्मीर
1.2.2.6 दक्षिण भारत
1.2.2.7 भोजपुरी
1.2.3 हिन्दी लोक-साहित्य के विशिष्ट अध्येता
1.2.4 लोक-साहित्य की अध्ययन-प्रक्रिया
1.2.5 लोक-साहित्य संग्रह की कठिनाइयाँ
1.2.6 पाठ-सार
1.2.7 बोध प्रश्न

1.2.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. लोक-साहित्य के अध्ययन का इतिहास जान सकेंगे।
ii. हिन्दी लोक-साहित्य के विशिष्ट अध्येताओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
iii. लोक-साहित्य के अध्ययन की प्रक्रिया से परिचित हो सकेंगे।
iv. लोक-साहित्य के संकलन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.2.1 प्रस्तावना

वर्तमान में उपलब्ध लोक-साहित्य का अपना एक इतिहास है। अनेक विद्वानों के जीवनपर्यन्त अध्ययन और अनुसन्धान के परिणामस्वरूप ही आज हिन्दी लोक-साहित्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण अध्ययन सामग्री उपलब्ध

है। इस सामग्री के अध्ययन या संकलन की प्रक्रिया किसी ग्रन्थालय की देन नहीं अपितु सुधीजनों के अथक परिश्रम और लगन का प्रतिफल है।

ज्ञान और ज्ञानी की कोई भौगोलिक सीमा नहीं होती। लोक-साहित्य की रचना का इतिहास तो आदिम इतिहास है परन्तु अध्ययन की प्रक्रिया तो तब शुरू हुई होगी जब पढ़े-लिखे मानव को इस अप्रतिम लोक-साहित्य ने अपनी ओर आकर्षित किया होगा। हर देश और जाति की भाषा का अपना एक लोक-साहित्य होता है। यह मौखिक रूप में ही सुलभ होता है। लोक-साहित्य की परम्परा मौखिक रूप से ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती है। यह लोकव्यापी है और इसका रचयिता अज्ञात होता है। इस प्रगतिशील परम्परा के कारण बहुत-कुछ पीछे छूट जाता है और बहुत-कुछ नया जुड़ भी जाता है। यह लोक का वह गीत है जिसमें लोगों का दुःख-सुख, हास-परिहास-विलास अँगड़ाई लेता रहता है। यह शुद्ध प्राणवायु की तरह स्वच्छन्द होता है।

लोक हृदय से सीधे उत्पन्न होकर विभिन्न रुख धारण कर जैसे लोक-शिल्प, लोक नाट्य, लोक कथानक को समुच्चय बोध में लोक-साहित्य कहा जाता है। यह मानव की आदिम सभ्यता की सहजावस्था है जिसमें आदिम मानव के अवशेष उपलब्ध होते हैं। मौखिक परम्परा प्रगतिशील होती है। उसकी अभिव्यक्ति में व्यष्टि की छाप न होकर समष्टि का योगदान निहित होता है। यह श्रुति रूप में पनपती है। इसके कृतित्व में लोक-मानस के सामान्य तत्त्वों का समावेश होता है। लोक-साहित्य में निम्नलिखित विशिष्टताएँ होती हैं –

1. वह मौखिक परम्परा से विकसनशील प्रक्रिया में रहता है।
2. उसकी शैली अलंकृत होती है।
3. उसका रचयिता और रचनाकाल अज्ञात होता है।
4. लोक-साहित्य प्रचार अथवा उपदेश की प्रवृत्ति से दूर रहता है।
5. सभी धर्म सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता निहित होती है।

लोक-साहित्य की व्यापकता अत्यन्त विस्तृत है। यह जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी की सम्मिलित धरोहर है। इस साहित्य के क्षेत्र में समाज से जुड़ी चीजों के अतिरिक्त शासन, देश की चेतना आदि आते हैं। गाँव में सर्दियों में अनुभवी लोग कउड़ा पर (आग तापते हुए) किस्से-कहानियाँ सुनाते हैं। छोटे बच्चे अपनी काकी, दादी, नानी आदि से लोरियाँ और कहानियाँ सुनते हैं। ओजा-सोखा शक्ति-आराधना में पचरा (देवी गीत) गाते हैं। सर्वसाधारण का मनोरंजन करने वाली नौटंकी सर्वविदित है। देश भर में स्वांग लोक नृत्य, रासलीला, चरित्र-अभिनय (हरिश्चन्द्र आदि) नित्य के व्यवहार में उपयोग में आने वाली कहावतें, मुहावरे आदि लोक-साहित्य के जीवन्त एवं व्यापक क्षेत्र को परिभाषित करते हैं।

1.2.2 भारत में लोक-साहित्य के अध्ययन का विकास

भारत में अंग्रेजों का शासन सर्वाधिक समय तक रहा। यद्यपि वे प्रशासनिक कार्यवश यहाँ आए थे लेकिन उनमें से कतिपय अंग्रेजों की अभिरुचि भारत की सांस्कृतिक विरासत की ओर आकर्षित हो गई। इस दिशा में

अंग्रेज अधिकारियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। ईसाई मिशनरियों ने भी अपने अभियान को सफल बनाने के लिए यहाँ की संस्कृति और साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वे भारत की ग्रामीण संस्कृति मेलों, त्योहारों, विवाह आदि रीति-रिवाजों की ओर आकर्षित हुए। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने अध्ययन की जानकारी को क्षमतानुसार लिपिबद्ध भी किया। इन्हीं अध्येताओं के समानान्तर भारतीय विद्वानों ने भी इस दिशा में अपने प्रयत्न प्रारम्भ किए। यह निर्विवाद है कि भारत में लोक-साहित्य में अनुसन्धान, संकलन एवं अध्ययन का कार्य सर्वप्रथम विदेशी अध्ययनकर्त्ताओं द्वारा ही प्रारम्भ हुआ। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा सम्पन्न कार्य का प्रारम्भ यद्यपि कर्नल टॉड द्वारा मान्य है तथापि सन् 1784 में ही इसकी आधारशिला 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल' के द्वारा रखी जा चुकी थी।

1.2.2.1 राजस्थान

कर्नल जेम्स टॉड राजस्थान में अनेक रियासतों में रेजिमेंट के पदों पर आसीन रहे। राजपूतों की वीरता और उनके अदम्य साहस और राजस्थान की शौर्य-गाथाओं से वे बहुत प्रभावित हुए। राजस्थान की लोक-संस्कृति को निकटता से देखने का अवसर उन्हें मिला। कर्नल टॉड पहले ऐसे अंग्रेज अधिकारी बने जिनके द्वारा भारतवर्ष में साहित्य-अध्ययन-कार्य प्रारम्भ हुआ। कर्नल टॉड ने इससे सन्दर्भित एक ग्रन्थ 'एनल्स ऐंड ऐंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान' (ऑक्सफोर्ड संस्करण) लिखा। इसमें राजस्थान की वीरगाथाएँ, लोगों का रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान और धार्मिक अनुष्ठान एवं आचरणों पर बृहत् रूप से प्रकाश डाला गया। इतालवी विद्वान् एल. पी. टैसीटोरी ने राजस्थान की डिंगल भाषा और लोक-साहित्य का अध्ययन किया। उन्होंने अपने अध्ययन को लेख रूप में 'इंडियन एंटिक्वेरी' नामक पत्रिका में प्रकाशित किया। राजस्थान में प्रचलित चारण गीतों के संकलन का श्रेय टैसीटोरी को ही प्राप्त है।

1.2.2.2 पंजाब

अंग्रेज सिविलियनों एवं ईसाई मिशनरियों ने उन्नीसवींशताब्दी के छठे दशक में पंजाब की लोक-संस्कृति एवं लोक वार्ताओं के प्रति अपनी रुचि दिखाई। श्री स्विनर्टन ने पंजाब की वीरतापूर्ण एवं शृंगारी कथाओं का संग्रह 'रोमांटिक टेल्स ऑफ़ द पंजाब' नामक ग्रन्थ में किया। इन्होंने ही पंजाब में राजा रसालू की लोकप्रिय गाथा का प्रथम संकलन किया। सन् 1854 में 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' का मुख्य पत्र प्रकाशित हुआ जिसमें पंजाब सम्बन्धी लोक गाथाओं पर लिखा लेख जे. एबल प्रकाशित हुआ। इनके अलावा सी. एफ. ओसबर्न ने पंजाबी लोक-गीतों तथा लोकोक्तियों का संग्रह 'पंजाबी लिरिक्स एंड प्रोवर्ब्स' नामक ग्रन्थ में किया। पंजाब की लोक-कथाओं का संग्रह अपनी पुस्तक 'द टेल्स ऑफ़ पंजाब' में एफ. ए. स्टील ने किया। आर. सी. टेंपुल्स ने सन् 1884 में 'लीजेंट्स ऑफ़ पंजाब' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया।

1.2.2.3 मध्यप्रदेश

ईसाई पादरी रेवरेंड हिल्पस ने मध्यप्रदेश के आदिवासियों के बीच रहकर उनसे जुड़ी लोक वार्ताओं के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सन् 1866 में सर रिचर्ड टेंपुल्स द्वारा वनों में निवसित जातियों की लोक वार्ता और लोक-साहित्य का अध्ययन प्रकाशित हुआ।

1.2.2.4 बंगाल

डाल्टन ने बंगाल में विभिन्न जातियों से सम्बन्धित तरह-तरह की सामग्री एकत्रित की। इस समूची सामग्री का प्रकाशन 'डिस्क्रीपटीव एंथोलोजी ऑफ़ बंगाल' नामक ग्रन्थ में हुआ। अन्य अंग्रेज विद्वानों में जी. एन. डेमेंट ने 'बंगाली हिन्दी लोर फ्रॉम दिनाजपुर' में वहाँ की लोक कथाओं का संकलन किया तथा 'इंडियन एन्तिक्वेटी' में उनके लोक-साहित्य सम्बन्धी अनेक लेख भी प्रकाशित हुए। इसी पत्रिका में एफ. टी. काक का 'द राजमहल हिल्समैन सौंग्स' शीर्षक से सन् 1876 में निबन्ध प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष बंगाली लोक गाथाओं का संग्रह भी प्रकाशित हुआ जिसके संग्रहकर्त्ता जी. एच. डेमेंट थे।

1.2.2.5 कश्मीर

सर ओरेल स्टाइन ने कश्मीरी लोक-कथाओं का संकलन किया।

1.2.2.6 दक्षिण भारत

'इंडियन एंटीक्वेटीं' पत्रिका में आर. सी. कैंपबेल का निबन्ध 'तमिल पॉपुलर पोईटी' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। अंग्रेज महिला मिस फायर ने दक्षिणी लोक-कथाओं का संग्रह एवं अध्ययन 'ओल्ड दकिन डेज' में प्रकाशित किया। चार्ल्स इ. ग्रोवर ने दक्षिण भारत के लोक-गीतों पर 'हिन्दी सोंग्स ऑफ़ सदर्न इंडिया' नामक पुस्तक का सम्पादन किया। इस पुस्तक में तमिल, कन्नड़, कुर्ग, तेलगु, मलयालम लोक-गीतों का संग्रह है। आर. सी. टेंपुल्स के सहयोग से श्रीमती स्टील ने 'वाइड अवेक स्टोरीज' नामक पुस्तक में उस समय तक की उपलब्ध सभी कथाओं का एक अध्ययन प्रस्तुत किया। जे. रॉबिन्स ने 'टेल्स एंड पोयम्स ऑफ़ साउथ इंडिया' ग्रन्थ में दक्षिण भारत के लोक-गीतों एवं लोक-कथाओं पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया जिसमें विशेष टिप्पणियों के साथ अनुवाद भी दिया गया है। सन् 1906 में थर्सटन की 'एक्नोग्राफिक नोट्स इन सदर्न इंडिया' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें दक्षिण के लोक-साहित्य का विशद् वर्णन है। थर्स्टन ने ही सन् 1912 में 'आमिन्स एंड सुपरस्टिशन ऑफ़ सदर्न इंडिया' पुस्तक प्रकाशित की। इसमें जादू-टोना, अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

1.2.2.7 भोजपुरी

सर ग्रियर्सन द्वारा सन् 1886 में 'सम भोजपुरी हिन्दी सोंग्स' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें वहाँ की प्रचलित लोक-विधाएँ, बिरहा, जंतसार और सोहर नामक लोक-गीतों का संकलन है। मूल पाठ के साथ ही इसमें अंग्रेजी अनुवाद भी है। जी. एच. डेमेंट ने अपनी पत्रिका 'इंडियन एंटिक्वेरी' में लोक-साहित्य सम्बन्धी सन् 1871 में कई लेख लिखे। सन् 1905 में उराँव लोगों के 200 लोक-गीतों का संग्रह 'कुरुख हिन्दी लोर इन ओरिजिनल' नाम से ऑफ़ हान द्वारा प्रकाशित हुआ। सन् 1907 में डब्लू. टी. डेम्स की 'पॉपुलर पोएट्री ऑफ़ विलोचीस' पुस्तक प्रकाश में आयी जिसमें प्रेमगीत, वीरगाथा और पहेलियों का संग्रह किया गया है। विलियम क्रुक ने सन् 1891 में 'कोस्ट्रस एंड ट्राइब्स ऑफ़ नार्थ वेस्ट प्रोविंसेज' तथा 'पॉपुलर रिलिजन एंड हिन्दीलोर ऑफ़ नॉरदर्न इंडिया' जैसी पुस्तकें लिखीं। सन् 1920 तक भारतीय लोक-साहित्य सम्बन्धी कार्य विदेशी विद्वानों द्वारा किया गया।

भारतीय विद्वानों में सन् 1882 में तारादत्त की पुस्तक 'एशियाटिक बैलेड्स एंड लीजेंड ऑफ़ हिंदुस्तान' प्रकाशित हुई। इसमें भारतीय लोक वार्ता के संग्रह हैं। सन् 1883 में लाल बिहारी द्वारा संगृहीत 'हिन्दी टेल्स ऑफ़ बंगाल' बंगाली लोक कथाओं का प्रकाशन हुआ। श्री डे ने 'बंगाल पीजेंट लाइफ' लिखा जो वहाँ के किसानों पर महत्त्वपूर्ण रचना है। सन् 1885 में महेश शास्त्री का 'हिन्दी लोर इन सदर्न इंडिया' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

भारत में 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेज अधिकारियों द्वारा साहित्य के अध्ययन का श्रीगणेश हो चुका था। कुछ समय बाद ईसाई पादरियों ने यह कार्य किया। अंग्रेजों ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसमें उनकी गुणग्राह्यता एवं दूरदर्शिता दोनों विद्यमान थी।

सर ओरेल ने कश्मीरी लोक कथाओं का संकलन किया। डाल्टन, जी. एच. डेमेंट ने बंगाल की विभिन्न जातियों से सम्बन्धित लोक वार्ता का संग्रह किया। एफ. टी. काक ने पहाड़ी लोक-गीतों का संकलन किया। मिस फायर, चार्ल्स ई. ग्रोवर तथा आर. सी. टेंपुल्स ने दक्षिण भारत में प्रचलित लोक कथाओं, लोक गाथाओं एवं लोक-गीतों का अध्ययन किया।

भारतीय लोक-साहित्य से सम्बन्धित कार्य करने वालों में जार्ज ग्रियर्सन सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। 'लिंगविस्टिक सर्वे ऑफ़ इंडिया' इनकी अमर रचना है। वे भाषाविद् थे। लोक-गीतों के महत्त्व को समझते हुए उन्होंने इस दिशा में प्रेरणाप्रद कार्य किया। वे रॉयल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका से जुड़े हुए थे। इन्होंने बिहारी और भोजपुरी लोक-गीतों का संकलन अंग्रेजी में अनुवाद और विशेष टीका-टिप्पणी के साथ प्रस्तुत किया। गोपीचंद की ऐतिहासिकता सिद्ध की तथा गोपीचंद के गीतों से सम्बन्धित पाठों को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया। इन्होंने आल्हाखण्ड से सम्बन्धित अनेक भ्रान्तियों को दूर किया। इनके उल्लेखनीय कार्यों में 'सम बिहारी हिन्दी सांग्स हिन्दी लोर फ्रॉम इस्टर्न गोरखपुर', 'टू वर्जन्स ऑफ़ दि स्टोरी ऑफ़ गोपीचंद', 'सांग्स ऑफ़ विजयमाल', 'दि सांग्स ऑफ़ आल्हाज़ मैरिज', 'अ समरी ऑफ़ द आल्हाखण्ड', 'सेलेक्टेड स्पेसिमेंस ऑफ़

बिहारी लैंग्वेजस', 'द भोजपुरी डाईलेक्ट', 'द गीत नैकब बंजारा', 'द पॉपुलर लिटरेचर ऑफ़ नार्दन इंडिया', 'द सांग्स ऑफ़ मानिकचंद'। इनके अलावा 'बिहारी पीजेंट्स लाइफ' ग्रन्थ में ग्रामीण पारिभाषिक शब्दावली का भी संग्रह किया गया है।

विलियम क्रुक ने भारतीय लोक-साहित्य का अध्ययन वैज्ञानिक रीति से किया। इन्होंने सन् 1896 में 'एन इंट्रोडक्शन टू द पॉपुलर रिलिजन एंड हिन्दी लोर ऑफ़ नार्दन इंडिया' ग्रन्थ लिखा। सन् 1891 में इन्होंने 'नार्थ इंडियन नोट्स एंड क्वेरिज' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। इन्होंने उत्तरप्रदेश की विभिन्न जातियों से सम्बन्धित 'ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ़ नार्थ वेस्टर्न प्रोविंस' नामक पुस्तक लिखी। इनके द्वारा प्रणीत दोनों ही ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं। विलियम क्रुक की प्रेरणा से पण्डित रामगरीब चौबे इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए अग्रसर हुए। इन्होंने उत्तरप्रदेश के लोक-गीतों का संग्रह किया जिसे सन् 1893 में 'नार्थ इंडियन नोट्स एंड क्वेरीज़' में प्रकाशित किया गया। इनके हरदौल गीत, कोयल गीत, शिशु गीत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

जे. डी. एंडरसन ने 1891 में 'सम सांग्स ऑफ़ द पोर्चुगीज इंडियन' शीर्षक से लेख लिखा जिसमें गोवा निवासी भारतीयों के लोक-गीतों का संकलन है।

लोक-साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने वालों में स्विनर्टन, एफ. हान. थर्स्टन, डब्लू. टी. डेम्स, ई. स्टैक, सी. एच. वोयस, सैलिगमन आदि हैं। सी. ए. बंथ की 'फेथ्स, फेयर्स एंड फेस्टिवल्स ऑफ़ इंडिया' विशेष पुस्तकें हैं जिसमें लोक-साहित्य एवं लोक-संस्कृति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित हुई है। सन्1918 में बिहार सरकार ने डॉ॰ ग्रियर्सन की पुस्तक 'बिहार वीजेंट लाइफ' का पुनः प्रकाशन किया।

1.2.3 हिन्दी लोक-साहित्य के विशिष्ट अध्येता

देश के विभिन्न प्रान्तों में सन् 1920 के उपरान्त भारतीय विद्वानों ने लोक-साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करना प्रारम्भ किया। बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक में लोक-साहित्य के क्षेत्र में प्रतिभाशाली एवं लोकप्रिय विद्वानों ने समर्पित, श्रमसाध्य एवं उल्लेखनीय कार्य किया।

बंगाल में डॉ॰ दिनेशचन्द्र सेन, बिहार में रायबहादुर शरदचन्द्र राय, उत्तर प्रदेश में पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, गुजरात में झवेरचन्द मेघाणी आदि विद्वानों ने लोक-साहित्य के क्षेत्र में शोध कार्य व संकलन का कार्य अपने हाथों में लिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में बांग्ला भाषा और लोक-साहित्य के रक्षार्थ विशेष कार्य किये गए। डॉ॰ दिनेशचन्द्र सेन ने पूर्व बंगाल के मैमनसिंह जिले के लोक-गीतों का संकलन किया जिसे बाद में 'मैमनसिंह गीतिका' तथा 'पूर्वबंग गीतिका' नाम से प्रकाशित किया गया। इन गीतों का अंग्रेजी अनुवाद 'ईस्टर्न बंगाल बैलेड्स' नाम से सन् 1923-1932 में प्रकाशित हुआ। डॉ॰ दिनेशचन्द्र सेन के भाषणों का प्रकाशन सन् 1920 में 'हिन्दी लिटरेचर ऑफ़ बंगाल' नाम से हुआ। डॉ॰ दिनेशचन्द्र सेन बांग्ला साहित्य के संरक्षण के लिए कार्य करने वाले अध्येताओं में प्रमुख हैं।

शरदचन्द्र राय ने बिहार में प्रशंसनीय कार्य किया । ये लोक-साहित्य-मर्मज्ञ होने के साथ-साथ मानव विज्ञानशास्त्री भी थे। इन्होंने बिहार की मुण्डा, उराँव, संथाल, बिरहोर आदि का अध्ययन कर सामग्री संकलन का कार्य किया। इनके द्वारा रचित 'दि मुंडाज़ एंड देयर कंट्री' नामक पुस्तक सन् 1912 में प्रकाशित हुई। इनकी दूसरी पुस्तक 'दि बिरहोर्स' सन् 1925 में प्रकाशित हुई। शरदचन्द्र राय की इन दोनों पुस्तकों में उक्त आदिम जातियों की लोक वार्ताएँ संकलित हैं । सन् 1925 में एक अन्य पुस्तक 'दि ओरोक्स ऑफ़ छोटा नागपुर' प्रकाशित हुई । उड़ीसा के पर्वतों में निवास करने वाली भुइयाँ जाति के लोगों पर लिखी पुस्तक 'दि हिल्स भुइयाँज़ ऑफ़ ओरिसा' सन् 1936 में प्रकाशित हुई। इसमें खारी लोगों के 37 प्रचलित लोक गीत एवं 55 पहेलियाँ संगृहीत हैं।

गुजरात में झवेरचन्द मेघाणी ने लोक-साहित्य के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । इन्होंने अपना समस्त जीवन साहित्य की एकान्त साधना में अर्पित कर दिया । मेधाणी ने गुजराती लोक कथाओं, वीर गाथाओं, लोक-गीतों, शिशु गीतों के संग्रह का महत्त्वपूर्ण कार्य किया । सन् 1927 में रनपुर से मेधाणी-कृत 'कंकावटी' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ। मेधाणी द्वारा सन् 1925-42 के बीच 'रुढ़याली रात' नाम से चार खण्डों में लोक-गीतों का संकलन तैयार किया गया। सन् 1926-28 में मेधाणी-कृत 'चुन्दड़ी' नामक संग्रह दो भागों में प्रकाशित हुआ। इनके द्वारा रचित 'हालरडा' नामक ग्रन्थ में पालने के गीत हैं। मेधाणी द्वारा सन् 1931 में 'सोरठी गीत कथा' को प्रकाशित किया गया जिसमें ग्रामीण कहानियों का संकलन है। इन संकलनों के अतिरिक्त इन्होंने लोक-साहित्य का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया जिसे बम्बई विश्वविद्यालय ने पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया है। ये 'धरणी नु धावन' ग्रन्थ के संग्रहकर्त्ता एवं गायक दोनों थे। इनके अतिरिक्त गोकुलदास रामचुरा की रचनाओं से भी गुजराती लोक-साहित्य समृद्ध-सम्पन्न हुआ है।

सन् 1920 के बाद हिन्दी में लोक-साहित्य का शुभारम्भ हुआ जिसमें अग्रणी थे – पण्डित रामगरीब चौबे, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, देवेन्द्र सत्यार्थी, डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी और डॉ॰ सत्येन्द्र।

कर्नल टॉड द्वारा सन् 1829 में लोक-साहित्य के अध्ययन का शुभारम्भ हुआ। इसमें भारतीय लोक-वार्ता के संकलन एवं प्रकाशन कार्यों को प्रमुखता दी गई। शनैः शनैः भारतीय अध्ययनकर्त्ताओं ने इसका व्यवस्थित रूप से अध्ययन, संकलन एवं सम्पादन करना प्रारम्भ किया। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी इनमें अग्रणी विद्वान् हैं। इनके द्वारा संकलित एवं सम्पादित ग्रन्थ 'कविता कौमुदी' भाग-5 सन् 1929 में प्रकाशित हुआ । इस ग्रन्थ में पूर्वी उत्तरप्रदेश और पश्चिमी बिहार के लोक गीत संगृहीत हैं। ग्राम साहित्य में लोकोक्तियों का भी संकलन किया गया है। डॉ॰ त्रिलोचन पाण्डेय का मानना है – "हिन्दी क्षेत्र में लोक-साहित्य तथा लोकजीवन पर सर्वप्रथम संग्रह कार्य रूसी विद्वान् इवान पावलोविच मिनायेव ने सन् 1840-50 में आरम्भ किया। सन् 1875 में इनके द्वारा संकलित हिन्दी के पर्वतीय क्षेत्र कुमाऊँ की लोक-कथाओं का रूसी अनुवाद प्रकाशित हुआ अतः रूसी विद्वान् इवान पावलोविच मिनायेव को ही हिन्दी लोक-साहित्य का सर्वप्रथम व्यवस्थित संग्रहकर्त्ता मानना चाहिए ।" डॉ॰ पाण्डेय के अनुसार हिन्दी लोक-गीतों का संग्रह करने का श्रेय पण्डित रामनरेश त्रिपाठी को दिया जाता है जिन्होंने

यह कार्य सन् 1925 में प्रारम्भ किया। इनके पूर्व मिर्जापुर के कलेक्टर विलियम क्रुक के आदेशानुसार पण्डित रामगरीब चौबे ने सन् 1893 में लोक-गीतों के संकलन कार्य को पूर्ण किया था।

लोक-साहित्य के संकलन और सम्पादन के सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य ध्यातव्य हैं –

1. भारत में लोक-साहित्य के अध्ययन, संकलन और सम्पादन के कार्य का श्रीगणेश अंग्रेज अधिकारियों द्वारा किया गया।
2. हिन्दी लोक-साहित्य के अध्ययन, संकलन और सम्पादन का सर्वप्रथम कार्य रूसी विद्वान् इवान पावलोविच मिनायेव द्वारा किया गया जिसका सन् 1875 में रूसी में अनुवाद भी प्रकाशित हुआ।
3. कर्नल टॉड ने राजस्थानी भाषा के क्षेत्र में सर्वप्रथम लोक-साहित्य का कार्य किया।
4. हिन्दी लोक-गीतों के संकलन के कार्य में पण्डित रामगरीब चौबे पुरोधा हैं जिनके द्वारा संगृहीत गीतों का प्रकाशन सन् 1893 में हुआ।
5. हिन्दी लोक-गीतों का विधिवत संकलन एवं सम्पादन सन् 1929 में पण्डित रामनरेश त्रिपाठी द्वारा किया गया जो लोक-साहित्य के क्षेत्र में महनीय कार्य है।

देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-गीतों के संकलन एवं सम्पादन का कार्य किया। इन्होंने इन लोक-गीतों की भावपूर्ण व्याख्याएँ एवं विवेकपूर्ण विवेचन भी प्रस्तुत किए। इनके द्वारा लिखित निबन्ध भावपूर्ण एवं अद्भुत हैं। अपने जीवन के अमूल्य बीस वर्ष इन्होंने लोक-गीतों के संकलन एवं सम्पादन कार्य में समर्पित किए। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लगभग तीन लाख लोक-गीतों का संकलन किया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं – 'बेला फूले आधी रात', 'धरती गाती है', 'बजट आवे ढोल' तथा 'धीरे बहो गंगा'।

डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने लोक-साहित्य के क्षेत्र में अध्ययनकर्त्ताओं को प्रोत्साहित किया। इन्होंने मथुरा संग्रहालय के संचालक पद पर कार्य करते हुए 'ब्रज साहित्य मण्डल' की स्थापना की। डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'ब्रजभारती' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। इन्होंने 'पृथ्वीपुत्र' नामक पुस्तक लिखकर लोक-साहित्य के क्षेत्र में कार्य कर रहे लोगों को सम्मान और प्रोत्साहन के साथ मार्गदर्शन किया। इनके प्रोत्साहन का ही प्रतिफल था कि पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी, कृष्णदत्त वाजपेयी और डॉ॰ सत्येन्द्र जैसे उद्भट विद्वान् लोक-साहित्य के अध्ययन और संकलन के क्षेत्र में आए।

सन् 1944 में पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी की प्रेरणा से ओरछा की राजधानी टीकमगढ़ में 'लोक वार्ता परिषद्' की स्थापना हुई, जिसका कार्य था – लोक-साहित्य का संकलन, सम्पादन और प्रकाशन। सन् 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देशी राज्यों के विलय के साथ ही 'लोक वार्ता परिषद्' का भी विलय हो गया।

कृष्णानन्द की प्रेरणा से बुंदेलखंडीलोक-साहित्य सेवा के लिए 'मधुकर' पाक्षिक पत्रिका निकली किन्तु अल्प समय में ही उसका प्रकाशन होना बन्द हो गया। सन् 1952 में काशी में 'हिन्दी जनपदीय परिषद्' बनी और वहाँ से 'जनपद' नामक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होना प्रारम्भ हुई जिसके सम्पादक आचार्य हजारीप्रसाद

द्विवेदी, डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ॰ उदयनारायण तिवारी थे। अर्थाभाव के कारण इस पत्रिका के चार अंक ही प्रकाशित हो पाए।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का स्पष्ट निर्देश था कि हिन्दी साहित्य के अध्येताओं को अपने कर्त्तव्य-पालन हेतु लोक-साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन अवश्य करना चाहिए। उन्होंने बल दिया कि इस दिशा में प्रवृत्त सुधीजनों को 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, कृष्णानन्द गुप्त, डॉ॰ कृष्णदत्त वाजपेयी तथा देवीलाल सामर आदि विद्वानों द्वारा स्थापित संस्थाओं द्वारा लोक-साहित्य के संग्रहों का प्रकाशन किया गया तथा लोक-साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए मुखपत्र निकाला गया। डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना, कृष्णानन्द गुप्त द्वारा फैजाबाद से 'अवधी भारती' पत्रिका का सम्पादन, गौरीशंकर पाण्डेय द्वारा 'लोक वार्ता' पत्रिका का सम्पादन, रघुवंश नारायण सिंह द्वारा 'भोजपुरी' पत्रिका का सम्पादन, खाकी बाबा द्वारा भोजपुरी साहित्य सम्मेलन, बक्सर का आयोजन तथा भोजपुरी संसद, वाराणसी के सभापति डॉ॰ स्वामीनाथ भट्ट आदि द्वारा किये गए विविध प्रयासों ने लोक-साहित्य के प्रचार-प्रसार का अभूतपूर्व कार्य किया।

विशृंखल लोक-साहित्य और संस्कृति को वैज्ञानिक पद्धति द्वारा सुनियोजित कर लोकसाहित्य के संग्रह का कार्य करने हेतु सन् 1958 में 'भारतीय लोक संस्कृति शोध संस्थान' की स्थापना की गई। इसके संस्थापक पण्डित ब्रजमोहन व्यास, श्रीकृष्णदत्त तथा डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय थे। इन विद्वानों द्वारा अक्टूबर 1959 में अखिल भारतीय लोक-साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन प्रयाग में आयोजित किया गया। इसका दूसरा अधिवेशन दिसम्बर 1959 में बम्बई में आयोजित हुआ जिसमें इंग्लैंड की 'हिन्दी लोर सोसायटी' भी सम्मिलित हुई। भारतीय लोक संस्कृति शोध संस्थान द्वारा 'लोक-संस्कृति' नामक पत्रिका भी प्रकाशित की गई तथा 'लोक-साहित्य के विद्वानों का परिचय' एवं 'लोक-साहित्य तथा लोक-संस्कृति सम्बन्धी पुस्तकों का विवरण' नामक दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित की गई। लोक कला के विकास के लिए प्रयाग में 'लोक कला संग्रहालय' की स्थापना की गई जिसके अन्तर्गत एक पुस्तकालय का भी निर्माण किया गया। लोक कला संग्रहालय में देश-विदेश की लोक-साहित्य सम्बन्धी अनेक पुस्तकों का संकलन संरक्षित है। इस शोध संस्थान के माध्यम से शोध कार्य में गति आयी और लोक-साहित्य सम्बन्धी साहित्यिक गतिविधियों का आयोजन प्रारम्भ हुआ।

1.2.4 लोक-साहित्य की अध्ययन-प्रक्रिया

लोक-साहित्य का अध्ययन एक जटिल कार्य है। इसके लिए अध्येता को सर्वप्रथम लोक-भाषा का अध्ययन करना आवश्यक होता है। लोकभाषा के अन्तर्गत लोक-प्रचलित सम्पूर्ण साहित्य का अंकन किया जाता है। लोकभाषा ही प्रवेश द्वार है जिससे होकर ही लोक-साहित्य के विस्तृत अध्ययन क्षेत्र में प्रवेश किया जा सकता

है । जिस क्षेत्र के लोक-साहित्य का अध्ययन करना हो सर्वप्रथम उस क्षेत्र की लोकभाषा से परिचित होना आवश्यक है अन्यथा उसमें सामर्थ्य ही नहीं होगा जो लोक-साहित्य की अध्ययन-प्रक्रिया को समझ सके।

लोक-साहित्य की व्याप्ति अत्यन्त विस्तृत है। इतने व्यापक क्षेत्र का अध्ययन एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। नगरों में परिवेशीय परिवर्तन ग्रामीण परिवेश की अपेक्षा अधिक तीव्रता से होते हैं इसलिए नगरों में लोक-साहित्य का अध्ययन-अनुसन्धान अधिक आवश्यक है। इसके लिए इस व्यापक क्षेत्र के प्रत्येक वर्ग और समाज से सम्पर्क कर तथ्यों का संकलन किया जाना चाहिए।

लोक-साहित्य का अध्ययन निम्नलिखित समूहों में किया जा सकता है –

1. अभिरुचि वाले संग्रहकर्त्ताओं द्वारा
2. शोधार्थियों द्वारा
3. साहित्यिक संस्थाओं द्वारा
4. विश्वविद्यालयों द्वारा
5. अनुदानित विभिन्न प्रकल्पों द्वारा

लोक-साहित्य के अध्ययन का कार्य व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों रूपों से किया जा सकता है। संगठित रूप में समान रुचि वाले लोग यदि इस कार्य को करते हैं तो अद्भुत परिणाम मिल सकते हैं।

लोक-साहित्य का संग्रह एवं संकलन करना अत्यन्त क्लिष्ट कार्य है।अध्ययन-प्रक्रिया के लिए लोक-साहित्य का संग्रह करने के सन्दर्भ में डॉ॰ सत्येन्द्र ने निम्नलिखित विधियों का उल्लेख किया है –

1. पुस्तकों / पुस्तिकाओं पर नोट करना
2. त्वरा लेखन (शार्टहैंड) करना
3. ध्वनि को रिकॉर्ड करना – (क) तरंग, (ख) तार, (ग) फीता, (घ) ध्वनि फिल्म।

डॉ॰ सत्येन्द्र ने अपने शोध में 'ब्रज साहित्य मण्डल' की हिन्दी साहित्य परिषद् और संकलन पत्र के नमूने, संकलन सामग्री आदि का विधिवत विवरण भी दिया है।

संग्रहकर्त्ता कुशल, कार्य-दक्ष, सद्भावनापूर्ण एवं प्रशिक्षित हो तो वैज्ञानिक पद्धति से यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। संग्रह कार्य हेतु कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुइस प्रकार हैं –

1. एक स्थान के संग्रह के लिए एक समूह ही उचित होता है।
2. समूह को क्षेत्रीय इतिहास, भूगोल एवं संस्कृति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।
3. लोक वार्ता, नृत्यकला, पुरातत्त्व, लोक-साहित्य और उसकी विभिन्न विधाओं से सम्बन्धित सामग्री का पृथक्-पृथक् संकलन किया जाना चाहिए।

4. सर्वेक्षण के समय सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों से लोक वार्ता सम्बन्धी जानकारी ग्रहण करनी चाहिए।
5. लोक वार्ता संग्रह या संकलन करने वाले अध्येता दो समूहों में होने चाहिए।
6. अध्येता सामान्य योग्यता वाले हों, उनकी साहित्य में रुचि हो, वे लोक-साहित्य मर्मज्ञों से तथ्य संग्रह करने में कुशल हों। लोक-साहित्य संकलनकर्त्ता त्वरित लेखन में दक्ष हो।
7. लोक-साहित्य संकलनकर्त्ता तकनीकी रूप से कुशल हो और उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की टेप सम्बन्धी जानकारी हो।

संग्रहकर्त्ता के दो उपादान माने गए हैं –

(क) आन्तरिक साधन

1. आत्म मुग्ध न होकर संग्रह-संकलन के क्षेत्र को महत्त्व देना। सम्बन्धित लोगों से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करना। स्थानीय नियमों का पालन करना एवं सुष्ठु तथा सज्जनतापूर्वक व्यवहार निभाना।
2. उस क्षेत्र के लोगों की परम्पराओं के प्रति सम्मान व्यक्त करना तथा उनसे सहानुभूति प्राप्त करना।
3. अनुसन्धानकर्त्ता को चतुर और ज्ञानी होना चाहिए उसे अनुमान होना चाहिए कि कौन-सी सामग्री कहाँ प्राप्त हो सकती है!
4. जाँच-परख के पश्चात् ही किसी तथ्य को स्वीकार करना और परम्पराओं के लिए उस क्षेत्र के प्रचलित शब्दों को ही लेना चाहिए तथा स्थानीय भाषा के शब्दों का विवरण लिखना चाहिए।
5. सामग्री देने वाले का हुलिया और परिचय पत्र अवश्य लेना चाहिए।
6. जो सुना जाए वही लिखा जाना चाहिए। शब्दों को पर्याय नहीं देना चाहिए। कहीं अशुद्धि लगे तो स्वयं शुद्ध नहीं किया जाना चाहिए। इस प्रकार के संशोधक घातक सिद्ध होते हैं।
7. अधिकाधिक पाठों का संग्रह करना चाहिए। एक ही लोक गाथा के कथानक आदि में अन्य प्रान्त में भिन्नता हो जाती है अतः संग्रहकर्त्ता को जो भी पाठ जहाँ भी मिले उसे संग्रह कर लेना चाहिए। जैसे मूल आल्हा बुंदेलखंडी में है किन्तु वह साथ ही कन्नौजी और भोजपुरी में भी है। डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय ने 'गोपीचंद' लोक गाथा के तीन पाठों का संकलन किया है।

(ख) बाह्य साधन

साधन युक्त संग्रहकर्त्ता ही लक्ष्य तक पहुँच सकता है। संग्रहकर्त्ता को यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री अत्यन्त चतुराई से एकत्र करनी चाहिए। लोक-साहित्य के रत्न कहाँ और किसके पास है! उसे प्राप्त करना ही उसका मुख्य ध्येय होना चाहिए।

1. नोटबुक, पेन, पेंसिल आदि विभिन्न रंगों के होने चाहिए।
2. कैमरा व्यक्ति, परिवेश, देवी-देवताओं एवं उनके घरों की बनावट आदि को ग्रहण करने में सहायक होता है।

3. रिकॉर्डिंग मशीन (टेप रिकॉर्डर) परम आवश्यक यंत्र है। इससे संकलनकर्त्ता का कार्य सरल हो जाता है। वर्षा ऋतु में धान की रोपाई के समय गाये जा रहे गीत को लिपिबद्ध करते संकलनकर्त्ता की नोटबुक अथवा कागज़ भीग सकता है किन्तु उसी को बड़े आनन्द से टेप किया जा सकता है।
4. मुंडन, विवाह, गवना, छठ, होली, दशहरा, माता-पूजा आदि संस्कारों और पूजा-पाठ के अवसर पर फिल्म निर्माण कर संस्कृति की रक्षा की जा सकती है। लुप्त हो रही चीजों को संरक्षित और सुरक्षित करने में फिल्म निर्माण अधिक उपयोगी है। ऐसे संकलनों को पुस्तकालयों में रखा जाना चाहिए।

इस संकलन एवं संग्रह कार्य के माध्यम से लोक शब्दावली का अध्ययन किया जा सकता है। लोक शब्दावली के विकास में मानसिकता का अध्ययन तथा तत्सम रूपों का ज्ञान, उसकी प्रकृति, प्रत्यय विचार एवं प्रवृत्ति को जाना जा सकता है, जैसे – 'रं' परिनिष्ठित शब्द है किन्तु लोकभाषा में – रामा, रमऊ, रमुआ, रमईया, रामू जैसे अनेक रूप हैं।

1.2.5 लोक-साहित्य संग्रह की कठिनाइयाँ

लोक-साहित्य संग्रह में निम्नलिखित कठिनाइयाँ आती हैं –

1. शिक्षा और रोजगार की विविधता के कारण लोक गीत गवैयों का अभाव-सा होता जा रहा है। पारम्परिक गायकों को रोजगार के लिए कारण पलायन करना पड़ रहा है। अपनी संस्कृति से कटकर उन्हें अपने गीतों का मोह छोड़ना ही पड़ता है। हालाँकि इस पलायन के कारण लोक-संस्कृति का विस्तार भी हुआ है। ये दोनों ही बातें चुनौतीपूर्ण हैं। कुछ जातियाँ ही बची हैं जो पुराने गीतों को गाती हैं। आधुनिक शिक्षा प्रसार ने गीत गायकों के अवसर छीन लिए। भौतिकवादी जीवन-दर्शन ने भी इस अवसर को क्षीण किया है। बहुरूपिया, स्वाँग जैसी लोक कलाएँ लुप्त हो गई हैं। पढ़ी-लिखी नवीन पीढ़ी की स्त्रियाँ इन गीतों को गाने में संकोच का अनुभव करती हैं। अपने कण्ठों में सँजोकर रखने वाली वरिष्ठ पीढ़ी काल के गाल में जा चुकी है। सामाजिक परिवर्तन की आँधी ने लोक-साहित्य को उड़ा ले जाने का निश्चय कर लिया है। ऐसे में लोक-साहित्य का संकलन का कार्य दुरूह हो गया है।
2. लोक-गीतों की मर्मज्ञ स्त्रियाँ दूसरों के सामने गाने में लज्जा का अनुभव करती हैं। घर के आँगन में जब लोक-गीतों को विभिन्न अवसरों पर गाया जा रहा हो उसी समय बाहर बैठकर लिखा जा सकता है। टेप रिकॉर्डर इस क्षेत्र में बहुत सहायता कर सकता है।
3. लोक गीत गाने वाले गवैये मस्ती की तरंग में प्रायः गलत उच्चारण तथा कभी कोई पंक्ति तक भूल जाते हैं। सुनकर लिपिबद्ध करने वाले व्यक्ति श्रुतिदोष के कारण भ्रान्तिपूर्ण पाठ भी लिख सकते हैं।
4. लोक गीत गाने वाले समय, ऋतु और मौकों पर ही गाते हैं अतः अवसर की प्रतीक्षा बहुत कठिन है। धान की रोपाई वाला गीत तो खेत की मेड़ पर ही बैठकर लिखा जा सकता है। उसे गीले खेत पर बैठकर लिखना आसान नहीं है। झूला झूलते हुए जो गीत गाया जाता है , उसे कजरी कहते हैं। कोई बाहरी व्यक्ति ऐसे में आ जाए तो स्त्रियाँ खुलकर नहीं गा सकतीं।

5. लोक गायक अपने गीतों को अपनी पूँजी समझते हैं। इसे रोजी-रोटी मानने वाली संकुचित मनोवृत्ति के कारण वे ये गीत किसी को देना नहीं चाहते। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय इसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं – "गोपीचंद तथा भरथरी की कथाओं को लिखना चाहा था" परन्तु उन्हें इस कार्य में सफलता न मिल सकी। इन गायकों को ज्ञात नहीं था कि कथा लिपिबद्ध हो जाने से लोक-साहित्य की कितनी निधियाँ नष्ट होने से बच जाएँगी।

लोक-साहित्य में विद्यमान गोपनीय विद्याएँ, यथा – चिकित्सा सम्बन्धी, खप्पर गीत, मन्त्रपरक गीत, साइले, समाइन, गुरसठी कीलन आदि को लिपिबद्ध करने में अधिक कठिनाई आती है। लोक-साहित्य के क्षेत्र में कतिपय विद्वानों ने कुछ संस्थाओं की नींव डाली, जिनमें प्रमुख हैं – डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, कृष्णानन्द गुप्त, डॉ० कृष्णदत्त वाजपेयी तथा देवीलाल सामर। इनकी संस्थाओं ने लोक-साहित्य के संग्रहों का प्रकाशन किया। इन्होंने अपने-अपने मुखपत्र निकाले और मुखपत्र द्वारा लोक-साहित्य का प्रचार-प्रसार का कार्य किया।

लोक-साहित्य को परिभाषित करते हुए पूर्व पाठ में लिखा जा चुका है कि यह साहित्य मौखिक परम्परा का साहित्य है और इसका प्रचार-प्रसार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मौखिक रूप प्रदान करके होता रहा है इसलिए अनेक वर्षों तक लोक-साहित्य एवं संस्कृति के लिए जो प्रयास हुए, वे प्रायः विशृंखल ही थे। ऐसी कोई केन्द्रीय संस्था नहीं थी जो विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा लोक-साहित्य सम्बन्धी कार्यों में संयोजन कर सके। इस बहुत बड़े अभाव की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम प्रयाग में सन् 1958 में 'भारतीय लोक-संस्कृति शोध संस्थान' की स्थापना की गई। इसके संस्थापक पण्डित ब्रजमोहन व्यास, श्रीकृष्णदास तथा डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय थे। इन तीनों विद्वानों ने सन् 1958 में अखिल भारतीय लोक-साहित्य सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन प्रयाग में तथा दूसरा सम्मेलन दिसम्बर माह ,1959 में बम्बई में आयोजित किया। इस संस्थान की 'लोक-संस्कृति' नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी हुआ। संस्थान ने दो पुस्तकें भी प्रकाशित कीं – (1) लोक-साहित्य के विद्वानों का परिचय (2) लोक-साहित्य तथा लोक संस्कृति से जुड़ी पुस्तकों का विवरण।

1.2.6 पाठ-सार

लोक-साहित्य की व्याप्ति को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि इसका संकलन तथा संग्रह कोई आसान कार्य नहीं है। इस कार्य की कठिनाइयों के विषय में और संग्रहकर्त्ता के गुणों के विषय में डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय तथा डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा है। डॉ० सत्येन्द्र ने अपने शोध में ब्रज साहित्य मण्डल की हिन्दी साहित्य परिषद् को प्रेरित करके ग्राम-गीत संग्रह को बनाने से सम्बन्धित बातें लिखी हैं। इन दोनों विद्वानों के अलावा डॉ० शंकरलाल यादव ने लोक-साहित्य के संग्रह-कार्य की कठिनाइयों की विस्तृत चर्चा की है।

1.2.7 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारतीय लोक गाथा का प्रथम संकलन किया –

(क) स्विनर्टन ने
(ख) कर्नल जेम्स टॉड ने
(ग) एल. पी. टेसीटोरी ने
(घ) देवेन्द्र सत्यार्थी ने

2. आर. सी. कैंपबेल ने लोक कथाओं का संग्रह किया –

(क) पंजाब की
(ख) मध्यप्रदेश की
(ग) बंगाल की
(घ) दक्षिण भारत की

3. कश्मीरी लोक-कथाओं का संकलन किया –

(क) रेवरेंड हिल्पस पादरी द्वारा
(ख) डाल्टन द्वारा
(ग) सर आरेल स्टाइन
(घ) अंग्रेज विद्वान् कालबेल द्वारा

4. भोजपुरी लोक-गीतों के सर्वप्रथम संकलनकर्त्ता हैं –

(क) सर ग्रियर्सन
(ख) विलियम क्रुक
(ग) आर. एम. काकरनैस
(घ) सर आरेल

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भोजपुरी संग्रहसंकलनकर्त्ताओं के नाम लिखिए।
2. जार्ज ग्रियर्सन के लोक वार्ता सम्बन्धी कार्यों का वर्णन कीजिए।

3. लोक-साहित्य के प्रमुख संग्रहकर्त्ताओं का नाम लिखिए।
4. लोक वार्ता के संग्रह की कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोक-साहित्य के संग्रहकर्त्ता के उपादान के विषय में लिखिए।
2. लोक-साहित्य के संकलन-संग्रह के प्रकार की विस्तृत चर्चा कीजिए।
3. भारतीय लोक-साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में संग्रह-संकलन कार्यों की विवेचना कीजिए।
4. लोक-साहित्य का शिष्ट साहित्य में अवदान का वर्णन कीजिए।
5. लोक-साहित्य के संकलन-संग्रह की आवश्यकता एवं महत्त्व रेखांकित कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : लोक-साहित्य : अवधारणा एवं स्वरूप

इकाई – 3 : लोक-साहित्य : लक्षण, परिभाषा और क्षेत्र, लोक-साहित्य और अन्य समाज-विज्ञान, हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में लोक तत्त्व, वर्तमान अभिजात साहित्य और लोक-साहित्य का अन्तस्सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

1.3.0 उद्देश्य कथन
1.3.1 प्रस्तावना
1.3.2 लोक-साहित्य की परिभाषा
1.3.3 लोक-साहित्य का क्षेत्र
1.3.4 लोक-साहित्य और अन्य समाज विज्ञान
1.3.4.01 लोक-साहित्य और पुरातत्त्व विज्ञान
1.3.4.02 लोक-साहित्य और इतिहास
1.3.4.03 लोक-साहित्य और भूगोल
1.3.4.04 लोक-साहित्य और समाजशास्त्र
1.3.4.05 लोक-साहित्य और भाषाविज्ञान
1.3.4.06 लोक-साहित्य और मानव विज्ञान (नृ-विज्ञान)
1.3.4.07 लोक-साहित्य और मनोविज्ञान
1.3.4.08 लोक-साहित्य और धर्मशास्त्र
1.3.4.09 लोक-साहित्य और चिकित्साशास्त्र
1.3.4.10 लोक-साहित्य और संगीत
1.3.4.11 लोक-साहित्य और पाठानुसन्धान
1.3.5 हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में लोक तत्त्व
1.3.6 वर्तमान अभिजात साहित्य और लोक-साहित्य का अन्तस्सम्बन्ध
1.3.7 पाठ-सार
1.3.8 बोध प्रश्न

1.3.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. लोक-साहित्य की परिभाषा और लक्षण समझ सकेंगे।
ii. लोक-साहित्य और अन्य समाज विज्ञान के सम्बन्धों को जान सकेंगे।
iii. हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में लोक तत्त्व की विद्यमानता का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
iv. अभिजात साहित्य और लोक-साहित्य के अन्तस्सम्बन्धों को जान सकेंगे।

V. लोक-साहित्य की विशेषता और वर्तमान में उसकी उपयोगिता को समझ सकेंगे।

1.3.1 प्रस्तावना

विश्व के सभी देशों और जातियों की भाषा का अपना एक मौखिक लोक-साहित्य होता है इसलिए यह विश्वभर का प्रचलित साहित्य है। लोक-साहित्य का प्रमुख लक्षण यह है कि यह किसी व्यक्ति विशेष की रचना होते हुए भी उसकी रचना नहीं रहती। इसमें लोक की सहज अभिव्यक्ति होती है। लोक-मानस चित्रित होता है। बहुधा लोक-साहित्य तो अलिखित होते हैं और एक मुख से होकर दूसरे मुख तक आगे बढ़ते रहते हैं। इस बढ़ने की परम्परा में पीढ़ियों के अन्तराल को महसूस किया जा सकता है। रचयिता अज्ञात रहता है। लोक प्राणी की वाणी बनकर समूह में घुल-मिलकर रहता है। इस प्रकार लोक-साहित्य लोक-मन की सहज अभिव्यक्ति है जो अलिखित रूप में मौखिक परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अपनी प्राणवान् यात्रा तय करती है। इसी कारण यह विशिष्ट साहित्य से भिन्न भी होता है। जहाँ तक लोक-साहित्य की भाषा की बात है, वह अपरिमार्जित, अकृत्रिम और सहिष्णु भाषा होती है।

लोक-साहित्य का विकास मौखिक प्रक्रिया द्वारा होता रहता है जिसमें प्रचारात्मक या उद्देश्यात्मक स्वरूप नहीं होता। इसके अध्ययन से आदिकाल से अनन्तकाल तक मानव जीवन-यात्रा प्रवाहमान है, उसमें वह कहाँ ऊपर उठा, कहाँ पतन की ओर गिरा, कहाँ आगे बढ़ा ! – इन सबकी खोज की जा सकती है। लोक-साहित्य मात्र लोक-कथाओं, गीतों, कहावतों का एकत्रीकरण नहीं है। उदाहरणार्थ, भिखारी ठाकुर के उस गीत से, जिसमें बाप पैसा लेकर अनमेल वर ढूँढ़ता है, तब बेटी कहती है –

गमछा बिछाइ दिहल, रूपिया बटोरी लिहल,
गइया के पगहा बनवल हो बाबूजी।

परन्तु आज लोक गीत कुछ इस प्रकार है, जब बाप सुनता है, दहेज के लालच में उसकी बेटी ससुराल में जला दी गई है तब वह कहता है –

जो हम जनती बेटी लागी हतियारी, तोहके रखती कुँवार,
चाहे जमाना देइत हमरा के गारी, तोहके रखती कुँवार।

दोनों गीतों में पीढ़ियों के अन्तराल महसूस किया जा सकता है। पूर्व में लड़की की जो स्थिति एक गाय के पगहे के समान थी अब उसकी रक्षा में पिता तनकर खड़ा है और जमाने की परवाह तक नहीं करता। इन गीतों के अध्ययन से स्त्री की तत्कालीन स्थिति से वर्तमान की स्थिति को बखूबी समझा जा सकता है। लोक-साहित्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता में जो भावों की एकता है, भाषा चाहे भिन्न-भिन्न हो तब भी भावों की दृष्टि से एक दूसरे से अभिन्न रहा है। जैसे बेटी की विदाई का गीत कहीं का हो भाव और गीत में दर्द एक-सा ही मिलेगा।

1.3.2 लोक-साहित्य की परिभाषा

लोक-साहित्य वह साहित्य है जिसमें लोक-मानस की पीड़ा, वेदना, दुःख-सुख, हास-परिहास, रुदन-चीख समाहित रहता है। जिसमें तरुणियों की अँगड़ाई, भावाभिव्यक्ति एवं बच्चों की खिलखिलाहट भी होती है। यह स्वतः फूटे हुए झरने की तरह होता है। इसकी पहचान अलग होती है। इसमें कोई बाँध नहीं होता। वस्तुतः लोक-साहित्य भले ही किसी एक व्यक्ति द्वारा रचा जाता हो पर उसे समूचा लोककण्ठ अपना बना लेता है इसीलिए इसमें सदियों की वाणी की साधना समाहित रहती है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिम्बित होता है। हिन्दी के कुछ विद्वानों जैसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जैसे लोगों ने इसके महत्त्व को रेखांकित किया। आचार्य द्विवेदी की मान्यता थी कि जो लोक चित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करती है, वे ही लोक-साहित्य, लोक-शिल्प, लोक-नाट्य, लोक-कथानक आदि नामों से पुकारी जा सकती है। वहीं डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय लोक-साहित्य को सभ्यता के कृत्रिम प्रभाव से दूर निरक्षर जनता की आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि की अभिव्यक्ति मानते हैं। लोक-साहित्य में प्रमुखतः निम्नलिखित बातें उभरकर सामने आती हैं–

1. लोक-साहित्य लोकचित्त से सीधे उत्पन्न होता है और इसका रचयिता अज्ञात होता है।
2. लोक-साहित्य जनसामान्य में नैसर्गिक भावों की अभिव्यक्ति होती है।
3. लोक-साहित्य अलिखित रहता है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मौखिक रूप से प्राप्त होता है। इसलिए इसमें अकृत्रिम समाज का दर्शन होता है।
4. लोक-साहित्य का रचयिता और रचनाकाल अज्ञात होता है।
5. लोक-साहित्य उपदेश या प्रचार से दूर सहिष्णु होता है।
6. लोक-साहित्य के प्रमुख गुण हैं– स्वाभाविकता, स्वच्छन्दता तथा सरलता जैसे जंगली फूल, आकाश और गंगा की निर्मल धारा।

1.3.3 लोक-साहित्य का क्षेत्र

लोक-साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है क्योंकि जहाँ भी लोक है, लोक की अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ हैं, वहीं पर लोक-साहित्य है। अतिसामान्य लोगों की सभी सामान्य क्रियाएँ – उत्सव, पुत्र जन्म, विवाह, हँसना-रोना, गाना, खेलना-कूदना आदि के गीत मानव जाति की अमूल्य निधि है। इसका पालन-पोषण जनसामान्य की क्रोड़ में होता है अतः लोक-साहित्य के क्षेत्र के अन्तर्गत वे सभी रचनाएँ समाहित हो जाती हैं जो जनभाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं, ये रचनाएँ लोक गीत हैं। जो लोक गीत बड़े होते हैं वे लोक गाथा अथवा लोक कथा कहलाते हैं। ये गीत विभिन्न व्यक्तियों, ऋतुओं, पर्वों और त्योहारों, सामाजिक आचार-व्यवहार और जीविका के लिए दूर देश में जाने से सम्बन्धित हैं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही कहा है – "सभ्यता के प्रभाव से दूर अपनी सहजावस्था में विद्यमान जो निरक्षर जनता है उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में होती है वह लोक-साहित्य

है।" यही बात दूसरे शब्दों में डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने भी लोक-साहित्य की व्यापकता के विषय में कही है – "लोक-साहित्य का विस्तार अत्यन्त व्यापक है। साधारण जनता जिन शब्दों में गाती है, रोती है, हँसती है, खेलती है, उन सबको लोक-साहित्य के क्षेत्र के अन्तर्गत रखा जा सकता है।" इससे स्पष्ट है कि लोक-साहित्य का सम्बन्ध जनसाधारण के जीवन-मरण एवं आयु के सभी कालों से है। इसमें सम्पूर्ण लोक-जीवन समाहित है।

समाज से जुड़ी सभी वस्तुओं, ऋतु-सम्बन्धी, कृषि-कार्य से जुड़े सभी अवसरों पर, राजनीति एवं राष्ट्रीय चेतना से जुड़े गीत तक इसमें सम्मिलित हैं।

1.3.4 लोक-साहित्य और अन्य समाज विज्ञान

लोक मानस की समस्त अभिव्यक्ति एवं जीवन के सभी पक्षों को लोक-साहित्य में देखा जा सकता है। आदिम मानव का स्वरूप इसमें विद्यमान है अतः आवश्यक है कि लोक-साहित्य के अन्य सामाजिक विज्ञानों और कलाओं से इसके सम्बन्धों का अध्ययन किया जाए।

1.3.4.01 लोक-साहित्य और पुरातत्त्व विज्ञान

पुरातत्त्व-विज्ञान मानव के जीवन, उसके रहन-सहन, आवास, भोजन, उपयोगी उपकरण, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, विश्वास, उत्सव, मेले, देवी-देवताओं के स्वरूप, मन्दिर, वास्तुकला, पच्चीकारी और विभिन्न कलाओं का अध्ययन करता है। लोक-साहित्य द्वारा पुरातत्त्व वेत्ताओं को पुरातत्त्व की विलुप्त कड़ियों को जोड़ने का मार्ग मिल गया। लोक-साहित्य के गर्भ में मानव इतिहास के ऐसे-ऐसे तथ्य छिपे हैं जिनके माध्यम से पुरातत्त्व विभाग सही दिशा प्राप्त कर सकता है। लोक-साहित्य की विविध विधाओं में पुरातत्त्व की महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है। इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ने के लिए लोक-साहित्य उपयोगी हो सकता है। भविष्य में इतिहास लिखने के लिए लोक-साहित्य की यह सामग्री सहायक होगी। लोक-साहित्य में इतिहास का तटस्थ यथार्थ है। इसको जानने के लिए जहाँ इतिहास मूक है वहाँ यह लोक-साहित्य तिमिराछन्न स्थिति में प्रकाश प्रदान कर सकता है। डॉ० सत्येन्द्र का कहना है – "उधर लोक वार्ता के अध्ययन के लिए पुरातत्त्व और इतिहास बड़े सहायक हैं। लोक वार्ता में अनेक नाम और घटनाएँ होती हैं, अनेक तथ्य और सूचनाएँ रहती हैं। उनमें अनेक निर्माण स्तर होते हैं। इन सबका उद्घाटन इतिहास और पुरातत्त्व द्वारा ही होता है।" (लोक-साहित्य विज्ञान, पृ० क्र० 71)

1.3.4.02 लोक-साहित्य और इतिहास

इतिहास के कई तथ्यों का भण्डार लोक-साहित्य में विद्यमान है। लोक-साहित्य में लुप्त सामग्रियों की सहायता से इतिहास लिखा जा सकता है। ऐतिहासिक घटना के अभाव में लोक-साहित्य एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करता है। पुरातत्त्व विभाग जब असमर्थ हो जाता है तो इतिहास की सहायता लोक-साहित्य ही करता है। किसी स्थान या जनपद की लोक-कथाएँ, लोक गीत, किंवदन्तियाँ वहाँ के इतिहास को अपनी झोली में धारण किये रहते हैं। लोकजीवन की जो बातें लोक-साहित्य में अभिव्यक्त होती हैं उनका उपयोग इतिहासकार दो रूपों में

करता है – (1) इतिहास के तथ्यों का सूत्र प्रदान कर (2) लोकजीवन की सम्पूर्ण जानकारी लेकर। लोक-साहित्य की कथाओं में यथेष्ट ऐतिहासिक मूल्य होता है। लोक-साहित्य में वर्णित मानव और विश्व की जिज्ञासा को सुलझाने वाली विषयवस्तुएँ होती हैं जो इतिहास को दिशा प्रदान करती हैं। कर्नल टॉड की प्रसिद्ध रचना 'एलंस राजस्थान' लोक वार्ता के आधार पर ही लिखी गई है। 1857 की क्रान्ति, सिपाही विद्रोह, महात्मा गाँधी के राष्ट्रीय आन्दोलन आदि से सम्बन्धित बहुत-से ऐतिहासिक महत्त्व वाले लोक गीत मिलते हैं जिनमें शुद्ध रूप से जनभावना का उद्गार है।

1.3.4.03 लोक-साहित्य और भूगोल

लोक-साहित्य में विभिन्न रूपों में भूगोल की सामग्री होती है, जैसे अनेक जनपदों के नाम उनकी प्राचीन सीमाएँ, नदियाँ, नगर, प्रदेश, राजधानी, व्यावसायिक केन्द्र आदि के नाम लोक-साहित्य में मिलते हैं। आज तो कई वनों, मार्गों, नगरों, उपनगरों के नामों का लोप हो चुका है। वे भी लोक-साहित्य के गीतों में उपलब्ध हो जाते हैं। इन सामग्रियों के आधार पर भूगोल का शोधार्थी अनेक दिशाओं में शोध कार्य कर सकता है। इससे ज्ञान के कई बंद दरवाजे खुल जाते हैं। एक गाँव से दूसरे गाँव लोगों का आवागमन, नदियों, पर्वतों को पार करना इन साधनों का ज्ञान भी लोक-साहित्य के माध्यम से सरलता से पाया जा सकता है। भोजपुरी लोक-गीतों में गंगा, यमुना, सरयू, सोन और तमसा आदि नदियों के नाम उपलब्ध होते हैं। नगरों में काशी, प्रयागराज, पटना, बम्बई, दिल्ली, अयोध्या, जनकपुरी, कामरूप आदि नाम लोक गीतों में उपलब्ध होते हैं। 'आल्हा' लोक गाथा में महोबा, नौगढ़, कजरीवन, दिल्ली आदि का वर्णन है।

1.3.4.04 लोक-साहित्य और समाजशास्त्र

समाजशास्त्र वर्तमान समाज की विभिन्न जातियों अथवा समुदायों की प्रथाओं, रीति-रिवाज का अध्ययन करता है। लोक-साहित्य में सामाजिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, देवी-देवता आदि वर्ण्य विषय हैं अतः इन दोनों में गहरा अन्तस्सम्बन्ध है। लोक-साहित्य में मानव जीवन का यथातथ्य वर्णन रहता है जिसका आधार लेकर समाजशास्त्र का अध्ययन किया जा सकता है। लोक-साहित्य अतीत और वर्तमान दोनों ही सभ्यताओं और संस्कृतियों का विश्लेषण करता है जिसके आधार पर मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला जा सकता है। वनों में रहने वाले तथा पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाली अनेक आदिम जातियों का अध्ययन लोक-साहित्य के आधार पर यथेष्ट किया जा सकता है। लोककवि के समक्ष मानव जीवन का यथार्थ रूप रहता है इसलिए वह जो कुछ भी रचता है, जनसमुदाय की सामूहिक भावना उसमें सम्मिलित रहती है क्योंकि रचनाकार को अज्ञात रहना होता है इसलिए वह स्वाभाविक अभिव्यक्ति करता है। डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय ने ठीक ही कहा है – "लोक-साहित्य में जनजीवन का जितना सच्चा और स्वाभाविक वर्णन उपलब्ध होता है उतना अन्यत्र नहीं।" सच तो यह है कि यदि समाज का वास्तविक चित्र देखना अभीष्ट हो तो उसके लोक-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। उन लोक गीतों, गाथाओं और कथाओं में मनुष्य के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान, रीति-रिवाज का सच्चा चित्र देखने को मिलता है। लोकसत्य के परे कोई अन्य सत्य भला कैसे हो सकता है!

1.3.4.05 लोक-साहित्य और भाषाविज्ञान

लोक-साहित्य में जो अनगढ़ से शब्द होते हैं जिनके कारण लोककवि की अभिव्यक्ति अतीव सजीव दिखाई देती है। यही शब्द भाषाविज्ञान के अध्ययन की बुनियादी आवश्यकता है। किसी भी भाषा के शब्द, पद, ध्वनि, अर्थ और वाक्य का अध्ययन भाषाविज्ञान में होता है। लोक-साहित्य में प्रयुक्त शब्द, पद, ध्वनि, अर्थ और वाक्य के आधार पर भाषाविज्ञान का अध्ययन समुचित प्रकार से किया जा सकता है, जैसे किसी बोली के लोक-साहित्य में परिनिष्ठित भाषा या अन्य बोलियों के शब्दों, प्रयोगों एवं व्याकरणिक श्रेणियों के स्तर पर मिश्रण हों तो शुद्धता का निर्णय करने के लिए भाषाविज्ञान अध्ययन सहायक हो सकता है। इसी प्रकार लोक-साहित्य में प्रयुक्त भाषा की अनेक गुत्थियाँ भाषाविज्ञान की सहायता से सुलझायी जा सकती है अतः दोनों की परस्पर निर्भरता बनी रहती है और दोनों एक दूसरे के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं।

1.3.4.06 लोक-साहित्य और मानव विज्ञान (नृ-विज्ञान)

मानवविज्ञान द्वारा विश्व के सभी समुदाय के मनुष्यों का अध्ययन किया जाता है। मानवजाति का विकास, उसका कार्य-कारण स्वरूप और तत्त्वों के अध्ययन की सामग्री लोक-साहित्य में मिलती है। डॉ॰ सत्येन्द्र ने ठीक ही लिखा है – "नृ-विज्ञान, शरीर और रक्त की परम्परा का अध्ययन करता है तो लोक वार्ता या लोक-साहित्य उस शरीर की वाणी का।" लोक वार्ता में लोकतत्त्वों के वर्गों को समझने और उनके ऐतिहासिक कालांकन के लिए एंथ्रोपोलोजी या नृ-विज्ञान के बिना काम नहीं चल सकता है। लोकतत्त्वों में जातीय लोक मानस व्याप्त रहता है। दोनों का कार्य एक-दूसरे के बिना सम्भव नहीं है।

1.3.4.07 लोक-साहित्य और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान मानव-मन की प्रक्रियाओं के अध्ययन का विज्ञान है और लोक-साहित्य में भी लोक और रचनाकार की मनोदशाओं, आशाओं तथा निराशाओं की अभिव्यक्ति है अतः इसमें समाज की मनोदशा को देखा जा सकता है। लोक-साहित्य में दाम्पत्य जीवन की मनोदशा का यथार्थ चित्रण देखा जा सकता है अतः दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। हालाँकि ये पद्धतियाँ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में प्रमाणित नहीं मानी जाती हैं।

1.3.4.08 लोक-साहित्य और धर्मशास्त्र

धर्म का आधार है समाज और समाज का संचालन धर्म करता है। दोनों एक-दूसरे के साथ खड़े रहकर एक-दूसरे की रक्षा करते हैं। स्वयं धर्म की प्रतिष्ठा लोक विश्वास पर आश्रित है। धर्म और पुराणों की अधिकांश गाथाएँ लोक-साहित्य में विद्यमान हैं। ईश्वर के अवतारों का वर्णन भी लोक-साहित्य में किया गया है। सूर्य, राम, कृष्ण, शीतला मईया, गंगा मईया, शिव-पार्वती, दुर्गा, काली, जगदम्बा, हनुमान आदि सम्पूर्ण रूप से लोक-साहित्य में द्रष्टव्य हैं।

1.3.4.09 लोक-साहित्य और चिकित्साशास्त्र

मानव जाति का आदिम जीवन प्रकृति के बेहद निकट का था। वह प्रकृति को जिज्ञासा भरी दृष्टि से भी देखता था और प्राकृतिक घटनाओं का अनुभवी साक्ष्य भी बन रहा था। इस निरीक्षण में उसने चिकित्सा सम्बन्धी अद्‌भुत जानकारियाँ प्राप्त कीं। जब लोककवि पीपल में वासुदेव का दर्शन करता है तो परोक्ष रूप से वह वासुदेव की नहीं, पीपल की महिमा को मण्डित करता है और आज विज्ञान उसी बात का अध्ययन करके पीपल को सर्वाधिक प्राणवायु प्रदान करने वाला वृक्ष बता रहा है। लोक-साहित्य में रोगों का उपचार, झाड़-फूँक, जड़ी-बूटियों के गीत और नाम भी विद्यमान हैं। नीम के पेड़ में माता का निवास है। माता जो हर प्रकार से रक्षा करती है, यहाँ नीम और माता का निवास स्थान समान है। दोनों के गुणधर्म एक हैं। गर्मियों में चेचक आने पर नीम के पत्तों पर सुलाना तथा आसपास नीम के पत्तों से युक्त टहनियों को रखना एकमात्र उपचार है, शरीर को शीतल करने के लिए। आदिवासी लोगों में अनेक प्राकृतिक उपचार तथा जड़ी-बूटियों का ज्ञान लुप्त हो रहा है। इस लुप्त ज्ञान को लोक-गीतों में नाम सहित जाना जा सकता है। शिव को बेलपत्र चढ़ता है जो औषधीय गुण से भरपूर है। यह पेट के असाध्य रोगों को भी दूर करता है। भारतीय संस्कृति को नीम, पीपल और तुलसी के बिना विश्लेषित ही नहीं किया जा सकता है।

1.3.4.10 लोक-साहित्य और संगीत

संगीत का अर्थ है – गीत के साथ रहना। संगीत में स्वर का आरोह-अवरोह रहता है, जो गीत को गति प्रदान करता है। शिष्ट जनों में सहजता के स्थान पर संकोच का आवरण रहता है जबकि लोक में यह सहज प्रवृत्ति प्रबल होती है इसीलिए यह नित-नूतन लगती है। लोक-साहित्य के अन्तर्गत 'लोक गीत' संगीत शास्त्रियों का मार्गदर्शन तो करता ही है, साथ ही, प्रेरणास्रोत भी बनते हैं। ताल, तुक, लय और धुन आदि की दृष्टि से नए-नए अविष्कार करके उसे शिष्ट साहित्य में जिस प्रकार का आदान-प्रदान होता है उसी प्रकार संगीतशास्त्र के साथ भी होता है। लोक-साहित्य से प्रेरित अनेक राग-रागिनियों से संगीतशास्त्र समृद्ध हुआ है। फिल्मों ने लोक-साहित्य को बहुत आधुनिक बना दिया है। दोनों ने एक-दूसरे से लिया और दिया है। इस प्रकार लोक-साहित्य की उपयोगिता और अध्ययन के सन्दर्भों का महत्त्व समझा जा सकता है।

1.3.4.11 लोक-साहित्य और पाठानुसन्धान

प्राचीन ग्रन्थों के पाठानुसन्धान के लिए अनेक शब्दों अन्तर्कथाओं में प्रयोग किये गए नामों, प्रवृत्तियों आदि की जानकारी और परिचय आवश्यक होता है क्योंकि अनेक शब्दों के प्राचीन रूप विषयक ज्ञान का स्रोत एकमात्र लोक-साहित्य होता है। चूँकि अनेक शब्द प्रचलन के बाहर हो जाने के बाद भी लोक-साहित्य के भण्डार में सुरक्षित रहते हैं। भाषाविज्ञान के लिए जिस प्रकार लोक-साहित्य का उपयोग किया जाता है। उसी रूप में यह पाठालोचन तथा पाठानुसन्धान के लिए भी उपयोगी सिद्ध होता है।

1.3.5 हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में लोक तत्त्व

लोकज्ञान और बौद्धिक चेतना वाला समुदाय जो मानव की आदिम प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं के प्रवाह में बहता हुआ अकृत्रिम जीवन जीने में विश्वास रखता है द्वारा ऐसे लोक की अभिव्यक्ति जिन तत्त्वों के माध्यम से होती है, वे लोक तत्त्व कहे जाते हैं इसीलिए सम्पूर्ण मानव समुदाय लोक-साहित्य के महत्त्व को स्वीकार करने लगा है और सतत इसकी ओर आकर्षण बढ़ता जा रहा है। हमारे देश के लोक-साहित्य में अपार साहित्य-सम्पदा भरी पड़ी है। साहित्य में लोक तत्त्व तथा लोक मानस की उस अवदान-सामग्री को रेखांकित किया जाना आवश्यक है जो प्रकीर्ण और अलिखित तथा उपेक्षित रहकर भी अपनी अन्तःप्रेरणाओं से समूची मानव-चेतना को अपने रस-सलिल से अनुप्रेरित और अनुप्राणित करता आ रहा है। लोकभूमि के दर्शन के बिना शिष्टता की कोई सुघड़ परिभाषा नहीं दी जा सकती। लोक तत्त्व के परिचय के बिना भौतिक उपक्रम निरर्थक से हो जाएँगे। अत्याधुनिक पेटेंट विधि भी जब संकट में आ जाएगी तो उसे इन्हीं लोकतत्त्वों की शरण में आना पड़ेगा और तब हमारा संरक्षित लोक-साहित्य निश्चित रूप से उद्धार करेगा। स्वतन्त्रचेत्ता आलोचकों ने स्वीकार किया है कि लोक-साहित्य सदा से गेय रहा है और यह गेयता लोक-साहित्य से संस्कृत को प्राप्त हुई है। संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में लोक कथानकों को ही लिखित स्वरूप दिया गया है। हिन्दी में नाथों की वाणियों और सन्तों की रचनाओं का अधिकांश भाग लोक-साहित्य का है। एक प्रकार से इन रचनाओं की पूँजी है – लोक तत्त्व। अपभ्रंश साहित्य में कई रचनाएँ (प्रबन्धकाव्य) लोक कथाओं पर आधारित है। जैसे धनपाल रचित 'भविष्यत कहा' या भविष्यदत्त कथा। इसका दूसरा नाम 'सूर्यपंचमी कहा' भी है। इसमें घरेलू कहानी है जिसमें दो विवाहों के दुखद पक्ष को दर्शाया गया है। यह वणिक पुत्र भविष्यदत्त के भाग्य की कथा है।

'पाहुण दोहा' में लोकप्रचलित जीवन का उल्लेख है। बौद्ध-सिद्धों की रचनाओं में भी लोकानुभूतियों का वर्णन है, जैसे – रूई धुनना, मदिरा निकालना, ढेकी चलाना आदि। अपभ्रंश के कवियों का लोकजीवन से गहरा सम्बन्ध था। अपभ्रंश साहित्य ने लोकजीवन की सम्पूर्ण सम्पदा को अपनी झोली में भर लिया। नाथ साहित्य ने भी लोकजीवन में डूबकर अपने उन्हीं प्रतीकों के सहारे अपने गूढ़ ज्ञान को अभिव्यक्त किया है –

बाँधौ-बाँधौ बछरा पीओ पीर।
आकाश की धेनु बछा जाया, ताधेनु के पूछ न पाया।
बारह बछा सोरह गाई, धेनु दुहावत रैनि बिहाई।

सन्तों ने तो लोक गीकों के माध्यम से ही अपनी बात कही है। साधना एवं साधनात्मक अनुभूतियों, दोनों के वर्णन में यह विद्यमान है –

बन की हिरनी कूबै बियानी ससा फिरै आकाश,
दुल्हिन गावहु मंगलचार।
हमरे घर आए हो राजाराम भरतार,
झीनी-झीनी बिनी चदरिया॥

झुलनी का रंग साँचा हमार पिया,
कवन सोनरवा गढ़ायो रे झुलानिया,
पड़े नहीं रंग काँचा हमार पिया ॥

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में खुसरो की पहेलियाँ, विद्यापति की रचनाएँ, सम्पूर्ण रासो-काव्य सब पर लोक-साहित्य की छाप है।

भक्तिकालीन कवियों का सांस्कृतिक समन्वयवादी दृष्टिकोण मूलतः लोकानुभूति है। लोकजीवन में प्रचलित सोहर, हिंडोला, बारहमासा, होली-गीतों को लोककण्ठ से सुनकर सूरदास ने ब्रजवासियों का यथार्थ जीवन चित्रित किया है। तुलसी की रचनाओं में 'रामलला नहछू', 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल', 'गीतावली' पर लोक तत्त्व का साम्राज्य है। रामचरितमानस जैसा महाकाव्य भी लोक तत्त्व से अनुप्राणित है। कवितावली में लोकभाव द्रष्टव्य है –

पुर तें निकसी रघुवीर वधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर द्वै॥
फिर बुझती हैं चलिहौं अब केतिक, अरु पर्ण कुटी करिहौं कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की, अँखिया अति चारु चलीं जल च्वै ॥

मलिक मुहम्मद जायसी का 'पद्मावत' लोकरस से ओतप्रोत है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि जायसी सच्चे पृथ्वीपुत्र थे। वे भारतीय जनमानस के कितने निकट थे ! इसकी पूरी कल्पना करना कठिन है। गाँव में रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी सीमा के भीतर हर्षित स्वर में कवि ने अपने गान का स्वर ऊँचा किया है। जनता की शक्तियाँ और मान्यताएँ मानों स्वयं छन्द में बंधकर उसके काव्य में गुँथ गई हैं–

आवहिं झुंड सो पांतिहि पांति, गवां सोहाई सो भाँतिहि भाँति।
केस मेघावर सिरता पाई, चमकहिं दसन बीजु की नाईं॥

रीतिकाल में लोकजीवन की लोकोक्तियाँ एवं मुहावरों का समावेश है यद्यपि वह लोकजीवन से दूर है। आधुनिक कवियों में भी लोक तत्त्व दिखाई देते हैं। प्रेमचंद का समूचा कथानक लोकजीवन पर आधारित है। गोदान में होरी कहता है – "मजूरी करना कोई पाप नहीं है। मजूर बन जाए तो किसान बन जाता है। किसान बिगड़ जाए तो मजूर हो जाता है। मजूरी करना भाग्य में न हो तो यह सब विपत्ति क्यों आती है ? क्यों गाय मरती है ? क्यों लड़का नालायक निकल जाता है ?" वस्तुतः साहित्य अपने आदिम काल में लोक तत्त्व के सान्निध्य में रहा और यह सान्निध्य तादात्म्यीकरण तक था। साहित्य और लोक तत्त्व अविभाज्य अंग हैं इसीलिए साहित्य में लोक तत्त्व की व्याप्ति शाश्वत है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है कि भारतीय साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाव लोक-साहित्य पर आधारित है। इसी बात को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि साहित्य के कच्चे माल का भण्डार लोक-साहित्य है।

1.3.6 वर्तमान अभिजात साहित्य और लोक-साहित्य का अन्तस्सम्बन्ध

किसी भी भाषा का अभिजात साहित्य लोक-साहित्य के प्रभाव से अपने को पृथक् नहीं रख सकता। लोक-कथाएँ, लोक गाथाएँ एवं लोक-गीतों से प्रेरणा ग्रहण करके ही शिष्ट साहित्य के कला, साहित्य, काव्य एवं महाकाव्य की रचना की जाती रही है। यहाँ तक कि रामायण और महाभारत जैसे अद्वितीय ग्रन्थों के बीज भी लोक वार्ता में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार अभिजात साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों का परिचय हमें लोक-साहित्य में मिलता है। लोक-साहित्य की अनेक सहज, स्वाभाविक, मार्मिक एवं प्रभावी उक्तियों एवं अभिव्यंजना पद्धतियों द्वारा अभिजात साहित्य का कोश समृद्ध किया जा चुका है। लोक-साहित्य सदैव साहित्य के लिए उपयोगी रहा है। वस्तुतः जब लोक मानस परिष्कृत मानस का रूप ग्रहण करता है अर्थात् सहज विश्वास के स्थान पर तर्क और बौद्धिकता की प्रधानता हो जाती है और रचनाकार का वैयक्तिक स्वरूप उसमें स्पष्ट दिखाई देने लगता है तब लोक-साहित्य का स्थान अभिजात साहित्य ले लेता है। इस प्रकार अभिजात साहित्य में वाङ्मय के उस भाग को ग्रहण कर सकते हैं जो कलात्मक साहित्य कहा जाता है। जब रचनाकार शिष्ट भाव, अभिजात विचार, परिमार्जित भाषा, कलात्मक शैली के आधार पर रचना करने में प्रवृत्त होता है तो वह अभिजात साहित्य की सर्जना करता है।

लोक-साहित्य स्वतः स्फूर्त होता है भावना के स्तर पर और भाषा स्वतः स्फूर्त होती है सहजता के स्तर पर। इस दृष्टि से आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण भी भावनात्मक संवेग का स्वतः स्फूर्त काव्य है। शास्त्रीय नियमों की तूलिका भले ही बाद में चलाई गई हो। जहाँ तक लोकभाषा का प्रश्न है, इसे भला कौन अस्वीकार कर सकता है कि किसी भाषा को प्राणवान् उस भाषा के मुहावरे और कहावतें बनाती हैं। दूसरी बात यह है, लोक-साहित्य मौखिक परम्परा का साहित्य है। इसका भी गहरा सम्बन्ध अभिजात साहित्य से है क्योंकि यह वैज्ञानिक तथ्य है, कोई भी लिखित शिष्ट साहित्य तभी समृद्ध होगा जब उसकी लौकिक परम्परा समृद्ध होगी। दोनों का गहरा अन्तस्सम्बन्ध है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी मौखिक साहित्य परिष्कृत भाषा को गढ़ने में सदैव सहयोगी और उपयोगी रहा है। स्वच्छन्द और स्वतन्त्र रूप से गढ़े गए लोक शब्द ही कलम द्वारा परिनिष्ठित करके शिष्ट शब्द बनाए जाते हैं।

1.3.7 पाठ-सार

लोक-साहित्य ने अभिजात या शिष्ट साहित्य को सुदृढ़ धरातल प्रदान किया है। वर्तमान में जिस अभिजात साहित्य का हम दर्शन करते हैं उसकी प्राणवायु लोक-साहित्य से ही है। लोक-साहित्य के मूल पर ही शिष्ट साहित्य का विशाल फल-फूलों वाला वृक्ष तैयार हुआ है। कालान्तर में कला के सहयोग से यही लोक गीत साहित्यिक गीत बन गए। इनमें कवि-रुचि प्रधान होने लगी। फिर भी इनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ रहीं, जो इनके आदिम सामाजिक स्वरूप की ओर संकेत करती है। इनके आकार और संस्कार बहुत दिनों तक लोक-गीतों के समान ही बने रहे। इस प्रकार निम्नलिखित तत्त्व को दोनों साहित्य में समान रूप से पाए जाते हैं –

1. पशु और पक्षी पात्र दोनों साहित्य में समान व्यवहार करते हैं, जैसे – रामायण में जटायु, हनुमान, मृग आदि। शकुन्तला की विदाई की वेला में जीव-जन्तु मनुष्य की भाँति दुखी और उदास हो जाते हैं। लोक गाथाओं में भी यही आचरण पाया जाता है।
2. मुहावरे और लोकोक्तियाँ सीधे-सीधे लोक-साहित्य से अभिजात साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं।
3. लोक कथाओं और गाथाओं की रूढ़ियाँ अभिजात साहित्य में भी पाई जाती हैं। ये कथा को गति प्रदान करती हैं।
4. भाषाई दृष्टि से शब्द-भण्डार के लिए दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं।
5. जीवन की जीवन्त अनुभूतियाँ दोनों साहित्य में समान रूप से पाई जाती हैं।

1.3.8 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. लोक-साहित्य का अर्थ है –

(क) मौखिक अभिव्यक्ति
(ख) लिखित साहित्य
(ग) परिष्कृत साहित्य
(घ) अभिजात साहित्य

2. अभिजात साहित्य का तात्पर्य है –

(क) सहज अभिव्यक्ति
(ख) अज्ञात रचनाकार का साहित्य
(ग) अलिखित साहित्य
(घ) ज्ञात रचनाकार की अभिव्यक्ति

3. लोक और अभिजात साहित्य में सम्बन्ध है –

(क) भावनात्मक स्तर पर
(ख) भाषा के स्तर पर
(ग) रूप के स्तर पर
(घ) अलंकार के स्तर पर

4. लोक-साहित्य का प्रमुख लक्षण है –

(क) मौखिक परम्परा द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढती है
(ख) लिखित परम्परा है
(ग) व्यक्ति विशेष की परम्परा
(घ) सचेष्ट जन साहित्य है

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लोक-साहित्य के लक्षण बताइए।
2. लोक-साहित्य को अपने शब्दों में परिभाषित कीजिए।
3. लोक-साहित्य के क्षेत्र के विषय में लिखिए।
4. लोक-साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध के विषय में लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोक-साहित्य और अन्य समाज विज्ञान के अन्तस्सम्बन्ध के विषय में लिखिए।
2. हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य में लोक तत्त्व के विषय में विस्तार से लिखिए।
3. अभिजात और लोक-साहित्य का सम्बन्ध बताइए।
4. लोक-साहित्य पर निबन्ध लिखिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 1

इकाई – 1 : लोक-गीत : प्रतिपाद्य एवं महत्त्व, सामान्य प्रवृत्तियाँ और रूढ़ियाँ, लोक गीत एवं शिष्ट गीत, लोक-गीतों का वर्गीकरण : समस्या और समाधान, लोक-गीतों के वर्गीकरण की परम्परा, लोक गीत के निर्माणक तत्त्व, लोक-गीतों में निरूपित संस्कृति, विभिन्न प्रकार के गीत यथा – संस्कार-गीत, व्रत-गीत, श्रम-गीत, ऋतु-गीत, जाति-गीत आदि का परिचय, लोक-गीतों में संगीत का विधान एवं वाद्य-यन्त्र, लोक-गीतों के गाने में प्रयुक्त लोक-वाद्य, लोक गायक, लोक गायकों का वर्गीकरण, विशिष्ट लोक-धुनों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

2.1.00 उद्देश्य कथन
2.1.01 प्रस्तावना
2.1.02 लोक-गीतों का प्रतिपाद्य एवं महत्त्व
    2.1.02.1 लोक-गीतों का प्रतिपाद्य
    2.1.02.2 लोक-गीतों का महत्त्व
2.1.03 लोक-गीतों की सामान्य प्रवृत्तियाँ और रूढ़ियाँ
    2.1.03.1 लोक-गीतों की सामान्य प्रवृतियाँ
    2.1.03.2 लोक-गीतों की रूढ़ियाँ
2.1.04 लोक गीत एवं शिष्टगीत
2.1.05 लोक-गीतों का वर्गीकरण : समस्या और समाधान
    2.1.05.1 समस्या
    2.1.05.2 समाधान
2.1.06 लोक-गीतों के वर्गीकरण की परम्परा
2.1.07 लोक गीत : निर्माणक तत्त्व
2.1.08 लोक-गीतों में निरूपित संस्कृति
2.1.09 लोक गीत : विभिन्न प्रकार के लोक-गीतों का परिचयात्मक अध्ययन
2.1.10 लोक-गीतों में संगीत का विधान एवं वाद्ययंत्र
    2.1.10.1 संगीत का विधान
    2.1.10.2 वाद्य यंत्र
2.1.11 लोक गायक
2.1.12 विशिष्ट लोक-धुनों का परिचय
2.1.13 पाठ-सार
2.1.14 बोध प्रश्न
2.1.15 कठिन शब्दावली
2.1.16 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.1.00 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत लोक-गीतों के सैद्धान्तिक पक्ष की जानकारी दी जाएगी । प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप लोक-गीतों से सम्बन्धित निम्नलिखित बातें जान सकेंगे –

i. लोक-गीत का अर्थ
ii. लोक-गीतों का महत्त्व
iii. लोक-गीतों व साहित्यिक गीतों का अन्तर
iv. लोक-गीतों की वर्गीकरण परम्परा
v. लोक-गीतों के वर्गीकरण में आने वाली समस्याएँ व उनके समाधान
vi. लोक-गीतों का निर्माण करने वाले तत्त्व
vii. लोक-गीतों, लोक वाद्यों व लोक गायकों के प्रकार
viii. लोक-गीतों में प्रयुक्त प्रमुख लोक धुनें

2.1.01 प्रस्तावना

लोक-मानस के तत्त्व समस्त देशों, धर्मों, सम्प्रदायों तथा जातियों में मिलते हैं । लोक-मानस और लोक-हृदय की सुख-दुःख की घड़ियों के खट्टे-मीठे अनुभव उनके लोक-गीतों के माध्यम से प्रकट होते हैं । जितना फैलाव संसार व प्रकृति का है उतना ही विस्तार लोक-गीतों के विषयों का है । सम्पूर्ण धरती, इस धरती की समस्त वनस्पति और अनन्त व्योम ही नहीं, मानव-मन और उसके अन्तर की अगणित कल्पनाएँ, भावनाएँ और विचारधाराएँ सभी कुछ इन लोक-गीतों में वर्णित-विवेचित होता है । नर-नारी के समस्त रिश्ते-नाते यथा माँ-बाप, भाई-बहन, पति-पत्नी, सास-बहू, ननद-भाभी, मौसी-भुआ, देवरानी-जेठानी, दादा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची, बेटा-बेटी, पोता-पोती इत्यादि समस्त पारिवारिक-सामाजिक सम्बन्ध, इन गीतों में भाँति-भाँति से गाये गए हैं ।

2.1.02 लोक-गीतों का प्रतिपाद्य एवं महत्त्व

2.1.02.1 लोक-गीतों का प्रतिपाद्य

जीवन की सुमधुर झंकार, हृदय का प्रेम, मन की पुकार, माँ का दुलार, विरह का विलाप, सावन की फुहार, बसन्त की बहार जैसे सरल-सहज, साफ-सुथरे अनगिनत गेयात्मक तथा लयात्मक भावों की अभिव्यक्ति का नाम लोक गीत है । हृदय की गहराइयों से सहज रूप में फूट पड़ने वाले ये लोक गीत लोक-मानस की लोक-लहर हैं । लोक-गीतों के इस सौन्दर्य में मनुष्य जीवन के समस्त रंग समाहित हैं । मनुष्य का बचपन लोरियों में झूलता है, यौवन प्रेममय रंगों से रंगीन रहता है तथा बुढ़ापे की जीवनयात्रा इन गीतों में विश्राम पाती है । सच्चे अर्थों में, लोक गीत ही लोक-संस्कृति के उन्नत दर्पण होते हैं । लोक गीत प्राचीन होते हुए भी नितप्रति नूतन हैं ।

लोक गीत लोक-मानस का वह केन्द्र-स्थल है, जिसमें मनुष्य की कल्पनाएँ और भावनाएँ अंकुरित और पल्लवित होती हैं। लोक-गीतों में जीवनानुभूत सच्चाई, प्रणय की मधुर व्यंजना, विरह-वेदना की पीड़ा साहित्य, संगीत तथा कलात्मक वैभव के साथ-साथ संस्कार रूपी झरने व सामाजिक रीति-रिवाज तथा परम्पराओं के महानद हिलोरे लेते हैं। लोक-गीतों की सृष्टि में शास्त्रीय गायन से विलग भावों की सौंधी महक से सामूहिकता की इन्द्रधनुषी छटा बिखरी पड़ी है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार – "लोक गीत की एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ और खण्डिताएँ न्योछावर की जा सकती हैं क्योंकि ये निरलंकार होते हुए भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से विभूषित होने पर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं। ये अपने आप में पूर्ण हैं।"

लोक गीत भावशील मनुष्य का रागात्मक स्वभाव है। ये भारतीय संस्कृति के समृद्ध भण्डार हैं, जिसमें भारतीय जन-जीवन प्रतिबिम्बित हो उठा है। मानव जीवन का कोई भी कोना इनसे अछूता नहीं रह पाया है। इसी कारण लोक गीत मात्र मनोरंजन तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि इसका मूल प्रयोजन मनुष्य जीवन से जुड़ा हुआ है। लोक-गीतों के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष को उजागर करते हुए शान्ति जैन ने लिखा है – "लोक-गीतों में लोक का समस्त जीवन चित्रित होता है। शिशु के प्रथम क्रन्दन से लेकर जीवन की अन्तिम कड़ी तक के भाव-चित्र इनमें हैं। भाई से मिलने को व्याकुल बहन की व्यथा-कथा, स्त्रियों का आभूषण प्रेम, सास, ननद तथा सौत के अत्याचारों से पीड़ित स्त्री की मनोव्यथा, कृषक परिवार की विपन्नता, वीरों की शौर्य-गाथा तथा विरह के रंगारंग भाव इन गीतों में मिलते हैं। दूसरे शब्दों में इन लोक-गीतों में जीवन का शाश्वत सत्य झलकता है।"

महादेवी वर्मा के मतानुसार – "सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष को गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रित कर देना ही गीत है और इस गीत में सहज चेतना जुड़ जाती है तो वह लोक गीत बन जाता है। लोक गीत गगनचुम्बी हिम-श्रेणियों के बीच में एक ऐसा सजल आलोकोज्ज्वल मेघखण्ड है, जो न तो इनके टूट-टूटकर गिरने वाले शिलाखण्डों से दबता है और न इन श्रेणियों की सीमाओं में आबद्ध होकर ससीम बनता है, प्रत्युत इन चोटियों का शृंगार करता है और संगीत लहरी के प्रत्येक स्पन्दन-कम्पन के साथ उड़कर उस विशालता के कोने-कोने की मादकता का सागर प्रस्तुत करता है।"

लोक-गीतों के रचनाकार, रचनाकाल और रचना-स्थल अज्ञात होते हैं। लोक गीत लोक की आत्मा हैं। ये जनता के वे मौखिक आख्यान हैं, जो एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ तक, एक हृदय से दूसरे हृदय तक गुंजायमान होते हुए पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते हुए चले आ रहे हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है – "लोक गीत जिसमें विराट् प्राण स्वयं गा उठता है। इसे सच ही Poetry of the people that 'Sings it self' कहा गया है। यह इसी कारण अलिखित और अनाम भी होता है।" लोक गीत अमर हैं तथा इनकी मर्मस्पर्शी गहराइयों को किसी भी देशकाल या परिस्थिति की विभाजन-रेखा में नहीं बाँधा जा सकता है। लोक गीत लोकजीवन से पुष्ट होते हैं तथा लोकजीवन को सरसता भी प्रदान करते हैं। लोक-गीतों में जीवन रसाप्लावित होकर प्रकट हुआ है और इसीलिए लोक-गीतों का अपना बड़ा रंग-बिरंगा व महान् संसार है।

2.1.02.2 लोक-गीतों का महत्त्व

लोक-गीतों ने अपने कलेवर में समस्त प्रकार के वर्णनों को स्थान दिया है। घर परिवार में इन लोक-गीतों के माध्यम से ही मान-मर्यादा, रीति-नीति और कर्त्तव्य-बोध की लोक-सुहाती सीख दी जाती है। इन गीतों की सुगढ़ पंक्तियों में जिम्मेदारी और मर्यादा-पालन का बोध कदम-कदम पर दिख पड़ता है। इन गीतों की लोरी सुन शिशुस्वरूप मनुष्य सुखभरी नींद सोता है तो अल्हड़ जवानी को उन्मादी रूप मनमोहक चित्रों में उकेरा दिखाई देता है वहीं श्रान्त बुढ़ापे के अक्षय अनुभवों का सार भी यहीं है।

ये लोक गीत समाज रूपी बगिया को प्रेमजल से सींचने वाले गीत माने गए हैं। धर्म-कर्म की बातें इन्हीं गीतों का स्पर्श पाकर दिग्दिगन्त तक फैलती हैं। लोक गीत मानव जीवन की शुरुआत जितने प्राचीन तो नवप्रसूत शिशु के-से नूतन होते हैं। प्राचीन जीवन के प्राचीन सन्देश इनमें मिलते हैं देश का सांस्कृतिक इतिहास इन्हीं में सुरक्षित है। कितनी ही ऐतिहासिक घटनाएँ अपने यथार्थ रूप में यहाँ सुरक्षित हैं। मानव जीवन की श्रेष्ठता स्थापित करने वाली खरी रीति-नीति की बातें और उनके सन्दर्भ इन गीतों के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किए जाते हैं। लोक-गीतों के महत्त्व को उजागर करते हुए लाला लाजपतराय ने लिखा है – “देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक और सामाजिक आदर्श इन गीतों में इतना सुरक्षित है कि इनका नाश हमारे लिए दुर्भाग्य की बात होगी।”

2.1.03 लोक-गीतों की सामान्य प्रवृत्तियाँ और रूढ़ियाँ

2.1.03.1 लोक-गीतों की सामान्य प्रवृतियाँ

लोक-गीतों का उपयुक्त परिचय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि लोक-गीतों का जिज्ञासु इनकी सामान्य प्रवृत्तियों तथा रूढ़ियों से अवगत हो। लोक-गीतों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ जो उभर कर सामने आती है, वे सभी भाषाओं के लोक-गीतों में लगभग एक जैसी परिलक्षित होती हैं। अनेक लोक-साहित्यविद् इन प्रवृत्तियों को कुछ इस तरह विवेचित करते हैं –

1. <u>लयपूर्त्यर्थक पद योजना</u> :

सभी प्रदेशों के लोक-गीतों की लय या धुन को साधने हेतु कुछ पदों का सहारा लिया जाता है। जैसे – हे, हो, हाँ, वे, ओ, रे इत्यादि। इससे स्वर साधने व तुकान्त को सरल बनाने में सहजता आ जाती है। लय की पूर्ति हेतु आने वाले इन पदों का हालाँकि कोई अर्थ नहीं होता है परन्तु गीत की लय को ये साधते हैं। लोक-गीतों में ये प्रवृति प्रमुखता से दिखाई देती है। ब्रज लोक-गीतों की भाँति राजस्थानी व अन्य लोक-गीतों में भी यह प्रवृति नजर आती हैं। राजस्थानी लोक-साहित्यकार डॉ॰ एस. डी. चारण के अनुसार अरे, हाँ, अहा, हां, हो, जी, हाँ जी, रे, हाँ जी रे, ओ, औ, जी, अे आदि उद्गारवाचक स्तोभाक्षरों का राजस्थानी लोक-गीतों में प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ राजस्थानी का एक लोक गीत उदाहरणार्थ प्रस्तुत है –

कांकरियाँ रा कोटड़ला चुणाय, जी ओ मारू रे।
ईटां रा चुणायदो मिंदर माळिया हो जी।

और उधर ब्रजभाषा के लोक गीत में प्रयोग किया गया है –

आषाढ़ तुलसा बैंयन लागी तौ सामन द्वै-द्वै पात हो राम।
भादो में तुलसा गरब गवीली, तौ क्वार में पितर समौधे हो राम ॥

2. समान ध्वनि के लिए निरर्थक शब्दों का प्रयोग :

गीत में नाद-सौन्दर्य या सादृश्य को ध्यान में रखते हुए कुछ ऐसे निरर्थक शब्दों का प्रयोग सार्थक शब्दों के साथ किया जाता है, जिससे गीत का नाद-सौन्दर्य बढ़ जाता है। जैसे –

कोरा-मोरा कूंडिया रै माँय करैला री बेल।
करैलौ म्हैं वायो रै लाल ॥

और भी,

गागरिया नाएँ रे जल कैसे भरूँ,
कौन सम्हारै अगरी-गगरी,
कौन सम्हारै नंदलाला,
कौन राजा मोइ रे।

सादृश्य के आधार पर नए शब्दों को गढ़ना व उन्हें मूल शब्द के साथ लगाकर बोलना लोकजीवन की एक खास प्रवृत्ति सदा से रही है और यह प्रवृत्ति लगभग सभी बोलियों में पाई जाती है। चूँकि लोक-गीतों का ताना-बाना भी इन्हीं बोलियों में गूँथा गया है अतः इस प्रवृति ने सहज ही में लोक-गीतों में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

3. समानार्थी शब्दों का प्रयोग :

इस प्रवृत्ति के पृष्ठ में लोककवि की मंशा किसी शब्द विशेष पर बल प्रदान करने की रही है, इसीलिए एक से अर्थ देने वाले दो शब्दों को पास-पास बैठा दिया गया है। जैसे –

खाय मरूं जै'र-विस ओ ई म्हारौ जोर है।

इस पंक्ति में जहर व विष समानार्थी शब्दों द्वारा मरने की बात पर बल दिया गया है।

एक अन्य गीत में –

बाळूं-झाळूं थारी जिभड़ली नणदल म्हारी अे,
ऊपर राळूं सेधौं लूण बिणजारी अे ।

4. सम्बोधनात्मक शब्दों का प्रयोग :

अक्सर देखा जाता है कि लोक-गीत संवाद आधारित होते हैं । माँ-बेटी, भाई-बहन, पति-पत्नी, देवर-भाभी इत्यादि रिश्ते जब आपसी मनोभावों को आपस में बाँटने की ओर मुखर होते हैं तो वहाँ ये संवाद सम्बोधन शैली को अपनाते हुए कुछ इस तरह अभिव्यक्त होते हैं –

कठोड़ै बसैला अे माँ म्हारी अे,
दोय दादर मोर,
कठोड़ै बसैला वन री कोयलाँ,
बन में बसैला अे धीया म्हारी अे ।
दोय दादर मोर
बागां में बसैला वन री कोयलाँ ॥

और भी,

ऊँचले मगरे जाऊँ अे माँय ।
उळिया काचर लाऊं अे माँय ॥
छोल ने छमकाऊं अे माँय ।
वीरे ने जिमाऊं अे माँय ॥
वीरो म्हारौं भाई अे माँय ।
म्है वीरे री बाई अे माँय ॥

कई बार प्राकृतिक उपादानों को भी लोक-गीतों में सम्बोधित किया जाता है –

हळदी अे थारा लांबा तीखा पान ।
गज गाँठिया सूँ नीपजै ॥
सरवर थारी ऊँची पाळ ।
दोय उजळावत दीसै आवता ॥

और भी,

चांदा थारै चाँदणै रमिया सगळी रात ।
डोरों हीर रौ रै लाल ॥

कई बार ये सम्बोधन लय की पूर्ति करते हुए भी गीत का अभिन्न अंग बन जाते हैं ।

5. एक ही वर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का पास-पास प्रयोग :

एक ही वर्ण की बार-बार आवृति भी इन गीतों की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृति है। प्रसव-वेदना के एक गीत में –

नैनी सी नार नारेळी सो पेट,
चाले है चीस उतावळी जी,
ज्यूँ चालै ज्यूँ धण लुळ-लुळ जाय,
चालै है पीड़ उतावळी सा।

वर्णावृति के इस सहज प्रसूत चमत्कार से लोक-गीतों में निराली ही कर्णप्रियता का समावेश हो जाता है।

6. पुच्छ पदों की योजना :

ब्रज प्रदेश के लोक-गीतों में यह प्रवृत्ति बहुतायत से देखने में आती है। इनमें कई पदों के बाद एक ही चरण पुच्छ पद के रूप में प्रयुक्त होता है। जैसे–

बैठ्यो आसन मारिकें, सोवै पाँव पसारि।
चारी पहर भजन में बीते, भयौ सकारयौ आइ,
कृस्न गुन गाइयें।

7. धुनार्थ निषेधात्मक पदप्रयोग :

किसी बात को सरल-सहज तरीके से कहने हेतु इन लोक-गीतों में निषेधात्मक पदों का प्रयोग किया जाता है। जैसे – न, ना। ऐसा जान पड़ता है कि धुन की सार्थक योजना ही इस निषेधात्मकता का कारण रही होगी।

फूल में फूल गुलाबी, सूरज पैइयाँ लागू न हो।
सूरज तुम मोई साददेऊ बहुत गुनगाऊँ न हो॥

8. चरणान्तर तुकबंदी :

गीत के चरणान्त में तुकबंदी साधारणतया सभी प्रकार के गीतों में पाई जाती है परन्तु कभी-कभी चरण के मध्य में दो-दो, तीन-तीन बार तुक-मिलान की प्रवृति भी लोक-गीतों में देखी जा सकती है –

नेनन ते गम की झड़ी,
लड़ी हर घड़ी मुसीबत कड़ी,
सह नाइ जावै,
बालम बिन बारह मास नींद न आवै।

झूलना गीतों, जिकड़ी भजनों इत्यादि में यह प्रवृति दिखाई देती है।

2.1.03.2 लोक-गीतों की रूढ़ियाँ

लोक-गीतों की परम्परा से चली आ रही प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे लोक-गीतों की रूढ़ियों का रूप धारण कर लेती हैं। लोक-गीतों की प्रमुख रूढ़ियों को पाँच प्रकार से विभाजित किया जा सकता है–

1. संख्याओं से सम्बद्ध रूढ़ियाँ :

लोक-गीतों में संख्याओं में अनेक प्रकार से प्रयोग दिखाई देते हैं। जैसे – माँगलिक संख्याएँ, परिमाण बताने वाली संख्याएँ, क्रमानुसार आने वाली संख्याएँ, संयुक्त संख्याएँ, निश्चित संख्याएँ आदि।

(1) लोक-विश्वासों में कुछ संख्याएँ शुभ व कुछ अशुभ मानी जाती हैं। शुभ संख्याओं के प्रयोग लोकगीतों में अधिक मिलते हैं। जैसे – पचरंगी पाघ, पचरंगी चूँदड़ी, सात सुहागिनें, सात सहेलियाँ आदि। जैसे –

सात सहेलियाँ रौ झूलरौ, अे पणिहारी जिए तो।
गई-गई समंद तळाब वा ला जो ॥

(2) इसी प्रकार परिमाण द्योतक संख्या में प्रायः 'नौ' की संख्या का उल्लेख मिलता है। जैसे –

अरी राई री नौ मन सरसों पिलाऊँ,
मसाल जुराऊँ बाई ऐ लै चलू दाई री।

(3) क्रमिक संख्या के प्रयोग, क्रमानुसार संख्याओं को गीतों में स्थान देना। जैसे–

मारू थारा देस में निपजै तीन रतन एक ढोलो,
दूजी मारवण तीजौ कसूमल रंग।

तथा,

एक बन लांगियो रे मिरगा,
दूजौ बन लांगियो रे,
तीजै फंदै में नहीं पड़ना, मिरगला रे।

(4) संयुक्त संख्याओं का प्रयोग–

पूरी तो सेकूँ देवर कूँ लचपचीजी,
एजी कोई साग करूँ दस-बीस।

(5) इसी भाँति निश्चित संख्याओं के प्रयोग भी लोक-गीतों में किए जाते हैं –

कहाँ जी धरे एँ पाँचों कापड़े, कहाँ धरे एँ पाँचों हथियार।
सिंदूक धरे हैं पाँचों कापड़े, खूँटी टँगे ऐं हथियार॥

अन्य उदाहरण प्रस्तुत है –

आडौ ओ नणदल बाई सुणीजै बायड़मेर,
आडी सोढां री सोळै कोटड़ियाँ,
लूंगं हंदौ ओ हंजामारू मैल चुणाय़
जाळियाँ तौ रखावौ पूरी डोढ़ सौम्हारा राज।

2. अतिशयोक्ति विषयक रूढ़ियाँ :

लोक कवियों की यह एक खास प्रवृत्ति रही है कि वे तथ्यों को बढ़ा-चढ़ाकर अतिरंजना के स्तर तक ले जाते हैं। लोकजीवन के जो चित्र कवि ने उकेरे हैं, वे ग्रामीण जीवन की अति सुदृढ़ता को दर्शाते हैं।

एक साधारण ग्रामीण ललना का 'रतन कटोरे' में मेंहदी भिगोना, सोने की थाली में भोजन परोसना, मोती-माणक से चौक पूरना आदि बातें ग्रामीण जीवन की भव्यता प्रदर्शित करती हैं, जो कि वास्तविकता से परे है। 'चँवरी' निर्माण के एक राजस्थानी लोक गीत में ऐसी ही बात कही गई है –

सोनै रूपै री चार खूँटियाँ घड़ावौ,
केसर गार घलावौ, ओ राज,
पिचरंग रेसम, रौ ताँण तणावौ,
अगर चन्नण री समधियाँ मंगावौ ...।

एक अन्य लोक गीत में बहुत सहजता से मोतियों से माँग भरने की बात कही जा रही है –

कर कंकन सोहै हाथ चुरियन बाँह भरी।
सिर सोहै दाखिनी चीर, मुतियन माँग भरी॥

3. प्रश्नोत्तर सम्बन्धी रूढ़ियाँ :

सवाल और उसके जवाब के आधार पर लोक गीत को गति प्रदान की जाती है। यह रूढ़ी गीत में उत्सुकता को उत्पन्न कर उसे रोचक बना देती है –

कुण जी दिवलौ सँजोवियौ,
कुणजी हेरयो नवसर हार,
डोरौ हीर रौ रे लाल,
वाभी जी दिवलौ सँजोवियौ,

वीरौ सा हेरयो नवसर हार,
डोरौ हीर रौ रे लाल।

4. पुनरावृत्ति की रूढ़ियाँ :

गीत के बोलों के दुहराव की प्रवृत्ति भी लोक-गीतों में बहुतायत से मिलती है। न केवल बोल बल्कि पूरे चरण को दुहराने के उदाहरण भी देखे जाते हैं –

इरंडिये रा ऊखळ माँय धम्मड़ खीच छड़ियौ अे।
घम्मड़ खीच छड़ने म्है तो डांगळिये सुखायौअे॥
डागळिये सुखाय म्हैं तो छाजळै छटकायौ अे।
छाजळै छटकाय म्है तो धम्मड़ घरटी पिस्यौ अै॥

5. अनन्त संयोजन :

गीत को विस्तार प्रदान करते हुए उसके कलेवर को भाँति-भाँति के गहनों, रिश्तों, स्थानों आदि के नाम ले-लेकर बढ़ाया जाता है। शारीरिक अंगानुसार अलग-अलग गहनों के नाम जोड़ते हुए गीत को बढ़ाया जाता है।

गणगौर पर्व का गीत –

खेलण दो गणगौर, भँवर म्हानै पूजण दो गणगौर,
ओ जी म्हारी सहेलियाँ जोवे बाट,
माथा ने मेंमद लाव, भँवर म्हारी रखड़ी रतन जड़ाव।

2.1.04 लोक गीत एवं शिष्टगीत

शिष्टगीत का तात्पर्य उन साहित्यिक गीतियों से है जो शास्त्रीयता के नियमों में आबद्ध है जबकि लोक गीत किसी नियम में बँधा हुआ संगीत नहीं है, यह सहज रूप में फूट पड़ने वाले प्राकृतिक स्रोत सदृश है। लोक गीत व शिष्टगीत का पार्थक्य डॉ॰ गुलाब राय ने इस प्रकार बताया है – "गीत लोक गीत भी होते हैं और साहित्यिक भी। लोक-गीतों के निर्माता प्रायः अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ में वह व्यक्त भी रहता है। ये लोक-भावना में अपने भाव मिला देते हैं। लोक-गीतों में होता तो निजीपन ही है किन्तु उनमें साधारणीकरण और सामान्यतया कुछ अधिक रहती है तभी वे वैयक्तिक रस की अपेक्षा जनरस उत्पन्न कर सकते हैं। साहित्यिक गीतों में निर्माता का निजीपन अधिक रहता है।"

इसी सन्दर्भ में श्री रामखेलावन पाण्डेय के विचारानुसार – "लोक गीत व साहित्यिक गीतियों का भेद कृत्रिमता-अकृत्रिमता तक ही सीमित न होकर आत्मीयता, आत्मनिष्ठा एवं संवेदनशीलता की कोटियों में भी दोनों में अन्तर है। शास्त्रीय (शिष्टगीत) काव्य-विधान में उपर्युक्त कोटियों का अभाव है। आप मानते हैं कि – "कला

यदि रागात्मक क्षणों की आवेशपूर्ण अभिव्यक्ति है, तो ग्राम-गीत निश्चय ही कलात्मक हैं। उनमें भावना और संगीतात्मकता का समन्वय है।"

लोक-साहित्य विधाओं द्वारा लोक-गीतों की विशेषताओं का वर्णन-विवेचन किया गया है। डॉ॰ श्याम परमार के अनुसार – "लोक गीत निर्वैयक्तिक हैं। उन्हें समूह द्वारा निर्मित माना जाता है इसलिए व्यक्तित्व का अभाव और समूह अथवा जातीय विशेषताओं के लक्षण उनमें मिलते हैं। संक्षेपतः अकृत्रिमता, सामूहिक भावभूमि, परम्परात्मकता एवं मौखिक परम्परा के गुण, रूढ़ अतिशयोक्ति तथा संगीतात्मकता आदि लोक-गीतों की विशेषताएँ हैं।"

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यदि लोक गीत व शिष्टगीत के स्वरूप की तुलना की जाए तो 'संगीतात्मकता' ही एक ऐसी विशेषता है जो शिष्ट-गीतों में भी पाई जाती है। इस प्रकार लोक-गीतों की ये विशेषताएँ स्वतः ही दोनों का अन्तर स्पष्ट कर देती हैं।

लोक गीत एवं शिष्टगीत के अन्तर को कुछ इस भाँति भी प्रकट किया जा सकता है –

1. लोक-गीतों में मानव-हृदय की प्रकृत भावनाओं एवं विभिन्न राग वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है।
2. लोक-गीतों में भावों को प्रकट करने के लिए वाणी का जो आश्रय लिया जाता है, वह लयात्मक होता है।
3. लोक-गीतों में सामूहिक प्रवृत्ति अधिक व्यापक है।
4. लोक-गीतों का रचयिता अज्ञात होता है परन्तु शिष्ट-गीतों का रचयिता ज्ञात होता है। व्यक्ति विशेष की रचनाएँ भी सामूहिक भावनाओं में ढलकर सामान्य हो जाती हैं।
5. लोक-गीतों में प्राचीनतम मानव-सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न चित्र अंकित रहते हैं पर शिष्टगीत आधुनिकता लिये होते हैं।
6. लोक-गीतों से मनोरंजन भी होता है पर आवश्यक नहीं कि शिष्टगीत से मनोरंजन हो।

उपर्युक्त विशेषताओं में भी लयात्मकता विषयक विशेषता ही शिष्ट-गीतों में पाई जाती है शेष नहीं। इस प्रकार संगीतात्मकता, लयात्मकता जैसी विशेषताओं में लोक गीत व शिष्ट-गीतों का साम्य है जबकि लोक-गीतों की अन्य विशेषताएँ शिष्ट-गीतों से मेल नहीं खाती हैं।

2.1.05 लोक-गीतों का वर्गीकरण : समस्या और समाधान

2.1.05.1 समस्या

लोक गीत लोक-मानस की स्वतः स्फूर्त निर्झरणी है। चूँकि मानव चिन्तन-क्षेत्र अति व्यापक है जिसका कोई ओर-छोर पकड़ में नहीं आ सकता, ऐसे में लोकाभिव्यक्ति भी बहुत विस्तृत हो गई है जो कि लोक-गीतों के रूप में हमें कभी आह्लादित करती है तो कभी रुलाती है, कभी संस्कार हस्तान्तरण की परम्परा निभाती दिखती है

तो कभी श्रम के क्षेत्र में घुमा ले आती है, कभी इनमें पर्वों का आनन्द मूर्तिमत हो उठता है तो कभी यहाँ बाल-सुलभ चेष्टाओं के दर्शन पाते हैं, तो कहीं ये पेशेवर कलाकारों के जीविकोपार्जन के साधन बने दीख पड़ते हैं।

लोक गीत रूपी इस विशाल राशि को पूर्णतः समेटते हुए तथा इसे कुछ ही वर्गों पर आधारित करते हुए, इसका निर्विवादित विभाजन करना, सही मायनों में लोक-साहित्यविदों के समक्ष एक महत्त्वपूर्ण समस्या है।

लोक-गीतों का संकलन या अनुसन्धानपूर्ण अध्ययन करने वाले लगभग सभी विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया है परन्तु वर्गीकरण के आधार क्या रखे जाएँ ! इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। लगभग सभी के वर्गीकरण प्रयासों को आलोचनाओं से गुजरना पड़ा है। कहीं वर्गीकरण की वैज्ञानिकता के अभाव का प्रश्न खड़ा हुआ तो किसी वर्गीकरण में एक प्रकार के गीतों के वर्ग में किसी अन्य प्रकार के वर्ग के गीतों के होने का दोष पाया गया या फिर वर्गीकरण हेतु वर्गों की अत्यधिक संख्या बढ़ाने का आरोप लगा।

सारांशतः लोक-गीतों का वर्गीकरण अनेक विद्वानों ने किया है परन्तु सर्वसम्मति से वैज्ञानिक अथवा निर्दोष वर्गीकरण किसी को भी नहीं माना गया है। लोक-गीतों के वर्गीकरण की समस्या हेतु डॉ० चिन्तामणि उपाध्याय के विचार इस प्रकार हैं – "लोक-गीतों का वर्ण्य विषय इतना व्यापक है कि उनका वर्गीकरण कठिन हो जाता है।" डॉ० मोहनलाल बाबुलकर के मतानुसार – "लोक-गीतों का विभिन्न विद्वानों द्वारा क्षेत्र-विशेष के अध्ययन के आधार पर ही वर्गीकरण किया गया है। अध्ययन और स्थान विशेष के विश्लेषण के कारण ऐसा कोई भी वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता है जिसे पूर्ण वैज्ञानिक कहा जा सके।"

2.1.05.2 समाधान

लोक-गीतों के सम्यक् वर्गीकरण हेतु एकपक्षीय दृष्टिकोण से ऊपर उठते हुए, विविध आयामों, विविध पक्षों को दृष्टिगत रखते हुए, यदि इन्हें वर्गीकृत किया जाए तो इस समस्या का समाधान सम्भव है। डॉ० रामकुमार शर्मा ने इस समस्या के समाधान हेतु निम्नलिखित सुझाव दिए हैं–

1. गायक वर्ग जैसे, नारी, पुरुष, बाल, शिशु आदि के आधार पर।
2. गायन का वातावरण जैसे, व्यक्ति, समूह, टोल, व्यवसायी गायक या स्वतः आनन्द हेतु गाने वाले आदि के आधार पर।
3. गायन पद्धति के आधार पर।
4. लोक-गीतों के रूपात्मक वैविध्य के आधार पर।

इसके अलावा उपयोगिता की दृष्टि से, जातीय-दृष्टि से, अवस्था-भेद से, वस्तु-भेद से, रूप-भेद से (प्रबन्ध एवं मुक्तक), प्रकृति-भेद से (शुद्ध नृत्यगीत, नाट्यगीत आदि) आदि आधारों पर भी लोक-गीतों के वर्गीकरण किए जाने के सुझाव आपने दिए हैं और माना है कि तभी वैज्ञानिक वर्गीकरण हो सकेंगे। वर्गीकरण के समय सभी जनपदों के लोक-गीतों को दृष्टिगत रखना चाहिए जिससे लोक-गीतों का कोई भी प्रकार छूटने से बच जाए।

2.1.06 लोक-गीतों के वर्गीकरण की परम्परा

हिन्दीभाषी प्रदेशों के लोक-गीतों के वर्गीकरण-परम्परा की आदिम कड़ी के रूप में श्री रामनरेश त्रिपाठी का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। उन्होंने अपने संकलन-कार्य के आधार पर लोक-गीतों को कुल 11 वर्गों में विभक्त किया है –

01. संस्कार सम्बन्धी गीत
02. चक्की और चरखे के गीत
03. धर्म-गीत
04. ऋतु-सम्बन्धी गीत
05. खेती-सम्बन्धी गीत
06. भिखमंगी-सम्बन्धी गीत
07. मेले-सम्बन्धी गीत
08. जाति-गीत
09. वीर-गाथा
10. गीत-कथा
11. अनुभव के वचन

उपर्युक्त वर्गीकरण के उपरान्त कालक्रमानुसार वर्गीकरण के अगले सोपान पर श्री सूर्यकरण पारीक का नाम आता है। उन्होंने राजस्थानी लोक-गीतों का अध्ययन-संकलन करते हुए इन गीतों को कुल 29 वर्गों में विभक्त किया है –

01. देवी-देवताओं और पितरों के गीत
02. तीर्थों और बहिन के गीत
03. संस्कारों के गीत
04. भाई और बहिन के गीत
05. पति-पत्नी प्रेम के गीत
06. प्रेम के गीत
07. बालिकाओं के गीत
08. ग्राम-गीत
09. राजकीय गीत
10. धमालें
11. जन्म के गीत
12. वीरों के एवं ऐतिहासिक गीत

13. पशु-पक्षी सम्बन्धी
14. गाँवों के गीत
15. ऋतुओं के गीत
16. व्रत-उपवास और त्योहारों के गीत
17. विवाह के गीत
18. साले-सालियों के गीत
19. पणिहारियों के गीत
20. चक्की पीसने के गीत
21. चरखे के गीत
22. हरजस
23. देश-प्रेम के गीत
24. राज-दरबार, मजलिस, शिकार
25. सिद्ध पुरुषों के गीत
26. ग्वालों के गीत व हास्य गीत
27. शान्त रस के गीत
28. नाट्य-गीत
29. विविध-गीत

वर्गीकरण के क्षेत्र में डॉ॰ सत्येन्द्र का नाम महत्त्वपूर्ण है। डॉ॰ सत्येन्द्र ने 1947 में अपने शोध-प्रबन्ध में लोक-गीतों को इस प्रकार वर्गीकृत किया है –

1. जन्म के गीत
2. विवाह के गीत
3. त्योहार, व्रत और देवी आदि के गीत
4. अन्य विविध गीत
5. प्रबन्ध गीत

जनपदीय भाषाओं के लोक-गीतों के वर्गीकरण भी सामने आए जिनमें हरियाणा जनपद के लोक-गीतों के अध्येता डॉ॰ शंकरलाल यादव प्रमुख हैं। उन्होंने लोक-गीतों के कलेवर को दो मोटे रूपों में विभक्त किया है –

1. प्रबन्ध गीत
2. मुक्तक गीत

मुक्तक वर्ग को उन्होंने पुनः पाँच उपवर्गों में बाँट दिया है –

(1) संस्कार-गीत
(2) ऋतु-गीत
(3) कृषि-गीत
(4) राजनीति गीत
(5) विविध प्रकार के लोक-गीत

इसी क्रम में डॉ० कृष्णलाल हंस ने निमाड़ी लोक-गीतों को छह भागों में वर्गीकृत किया है –

1. संस्कार-गीत
2. ऋतु-गीत
3. जीवन-गीत
4. धर्म-गीत तथा
5. इतिहास-गीत
6. अन्य लोक-गीत

वर्गीकरण की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए डॉ० श्याम परमार ने मालवा लोक-गीतों का निम्नानुसार वर्गीकरण किया है –

1. संस्कार विषयक गीत
2. धार्मिक गीत
3. माहवारी गीत
4. ऐतिहासिक / अर्द्धऐतिहासिक गीत
5. विविध गीत
6. अन्य लोक-गीत

डॉ० तेजनारायण लाल ने मैथिली जनपद के लोक-गीतों को अध्ययन का आधार बनाते हुए उसे निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है –

1. संस्कारों से सम्बन्धित लोक-गीत
2. पेशों से सम्बन्धित लोक-गीत
3. ऋतुओं से सम्बन्धित लोक-गीत
4. नृत्य से सम्बन्धित लोक-गीत
5. सामाजिक-आर्थिक आधार से सम्बन्धित लोक-गीत
6. विविध लोक-गीत

लोक-गीतों के वर्गीकरण परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करने वाले विद्वान् के रूप में डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय का नाम महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने इस क्षेत्र में पूर्व में किये गए कार्यों का आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए लोक-गीतों को पाँच खण्डों में विभक्त किया है –

1. संस्कारों की दृष्टि से
2. रसानुभूति की प्रणाली में
3. ऋतुओं व व्रतों के क्रम में
4. विभिन्न जातियों के प्रकार से
5. क्रियागीत की दृष्टि से

कालान्तर में डॉ॰ सत्येन्द्र ने भी अपने वर्गीकरण में और वर्ग जोड़े तथा आगे जाकर समस्त वर्गीकरण को दो मोटे भेदों में विभक्त कर दिया है –

1. अनुष्ठान-आचार सम्बन्धी
2. मनोरंजन सम्बन्धी

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त और भी कई विद्वानों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाने में अपना अमूल्य योगदान दिया है। जैसे – भास्कर रामचन्द्र भालेराव, आचार्य शिवपूजन सहाय, डॉ॰ सत्या गुप्ता आदि।

2.1.07 लोक गीत : निर्माणक तत्त्व

रूप, लय, स्वरारोहण एवं स्वरावरोहण की दृष्टि से समानता रखने वाले गीत के भाग को 'झड़' कहते हैं। किसी भी लोक गीत का निर्माण चार या पाँच 'झड़ों' के मिलने से होता है। लोक-गीतों का निर्माण करने वाले तत्त्व इस प्रकार हैं –

1. <u>अस्थायी</u> : गीत का आरम्भिक व प्रमुख अंग यही होता है। इसमें गीत का मुख्य भाग समाहित होता है। एक झड़ गाने के उपरान्त गीत के इसी अंग की पुनरावृत्ति की जाती है जिससे श्रोताओं पर गीत का स्थाई प्रभाव पड़ता है।
2. <u>अंतरा</u> : स्थाई भाग से आगे गीत के मुख्य भाव की विवृति की जाती है। इस भाग को अंतरा कहते हैं।
3. <u>लय</u> : लोक गीत का यही अंग या तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। लोक गीत का रचयिता चूँकि अशिक्षित होता है अतः उसे छन्द, बंधों या गीतों की मात्राओं का ज्ञान नहीं होता है वह तो मात्र लय की रक्षा कर पाता है और उसकी यह लय ही लोक गीत में प्राण डाल देती है।
4. <u>स्वरारोहण, अवरोहण एवं पुनरावृत्ति</u> : लोक गायक गीत में भावों का आवेग और आवेश उत्पन्न करने हेतु स्वरारोहण व स्वरावरोहण की सहायता लेता है। स्वर को ऊँचा उठाना स्वरारोहण कहा जाता है व

पुनः स्वर को उतारते हुए सामान्य या सम पर लाना स्वरावरोहण कहा जाता है। गीत में सौन्दर्य की सृष्टि करते हुए पुच्छ पदों की योजना व टेक अंग की पुनरावृति भी इसी अंग में की जाती है।

5. मिलान : यह झड़ का अन्तिम अंग है। यहाँ गाने के उपरान्त गीत के स्थाई अंग की पुनरावृति की जाती है। अन्तरा को समाप्त कर आरोह-अवरोह से गुजरने के पश्चात् गीत पुनः अपनी स्थाई की लय को प्राप्त करता है अतः इस भाग को मिलान कहा जाता है।
6. भरती : गीत की झड़ गाने के उपरान्त गीत के प्रभाव में निरन्तरता बनाये रखने हेतु कुछ पदों की योजना की जाती है, जिन्हें गीत का 'भरती' अंग कहा जाता है।
7. रंगत-विधान : श्रोताओं पर लोक गीत का प्रभाव छोड़ने के लिए गीत के मुख्य भाव को छन्द, परिवर्तन के साथ भावानुकूल छन्दों में गाया जाता है, जिसे रंगत-विधान कहते हैं। यह विधान परम्परा-प्रवाही तथा रचित सभी तरह के लोक-गीतों में होता है।
8. मोड़ : एक झड़ को गाकर दूसरी झड़ गाने के लिए प्रवेश करने को मोड़ कहते हैं। एक ही झड़ के गायन में स्थाई से अन्तरा तथा अन्तरा से मिलान में प्रवेश करने को भी मोड़ कहा जाता है।

2.1.08 लोक-गीतों में निरूपित संस्कृति

संस्कृति एक बृहत् शब्द है जो स्वयं में जीवन के इन्द्रधनुषी रंगों को समाहित किए दृष्टिगोचर होती है तथा इन रंगों को परम्परा से पुष्ट भी रखती है। लोक-गीतों ने सभी संस्कारों (गर्भाधान से लेकर जन्म-मरण, विवाह, जनेऊ, मुंडन) को अपने विस्तृत कलेवर में समेट रखा है तो तीज-त्योहारों, मेलों, उत्सवों के गीत हमारी सांस्कृतिक विरासत को अपने आँचल में सहेजे हुए इसकी रक्षा करते हैं। भारत एक धर्म प्राण देश है। हमारी धार्मिक आस्थाएँ, विश्वास, दर्शन सभी इन गीतों में निवास करते हैं। हमारे पारिवारिक रिश्ते भारतीय संस्कृति का प्रत्यक्ष उदाहरण हैं जो विश्व भर में अपनी एक निराली छवि रखते हैं। इन रिश्तों-नातों माता-पिता, भाई-भाभी, ननद-सलहज, नाती-पोते, बहू-बेटी इत्यादि सम्बन्धों हेतु की गई भावाभिव्यक्ति इन गीतों में सुरक्षित हैं। भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही वीरों और वीर भावमयी रही है। वीरों और उनकी वीरता को ये गीत बड़ी कुशलता से आँखों के आगे चित्रित कर वीरत्वपूर्ण संस्कृति से परिचय कराते हैं। सारांशतः कहा जा सकता है कि इन लोक-गीतों में जनजीवन, धर्म, दर्शन, भक्ति-नीति व कला के रूप में संस्कृति के जीवन्त दर्शन होते हैं।

2.1.09 लोक गीत : विभिन्न प्रकार के लोक-गीतों का परिचयात्मक अध्ययन

1. संस्कार-गीत

भारतीय समाज में सोलह संस्कार माने जाते हैं। इन संस्कारों में से जन्म, विवाह व मृत्यु संस्कार के लोक-गीतों का प्रचलन अधिक है।

(1) जन्म संस्कार के गीत :

इन गीतों में नौ महीनों के दौरान गर्भिणी में जो-जो शारीरिक व मानसिक बदलाव आते हैं या प्रसव पीड़ा, प्रसवोपरान्त का हर्ष, सूरज-पूजन आदि प्रसंगों का कुशल चित्रण देखा जा सकता है।

पहलौ महीना जब लागिए, बाकौ फूलु गहयो फलु लागिए।
ए बाई दुजौ महीना जब लागिए।
राजे तीजौ महीना जब लागिए, बकौ खीर खांड मन आइए।

(2) विवाह संस्कार के गीत :

विवाह के गीत समस्त प्रकार के लोक-गीतों के अलंकरण कहे जा सकते हैं। इन गीतों में विनायक, मेंहदी, हल्दी, उबटन आदि गीत अधिक प्रसिद्ध हैं –

म्हारी हळदी रौ रंग सुरंग, आ निपजै माळवै,
मौ' लावे बालक बणजी'रा बाभौसा, माताजी रे अंग ख्लै,
वां रा माताजी चतुर सुजांण, केसर कैवटे,
बनडा थे हौ जी केसर जोग, हळदी रंग (अंग) चढै।

(3) जनेऊ के गीत :

इस संस्कार को भी विवाह जितनी ही धूमधाम से मनाया जाता है। एक भोजपुरी लोक गीत में यज्ञोपवीत धारण करने के अवसर पर बालक के शरीर पर हल्दी लगाते समय यह गाया जाता है –

पाँच सखी आ ही मीलिके हरदी चढ़ाव हमारा लाल के।
बाहरो बाजन बजाइके, हरदी चढ़ाव हमरा लाल के॥

(4) मरण संस्कार के गीत :

मरण चिर सत्य है। पकी उम्र में जब किसी की मौत होती है तो इस समय भजन, चेतावनियाँ आदि गायी जाती हैं।

काया कैसे रोई, तज दीनी प्राण
तज प्राण काया यूँ बोली,
छोड़ गयो निर्मोही,
मैं सोची काया साथ चलेगी, मल-मल धोई रे।

2. व्रत-गीत

भारतीय जनमानस में सदा से धर्म फलता-फूलता रहा है। विभिन्न देवी-देवताओं में आस्था रखना व श्रद्धा के साथ उनसे सम्बन्धित दिवस पर व्रत रखना व उसे निभाना, भारतीय जीवन का एक अभिन्न अंग माना जाता है। विशेषकर स्त्री-समाज अपने पतियों की दीर्घायु व गृह सुख-शान्ति हेतु कई प्रकार के व्रत रखती हैं जिनमें प्रमुख व्रत हैं – वह सावित्री, कजली व सावणी तीज, दशा-माता, कार्तिक पूर्णिमा व्रत, एकादशी व्रत, करवाचौथ व्रत आदि। करवा चौथ व्रत में गाये जाने वाला एक लोक गीत है –

उठौ-उठौ सुलच्छना नारी।
बारै चंदा अरध देओ, मनमानिक दिअना बारि।
साँई जिये लाख बरिस, बिटना जीयें कोटि बरिस॥
अरध चंदा का सोहाग।

3. श्रम-गीत

भारत भूमि में कर्म की महत्ता असंदिग्ध रूप से स्वीकार की गई है। कार्य करते समय जो भी गीत गाये जाते हैं वे श्रम-गीत के नाम से जाने जाते हैं। संगीत प्रेमी मानव-मन कार्य से होने वाली थकावट को मिटाने, एकाकीपन से उबरने या कार्य समय की सुदीर्घता को हल्का करने के उद्देश्य से ये गीत गाता रहा है। इन गीतों में 'पाँणत' (खेतों में पानी देना) रोपनी, सोहनी, निरवाही, कटनी, चक्की पीसना, कोल्ह के गीत प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ चरखे का एक गीत –

चरखा कातो मानो गाँधीजी की बतियाँ।
विपतिया कीट जइहँ ननदियाँ॥

4. ऋतु-गीत

भारत वर्ष भाँति-भाँति की ऋतुओं वाला देश है। यहाँ सभी ऋतुएँ अपनी एक विशेष पहचान रखते हुए उल्लास का वातावरण सृजित कर देती हैं। इन लोक-गीतों में बारह मासा, चौमासा, फाग, बसन्त, मल्हार, सावन ऋतु का विशेष उल्लेख मिलता है।

काळूडी कळायण ऊमड़ी ऐ, पणिहारी जीये लो,
ओ मिरगा नैणी जीये लो।
मोटोड़ी छाँटा रौ बरसे मेह, बाला जो॥

(1) फाग ऋतु :

आज बिरज में होरी रे रसिया।

बाजत ताल मृदंग झाँझ ढफ ,
और नगारे की जोरी रे रसिया ॥

(2) मल्हार गीत :

सामन आयौ सुघड़ सुहागनों जी(ए जी कोई)
आयी है अजुब बहार,
धनिक रंगाइदै री अम्मा मेरी,
सीकियाँ जी, पचरंगी छविदार ।

5. जाति-गीत

वे गीत जो किसी जाति-विशेष के लोगों द्वारा ही गाये जाते हैं, जाति-गीत कहलाते हैं । जैसे – 'विरहा' नामक गीत अहीरों द्वारा गाया जाता है । सामान्यतः इस गीत को अहीर लोग जिस भाव-भंगिमा व मधुरता से गाते हैं, कोई और नहीं गा सकता है । 'पचरा' गीत प्रायः दुसाध जाति के लोग गाते हैं । यह गीत अपनी चिकित्सकीय विशेषता से जाना जाता है । इसी प्रकार 'आल्हा' गीत भी वर्षा ऋतु में विशेष जाति द्वारा गाया जाता है तो साँई नाम से प्रसिद्ध गेरूआँ वस्त्रधारी साधु गोपीचंद और भरथरी के गीत गाते हैं । 'माली' जाति के लोग माता के गीत गाते हैं । 'निहाल दे गीत' को कुछ विशेष जाति के गायक गाकर अपना गुजर बसर करते हैं । समय के बदलाव के साथ गीत-गायन की पद्धति बदली है । अब लोक गीत किसी भी जाति द्वारा गाये जाने लगे हैं –

सावण तौ लागौ पिया, भादवौ जी
काँई बरसण लागौ मेह,
अब घर आयजा, गौरी रा बालमा हो जी ।

2.1.10 लोक-गीतों में संगीत का विधान एवं वाद्ययंत्र

2.1.10.1 संगीत का विधान

लोक-गीतों में संगीत का विधान नैसर्गिक होता है । आरोह-अवरोह, सुर-लय-ताल के शास्त्रीय नियम लोक-गीतों में नहीं होते हैं । इन गीतों में कृत्रिमता का पूर्ण अभाव पाया जाता है । संगीत लोक-गीतों में स्वतः स्फुट है । इनमें भावों के आवेग व आवेश के साथ स्वरों का आरोहण व अवरोहण पाया जाता है । संगीत के शास्त्रीय नियमों से परे सहज-स्वाभाविक संगीत इन गीतों की प्रमुख विशेषता है । यही कारण है कि लोक गीत गायक को किसी विशेष संगीत-शिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है । लोक गायक बिना किसी औपचारिक प्रशिक्षण के, गीत को किस प्रकार गाना है, उस गीत की लय को हृदयंगम कर जान लेता है । कुछ ही अभ्यास में वह लोक गायक गीत को पूर्ण रूप से गाने लगता है । लोक गीत में उसका संगीत नीर-क्षीर की भाँति घुला-मिला रहता है । लोक संगीत की व्यापकता के विषय में डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय के विचार द्रष्टव्य हैं – "लोकजीवन का सुन्दरतम

प्रतिबिम्ब लोक गीत और लोक संगीत में दिखाई पड़ता है क्योंकि लोक-गीतों में शब्दों और स्वरों के चयन में कृत्रिमता का अभाव रहता है। इनमें लोकजीवन का सीधा-सादा चित्र भी रहता है। लोक गीत सरल, सुन्दर, अनुभूतिमय तथा संगीतमय होते हैं। कदाचित् ही कोई ऐसा लोक गीत हो जो संगीत से अनुप्राणित न हुआ हो।"

लोक गीत का सौन्दर्य स्वर, लय पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। जहाँ इनका अभाव हो जाता है वहाँ लोक गीत की प्रभावोत्पादकता नहीं बनी रह पाती है। डॉ॰ सत्येन्द्र ने अंग्रेज विद्वान् Kenneth Rich Mand के कथन का हिन्दी अनुवाद करते हुए लोक-गीतों में संगीत के समन्वय और समावेश पर इस तरह प्रकाश डाला है – "सभी लोक-गीतों में सामान्यतः यह बात मिलती है कि शब्द गौण होते हैं लय से, और इसी कारण कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह लय ही है जिसका सर्वापेक्षा अधिक महत्त्व था।"

लोक-गीतों में पाए जाने वाले संगीत-विधान का अपना एक नियमित रूप होता है। इनमें लय की एक निर्धारित व्यवस्था है, जिसके कारण लोक-गीतों का संगीत बना रह पाता है। लोक-गीतों के संगीत तत्त्व पर आधारित कुछ विशेषताएँ डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय ने इस तरह बतायी हैं –

1. लघु-गुरु का शिथिल बन्धन
2. उपान्त्य स्वर को लुप्त स्वर में उच्चारण करना
3. स्तोभ की प्रणाली

उपर्युक्त विशेषताएँ लोक गीत की गायन-शैली को स्पष्ट करती है।

लोक-गीतों को गाते समय सरसता बनाई रखने हेतु लघु को गुरु और गुरु को लघु कर देना बहुत सामान्य बात होती है। उदाहरणस्वरूप देखिए, ब्रजभाषा के इस लोक गीत में चिड़िया के इकार को ईकार (चिड़ी) के उच्चारण में बदल दिया गया है –

चिड़ी तोय चामरिया भावै

उपान्त्य स्वर को लुप्त स्वर में उच्चारण करने की विशेषता के अनुसार लोक गीत में स्थायी या अन्तरा के तुक पद इस गति से गाये जाते हैं कि अन्तिम स्वर का उच्चारण लघु हो जाता है व उपान्त्य का लोप। जैसे –

उल्लीपार बसुरिया बाजै, पल्ली पार सखी लहराई।

लोक गीत में माधुर्य के संयोजनार्थ, कुछ लघु पदों का आगम कर दिया जाता है। यह आगम आरम्भ, मध्य या अन्त कहीं भी हो सकता है। यह विशेषता स्तोभ की प्रणाली के रूप में जानी जाती है। उदाहरणार्थ – हो, रामा, ऐ जी कोई, ऐ जी, हाँ सा, हां जी, से, आदि पदों का आगम लोक-गीतों में किया जाता है। जैसे –

ऐ जी हाँसा म्हारी रुणक-झुणक

पायल बाजै सा,
बाई सा बीरा कीकर आऊँ सा।

और भी,

बाग हिंडोले अम्मा मेरी परि रहे जी,
ऐ जी कोई झूलत नंदकिसोर।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोक-गीतों का अपना निजी लयाधारित संगीत-विधान होता है।

2.1.10.2 वाद्य यंत्र

लोक-गीतों की प्रस्तुति के साथ वाद्य-यंत्रों के प्रयोग से उनकी प्रभविष्णुता और भी अधिक बढ़ जाती है। प्रत्येक प्रदेश में प्रचलित वाद्य-यंत्रों की अपनी विशिष्ट पहचान होती है। सांगीतिक दृष्टि एवं वाद्य के बजाने के ढंग के आधार पर लोकवाद्य-यंत्रों को निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है–

1. घनवाद्य :

इस वर्ग के वाद्य-यंत्र पीतल, ताँबा, जस्ता या ऐसी ही किसी धातु से निर्मित होते हैं। इन वाद्यों को आघात करके या चोट करके बजाया जाता है। श्रीमंडल, मंजीरा, टंकोरा, चिमटा आदि घन वाद्यों की श्रेणी में परिगणित किए जाते हैं।

2. अनुरुद्ध वाद्य :

ये वाद्य-यंत्र ताल या थाप से बजाए जाते हैं। ये वाद्य या तो एक ओर से मढ़े होते हैं जैसे – डफ, चंग इत्यादि। अथवा दोनों ओर से मढ़े हुए होते हैं जैसे – ढोलक, ढोल, नगाड़ा आदि।

3. सुषिर वाद्य :

वाद्य-यंत्र के छेदों में फूँक मारकर बजाए जाने वाले वाद्य सुषिर वाद्य कहलाते हैं। जैसे – पूँगी, मुरला, सतारा आदि।

4. तार वाद्य :

ये वे वाद्य-यंत्र होते हैं जिन्हें उनके ऊपर लगे तारों को झंकृत करके बजाया जाता है। सारंगी रावण हत्था, वीणा आदि इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

लोक-गीतों के गाने में प्रयुक्त लोक-वाद्यों पर विचार करते हुए लोक-साहित्यविद् डॉ॰ सत्येन्द्र ने गायकों के बाजे के अनुसार वाद्यों के प्रयोग का एक चार्ट दिया है। इनके अनुसार लोक-वाद्य इस प्रकार हैं – नंगाज, ढोलक, तबला, मजीरा, सारंगी, डमरू, झाँझ, घट थाली, ढप, चिकाड़ा, मकशबीन, इकतारा, बेल या बेली, तुम्बी बीन, हारमोनियम, तम्बूरा, करतालें, खंजरी।

उक्त वाद्यों के अतिरिक्त भी कई अन्य वाद्य हैं जो अलग-अलग प्रदेशों में बहुत प्रचलित हैं। जैसे – रावणहत्था, बीन, सिंगीबाजा, नक्कारा, नड़, भपंग आदि।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में विविध भाँति के लोक-वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, राजस्थान प्रदेश के लोक-गीतों के गाने में प्रयुक्त प्रमुख लोक वाद्य निम्नलिखित हैं –

01. कमाचया :

यह तारों वाला बिना परदे का कमान द्वारा बजाये जाने वाला वाद्य है। इसमें एक तूँबा होता है जिस पर चमड़े की पतली झिल्ली चढ़ी रहती है। इसकी घुरच अथवा घोड़ी बहुत चौड़ी होती है जिस पर तार लगे रहते हैं। कुल 9 तारों में से 3 मुख्य तार बटी हुई तात के बने होते हैं। शेष 6 तार स्टील के होते हैं। इस वाद्य की कुल लम्बाई 75 से.मी. होती है। यह वाद्य राजस्थान की लंगा जनजाति प्रयोग में लाती है।

02. खंजरी :

यह डमरू के प्रकार का वाद्य है। इसका ढाँचा लकड़ी का बना होता है। इस पर बकरी की खाल मढ़ी होती है। इसे एक हाथ से पकड़कर दूसरे हाथ की हथेली एवं उँगलियों द्वारा बजाया जाता है। इस वाद्य में खाल के तनाव को कम या अधिक करने का कोई साधन नहीं है। इसे कालबेलिया तथा जोगी जनजातियों के लोग नृत्य एवं गायन के समय प्रयोग में लाते हैं।

03. घुंरालियौ :

यह छनक कर बजाए जाने वाले वाद्यों के प्रकार में आता है। यह बाँस का बना होता है तथा मोरचंग से काफी मिलता-जुलता है परन्तु इसका किनारा एस्सियों का बना होता है जिनके आपस में टकराने से भिन्न ध्वनियाँ प्रसरित होती है। इसे उँगलियों से बजाते हैं। इसे गरासिया व कालबेलिया जनजाति के लोग बजाते हैं।

04. सारंगी :

सारंगी संज्ञक वाद्य कई रूपों में उपलब्ध है–

i. गुजरातन सारंगी:

यह तारों तथा बिना परदों का लोकवाद्य है जिसे नाखून द्वारा बजाया जाता है। इसके कुल चार तारों में से दो बटी हुई तात के तथा दो स्टील के होते हैं। इसमें नौ रतबें होती हैं जो दायीं ओर खूँटियों से बँधी होती हैं। इस वाद्य की कुल लम्बाई 58 से.मी. है। इसे लंगा जनजाति के लोग बजाते हैं।

ii. धानी सारंगी:

यह भी तारों वाला बिना परदे का लोक वाद्य हैं। इसमें लकड़ी का तूँबा होता है। इसमें दो तारें स्टील की और दो तारें बँधी हुई तारों की होती हैं। मुख्य तार स्टील का होता हैं। इसमें 14 तरबें होती हैं, जिनमें से 9 डाँड पर दायीं ओर और 5 सामने की ओर खूँटियों से बँधी हुई होती हैं। इसकी कुल लम्बाई 49 से.मी. है और इसे कमान द्वारा बजाया जाता है। इसे जोगी जनजाति के लोग अपने मनोरंजन के लिए बजाते हैं।

iii. सिन्धी सारंगी:

यह तारों वाला बिना परदे का लोक वाद्य है। इसे कमान द्वारा बजाया जाता है। इसमें कुल 4 तार होते हैं जिनमें 2 स्टील के तथा 2 बटी हुई तात के बने होते हैं। मुख्य तार स्टील का होता है। इसमें 21 तरबें होती हैं जिनमें से 16 दायीं ओर से बँधी रहती है तथा बाकी बायीं ओर ऊपर खूँटियों से बँधी हुई होती हैं। डाँड के बीच छेद होता है। इसकी कमान अलग ढंग से हिलायी जाती है जिससे ताल की अनुभूति प्राप्त होती है। इसे लंगा जनजाति के लोग गायन के साथ संगत के लिए बजाते हैं।

iv. जोगिया सारंगी:

यह तारों वाला बिना परदों का कमान द्वारा बजने वाला वाद्य है। यह सारंगी से काफी मिलता-जुलता है। इसके तूँबे पर खाल मढ़ी होती है जिस पर घुरच रखा होता है। यह तुन नामक लकड़ी का बना होता है। इसमें कुल चार तार होते हैं जिनमें से 2 स्टील के तथा 2 बटी हुई तात के होते हैं। मुख्य तार बटी हुई तात का होता है। इसमें 11 तरबें होती है। इसे राजस्थान के जोगी सम्प्रदाय के लोग अपने धार्मिक नायकों की जीवनियों को गाते हुए बजाते हैं तथा निहालदे सुल्तान नामक गाथा गाते समय भी इसका प्रयोग किया जाता है।

05. चिकारा:

यह भी तारों वाला बिना परदे का वाद्य है। इसका तूँबा नारियल के खोल का बना होता है तथा डाँड बाँस की बनी होती है जिस पर उँगली रखकर बजाया जाता है। तूँबे पर चमड़े की झिल्ली चढ़ी होती है जिसे खोल के सिला जाता है। इसमें तीन तार होते हैं जिनमें से दो बँटे हुए बालों के तथा तीसरा स्टील का होता है। ये सभी तूँबे के नीचे कील के साथ बँधे होते हैं। ऊपर की ओर यह डाँड के साथ खूँटियों से बँधे होते हैं। इसे लकड़ी के बने कमान के साथ बजाते हैं। यह 65 से.मी. लम्बा होता है। इसे गडरिया जनजाति के लोग गाने के साथ संगत के

लिए भी प्रयोग में लाते हैं। इस लोकवाद्य का एक दूसरा रूप मौर्य जनजाति के लोग भी संगत के लिए प्रयोग में लाते हैं। इस रूप में अन्तर केवल यही है कि कमान के साथ घण्टी भी लगी रहती है जो कि वादन के समय इसे थोड़ी भिन्नता प्रदान करती है।

06. मोरचंग :

यह फूँक मारकर बजाए जाने वाला एक लोकवाद्य है। इसका किनारा लोहे का होता है जिस पर एक लोहे की जीभ लगी रहती है। इसे बाएँ हाथ में थामकर किनारों को हाथों पर रखते हैं तथा दाएँ हाथ की उँगलियों से खींचकर बजाते हैं। लोहे की जीभ को लगाकर फूँक मारकर हिलाते रहते हैं। इसे गडरिये लयकारी संगत के लिए बजाते हैं।

07. मुरला :

यह फूँक मारकर बजाए जाने वाला वाद्य है। यह एक विशिष्ट प्रकार का नालीदार वाद्य है। जिसमें दो पोली लकड़ियों की नालियाँ होती हैं। प्रत्येक नली में एक-एक सरकंडा लगा रहता है। एक नली से ध्वनि निकलती है तो दूसरी से स्वर बजते हैं। ये सरकंडे वृक्ष की पतली लकड़ी के बनते हैं। ध्वनि देने वाली नली में तीन छिद्र होते हैं जो मोम की सहायता से निश्चित स्वर में मिला दिये जाते हैं। इसे मुख्य रूप से लंगा जनजाति के लोग बजाते हैं।

08. मादल :

यह ढोल के प्रकार का लोक वाद्य है। यह मिट्टी का बना सुच्चकार आकृति का होता है। इसके ऊपर चमड़े की झिल्ली रस्सी से बँधी होती है। इसमें ढोल की भाँति छल्ले नहीं होते हैं। इसे गीला आटा लगाकर बजाया जाता है। ये 50 से.मी. लम्बा होता है। इसे भील एवं गरासिया जनजाति के लोग नृत्य के साथ संगत के लिए प्रयोग में लाते हैं।

09. वरगू :

यह फूँक मार कर बजाया जाने वाला एक लोकवाद्य है। यह पीतल का बना होता है। इसकी आकृति अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षर ण से मिलती है जिसका एक भाग बेलनाकार तथा दूसरा सुच्चाकार होता है। सुच्चाकार भाग आगे से कपनुमा होता है। इसमें Integrated Mouth Piece लगा होता है। इसमें से बहुत धीमा स्वर निकलता है और स्वरों की संख्या सीमित होती है। इसकी कुल लम्बाई 124 से.मी. है। इसे सरगरा जाति के लोग बजाते हैं।

10. पाबूजी के माटे :

ये मिट्टी के दो बड़े आकार के मटके होते हैं जिनके सिर का व्यास 37 से.मी. होता है। इनके मुँह पर चमड़े की झिल्ली तसमों से बँधी होती है। इन्हें हाथ से बजाते हैं तथा एक समय पर दो व्यक्ति बजाते हैं। दोनों माटे अलग-अलग स्वर में मिले होते हैं। पश्चिमी राजस्थान में थोरी व नायक जनजातियाँ इन्हें बजाती हैं।

11. सुरिन्दा :

इसमें 3 मुख्य तार होते हैं जिनमें दो स्टील तथा एक तात का होता है। ये ऊपर खूँटियों से बँधे होते हैं। इनके अतिरिक्त 6 तरबें होती है। इसे लंगा जाति के लोग बजाते हैं। इसका तूँबा विशेष प्रकार से झुका होता है। यह कमान द्वारा बजाया जाता है। कमान में घुँघरू बँधे होते हैं। कमान लय के साथ घुमायी जाती है।

12. बाँकिया :

यह पीतल का बना होता है। यह सरगरा जनजाति का खानदानी वाद्य है तथा इसे ढोल के साथ बजाया जाता है।

13. दुकाळी :

यह भील जनजाति का वाद्य है। यह 6 सर 8 इंच की पोली बेलनाकार लकड़ी का बना होता है। इसके एक किनारे पर खाल मढ़ी रहती है तथा दूसरा किनारा खुला रहता है। खाल के मध्य-भाग से होकर एक तार लगाया जाता है और हाथ से लय इच्छानुसार बजाई जाती है। इसे मुख्य रूप से दीपावली के अवसर पर बजाया जाता है।

14. डेरू :

यह भी डमरू के प्रकार का वाद्य है। इसके सिरे पर बछड़े के चमड़े की झिल्ली लगी होती है जो दोनों ओर कीलों से टंगी होती है और रस्सियों से बँधी होती है। इसे एक तरफ लकड़ी की चोट मारकर बजाया जाता है। ऐसा करने से अलग-अलग प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं। इसे भी सपेरे या पेशवर जनजातियाँ ही अधिकांश रूप से प्रयोग करती हैं। कालबेलिया जनजाति के लोग भी इसे मन बहलाव के लिए बजाते हैं।

15. पूँगी :

इसमें खोखले बाँस के समान लम्बाई वाले दो समानान्तर टुकड़े होते है जिनमें एक पत्ती लगी होती है जिसका निचला भाग मोम द्वारा तूँबे से जुड़ा होता है। बजाने वाला भाग तूँबे का बढ़ा हुआ भाग होता है। दोनों पंक्तियाँ एक ही ध्वनि पर मिली होती हैं। एक खोखले बाँस में उँगली रखने के लिए 5 से 8 तक छिद्र होते हैं। एक

खोखला बाँस मूल ध्वनि देता है तथा छिद्र वाले बाँस से विभिन्न स्वर उत्पन्न किये जाते हैं। पूँगी के नीचे भाग में अँगूठा लगाने के लिए छिद्र होता है। ध्वनि को काबू में रखने के लिए कई बार तीसरे बाँस के टुकड़े का प्रयोग भी किया जाता है। इसे जोगी तथा सपेरे आदि बजाते हैं।

16. खड़ताल :

यह आपस में टकराकर बजने वाला वाद्य है। यह लकड़ी की बनी चौड़ी-चपटी आकार की जोड़ी होती है जिसमें पीतल की गोल-पतली प्लेटें जुड़ी होती हैं। इसे एक ही हाथ में पकड़कर एक को अँगूठे में तथा दूसरे को उँगलियों में डालकर आपस में टकराकर बजाया जाता है। इससे एक तारे की संगत की जाती है तथा राजस्थान के भक्ति-संगीत में यह विशेष महत्त्व रखता है।

17. जंतर :

यह तारों वाला परदों का वाद्य है। इसमें डाँड के दोनों ओर लकड़ी के बड़े तूँबे लगे होते हैं। डाँड पर 14 हड्डी के परदे मोम से चिपके होते हैं। इसमें दो तार स्टील के होते हैं जिनमें से एक मुख्य तार तथा दूसरा चिकारी का होता है। इसकी कुल लम्बाई 114 से.मी. होती है। इसके ऊपरी तूँबे को कन्धे पर टिकाकर तथा डाँड को नीचे से हाथ में पकड़कर उँगलियों से बजाया जाता है। यह वाद्य वीणा से मिलता-जुलता है। इसे राजस्थान के भोपे धार्मिक रचनाएँ सुनाते समय बजाते हैं। बगड़ावत की प्रस्तुति करते समय भी इस वाद्य की संगत होती है।

18. रावणहत्था :

यह तारों वाला कमान से बजने वाला वाद्य है। इसमें दो मुख्य तार होते हैं जिनमें से एक घोड़े के बालों से तथा दूसरा लोहे की कुछ तारों को बट कर बनाया हुआ होता है। इसके तरबों की संख्या क्रमशः 3,7,11 तथा 16 तक होती है जो शुद्ध सप्तक में मिली होती है। इसमें केवल घोड़ी ही रहती है। मुख्य तार घोड़ी के ऊपर से तथा तरबों के तार घोड़ी के बीच में से गुजरते हैं। इसका तूँबा नारियल के खोल का तथा डाँड बाँस की बनी होती है। इसमें खूँटियाँ लकड़ी की होती हैं। नारियल के खोल पर झिल्ली होती है जो मढ़ी हुई न होकर डोरी के साथ बँधी हुई होती है। झुकी हुई कमान पर घोड़े की पूँछ के बाल लगे हुए होते हैं। यह कमान मुख्य तारों को बजाता है। इसके नीचे के हिस्से को छाती पर टिकाकर बजाया जाता है। किसी-किसी कमान पर घण्टी भी लगी होती है जो इसकी ध्वनि को विविधता प्रदान करती है। यह पाबूजी के कथावाचकों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। कथावाचक पश्चिमी राजस्थान के भील जाति के भोपे होते हैं।

19. नागफणी :

यह ताँबे के दो भागों का बना होता है। एक भाग बेलनाकार और खोखला होता है जिसका मुँह घण्टीनुमा खुला होता है। इसके ऊपर चित्रकारी की हुई होती है। फूँक मारने वाला भाग नुकीला होता है। इसकी कुल लम्बाई 159 से.मी. होती है।

20. रावलों की मादल :

यह प्रहार करके बजाया जाने वाला वाद्य है। यह नटों की ढोलक से काफी मिलता-जुलता है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें झिल्ली को गजरा लगाकर रस्सियों द्वारा कसा होता है तथा बीच में गाँठें भी लगी होती हैं। इसे बायीं ओर गीला आटा लगाकर बजाया जाता है। इसके सिर का व्यास 18 से.मी. होता है। राजस्थान के लोकनृत्यों के साथ इसका भी काफी प्रचलन है।

21. श्रीमंडल :

यह एक तरंग वाद्य है जिसके द्वारा सप्तक के सभी स्वर निकाले जा सकते हैं। इस वाद्य में 12.5 से 20.5 से.मी. व्यास की पीतल या लोहे की प्लेटें रस्सी से एक लोहे के फ्रेम से जड़ दी जाती हैं। इसे लकड़ी की दो छड़ों, जिनके आगे गाँठें लगी होती हैं, की सहायता से बजाया जाता है। लोकनृत्यों में इस वाद्य का अनूठा स्थान है।

22. रमझौला :

ये कुछ बड़े आकार के घुँघरू होते हैं जो चमड़े की एक पट्टी पर टंगे होते है। यह पट्टी पिंडली तक बाँधी जाती है तथा होली के अवसर पर नृत्य मण्डली में इसका प्रयोग किया जाता है।

23. अलगोजा :

यह फूँक मारकर बजाया जाने वाला वाद्य है। इसे दोहरी बाँसुरी भी कहते हैं जो खोखली लकड़ी की बनी होती है। दोनों में 6 छिद्र होते हैं। दोनों बाँसुरियों की लम्बाई 48 से.मी. होती है। आमतौर पर ऊपर के 3 छिद्र बन्द करके इसे बजाते हैं। ये पशु चराने वालों का मनपसंदीदा वाद्य है। अलवर जिले के मेव इसे स्वतन्त्र रूप से बजाते हैं। अगर एक ही बाँसुरी का प्रयोग किया जाए तो यह एक अन्य राजस्थानी वाद्य 'पोली' कहलाता है।

24. नड़ :

यह सुषिर (फूँक मारकर बजाया जाने वाला) वाद्य है। एक कगोर नामक विशिष्ट प्रकार के बाँस से निर्मित होता है। इसकी लम्बाई लगभग एक मीटर होती है। इस खोखले बाँस में तीन छेद होते हैं। श्वास रोकने एवं छोड़ने

की विशिष्ट प्रक्रिया से गुजरने पर ही इसमें से स्वर और सुर दोनों निकाले जाते हैं। यह चरवाहों का वाद्य है। विगत वर्षों में करणा भील (जिसका वध कर दिया गया) इसका श्रेष्ठ वादक था।

25. भपंग :

यह तूँबी से बना होता है। तूँबी नीचे से मढ़ी हुई होती है और इसका मुँह ऊपर से खुला रहता है। इसमें पतले चमड़े का एक तार लगा होता है। तूँबी को बगल में दबाकर तथा ताँत को हाथ में पकड़कर लकड़ी के गुटके से इसे बजाया जाता है। मेव-जोगियों तथा फकीरों का यह प्रिय वाद्य है।

2.1.11 लोक गायक

साधारण तौर पर हर वह व्यक्ति, जो लोक गीत का गायन करता हो, लोक गायक कहलायेगा। सामान्यतः मानव-समाज का प्रत्येक प्राणी इस श्रेणी में रखा जा सकता है क्योंकि सम्भवतः हर मनुष्य कभी-न-कभी अपने मनोभावों को स्वर लहरियों में ढालते हुए एकाध लोक गीत तो गाता ही है।

'लोक गायक' शब्द के सामाजिक रूप से प्रयोग को देखा जाए तो लोक गायक उन्हें भी कहा जाता है जो लोग लोक-गायन का कार्य पेशे के रूप में करते हैं। सारांशतः लोक-गीतों के गायकों को लोक गायक कहा जाता रहा है।

प्रख्यात लोकगायिका माई धाई

डॉ॰ सत्येन्द्र ने लोक-गायकों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है –

लोक गायक

- सामान्य गायक
- आनुष्ठानिक अथवा कर्मकांडिक गायक

सामान्य गायक

- अ-व्यवसायी
  - भगत-नौटंकी के गायक
  - खयाल गायक
  - रसिया-होली गायक, जिकड़ी भजन-गायक
  - मंगन गायक
    - टेसू-झाझी गीत गायक
- व्यवसायी

व्यवसायी

- महा कथा गीतों के गायक
  - दुलैया
  - अल्हैत
  - अन्य (हीर-राँझा आदि)
- मंगन गायक
  - भोपा
  - सरमन
  - अन्य (हिजड़े आदि)
- अन्य
  - नट
  - कठपुतली वाले
  - बेड़िन
  - रसधारी

आनुष्ठानिक अथवा कर्मकांडिक गायक

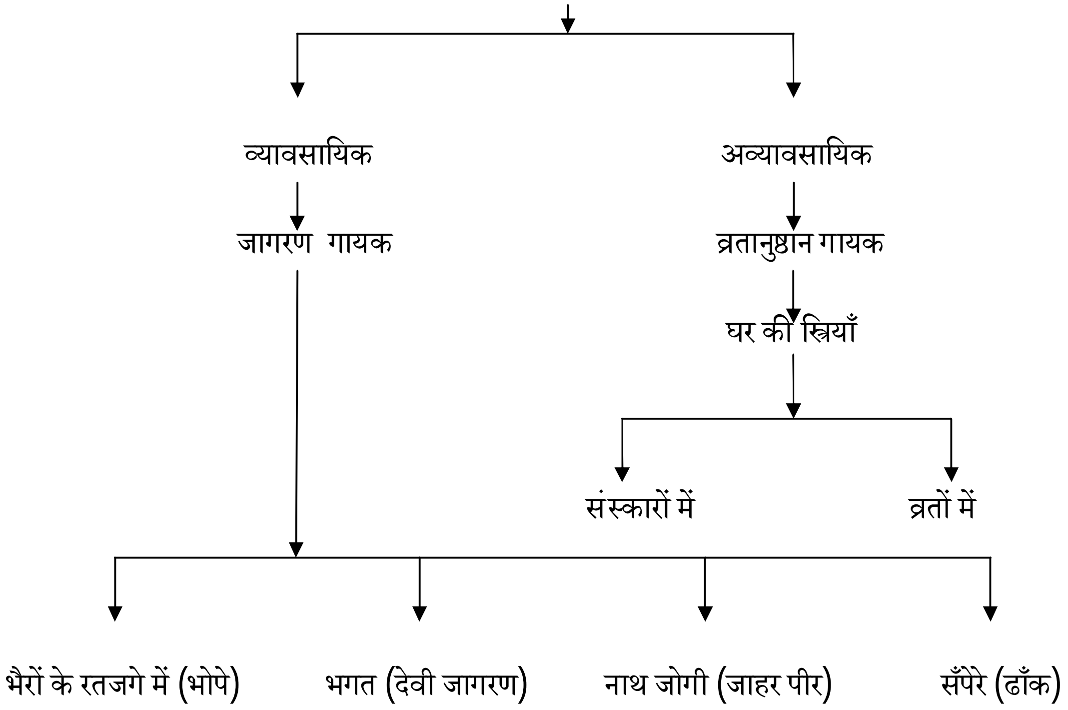

इन लोक-गायकों को डॉ॰ सत्येन्द्र ने पुरुष वर्ग, स्त्री वर्ग व मिश्रित वर्ग में इस प्रकार विभाजित किया है –

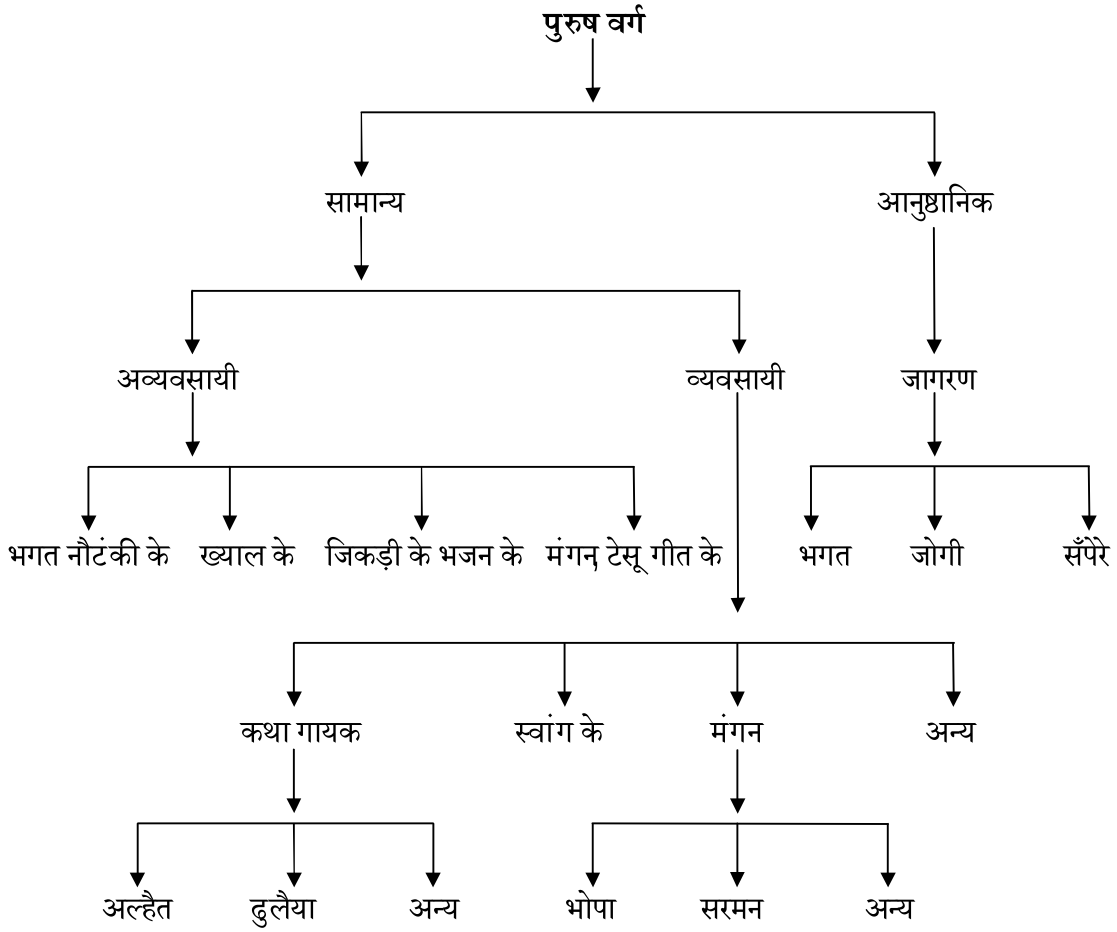

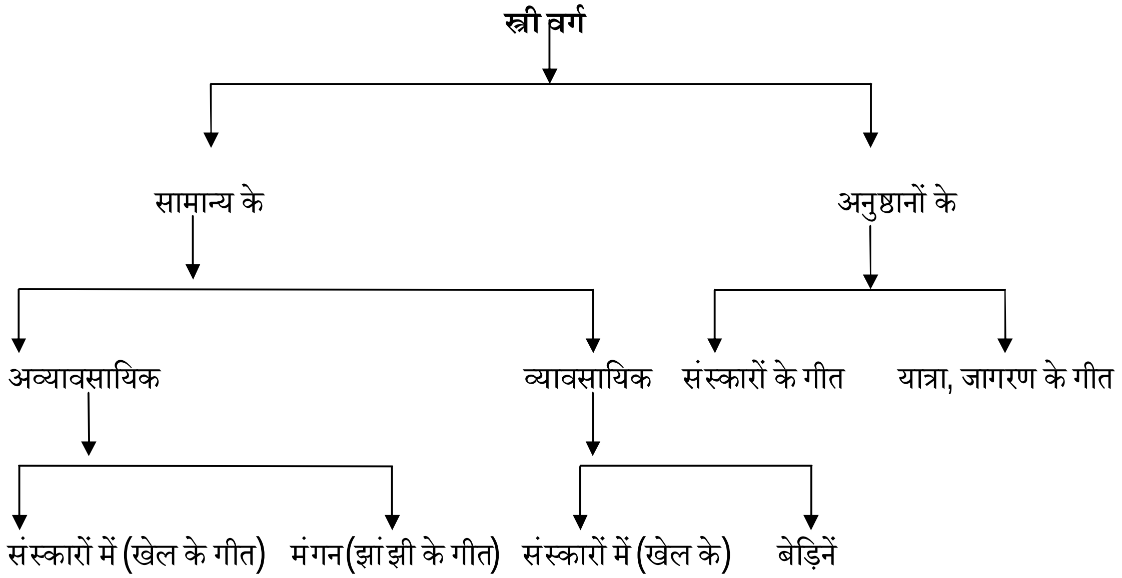

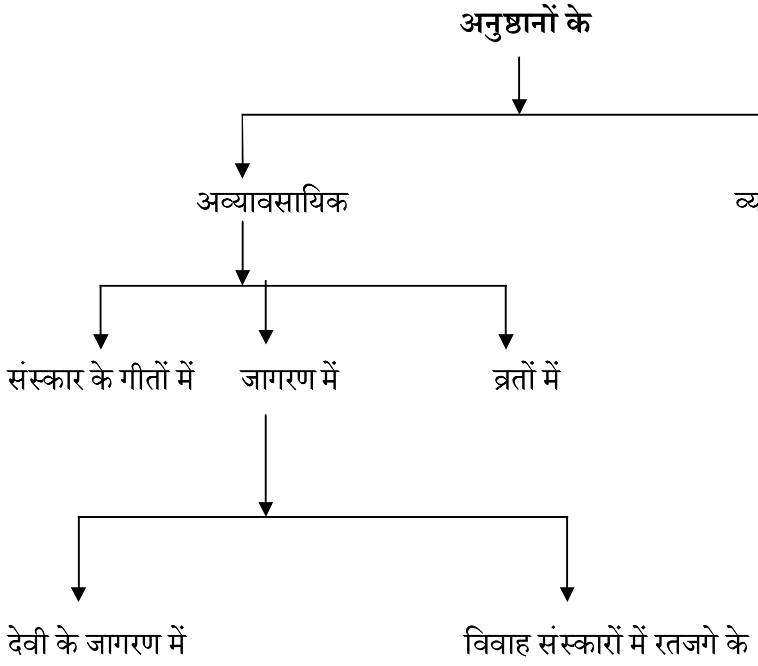
अनुष्ठानों के
अव्यावसायिक
व्यावसायिक
संस्कार के गीतों में
जागरण में
व्रतों में
संस्कारों में
देवी के जागरण में
विवाह संस्कारों में रतजगे के

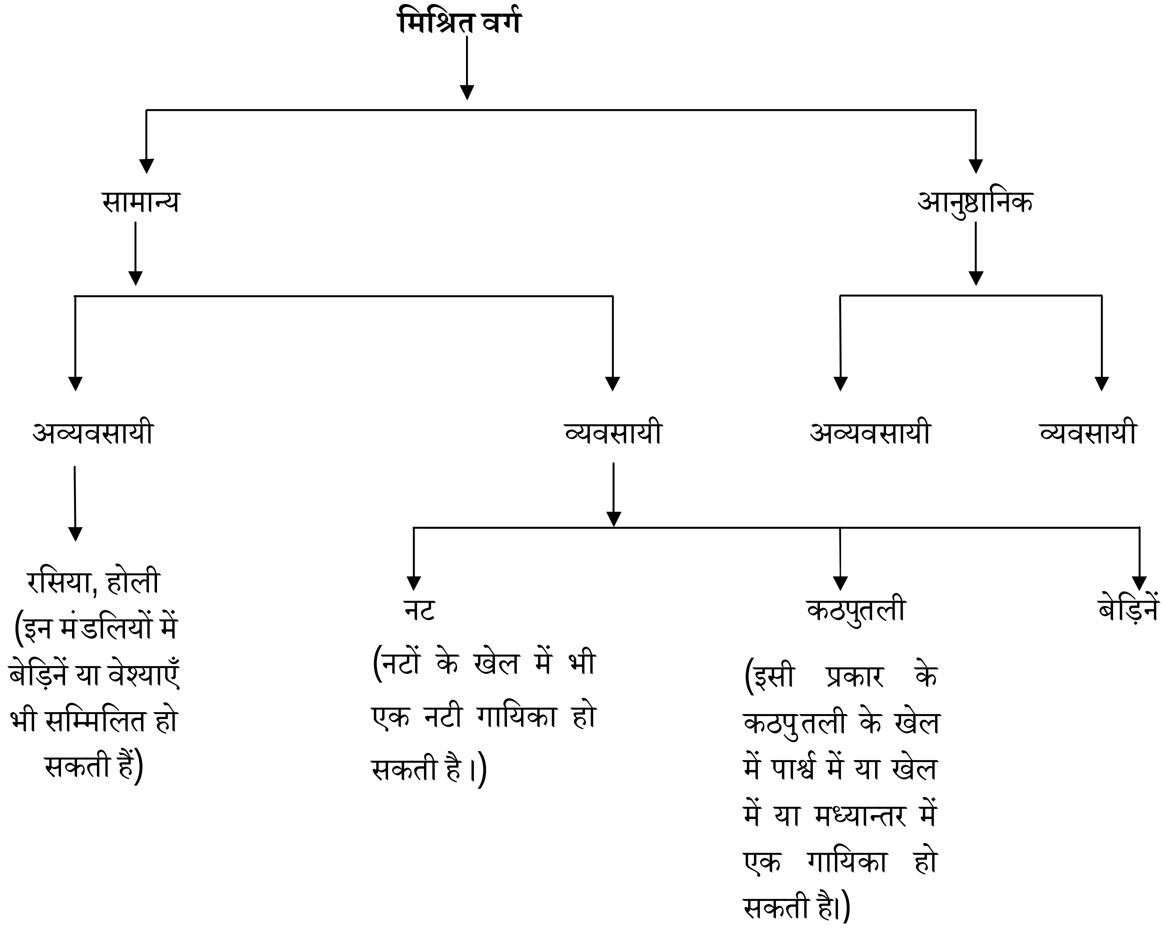
मिश्रित वर्ग
सामान्य
आनुष्ठानिक
अव्यवसायी
व्यवसायी
अव्यवसायी
व्यवसायी
रसिया, होली (इन मंडलियों में बेड़िनें या वेश्याएँ भी सम्मिलित हो सकती हैं)
नट (नटों के खेल में भी एक नटी गायिका हो सकती है।)
कठपुतली (इसी प्रकार के कठपुतली के खेल में पार्श्व में या खेल में या मध्यान्तर में एक गायिका हो सकती है।)
बेड़िनें

डॉ० सत्येन्द्र ने लोक-गायकों की संख्या के आधार पर इन्हें इस प्रकार विभाजित किया है –

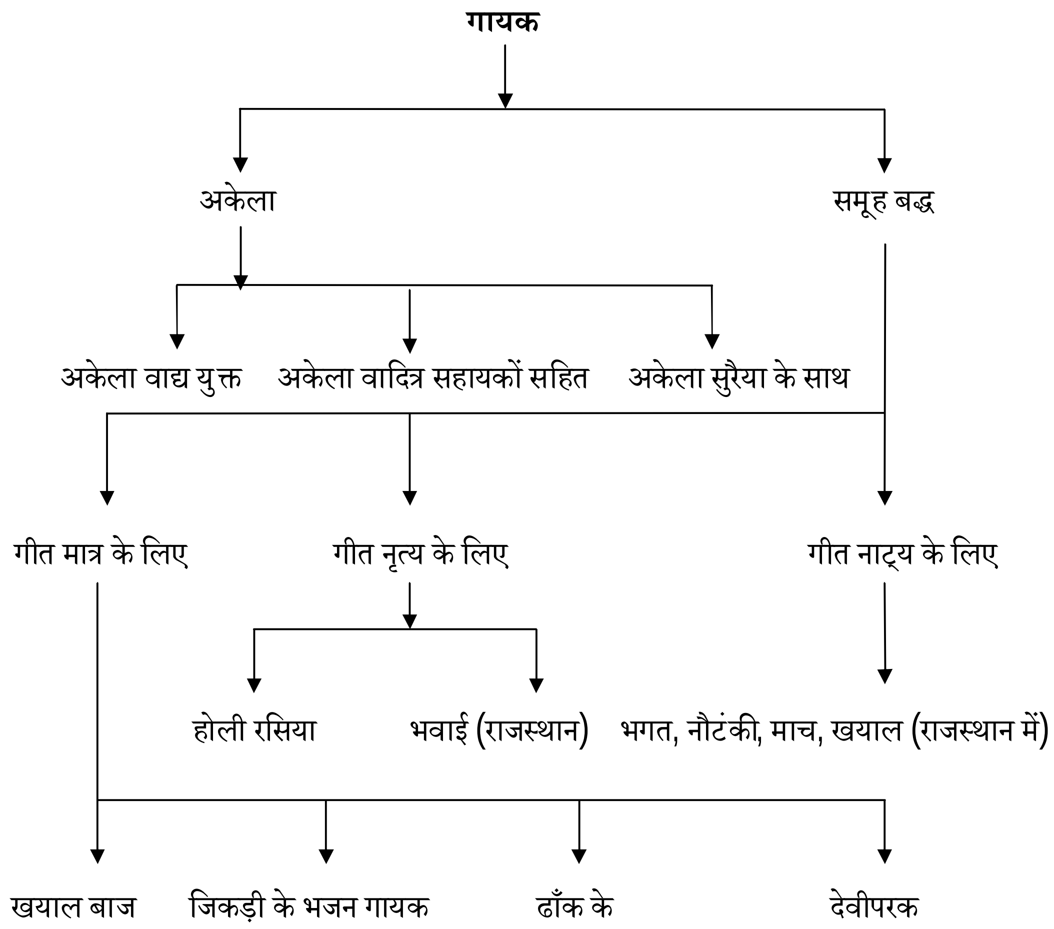

डॉ० श्री राम शर्मा का वर्गीकरण –

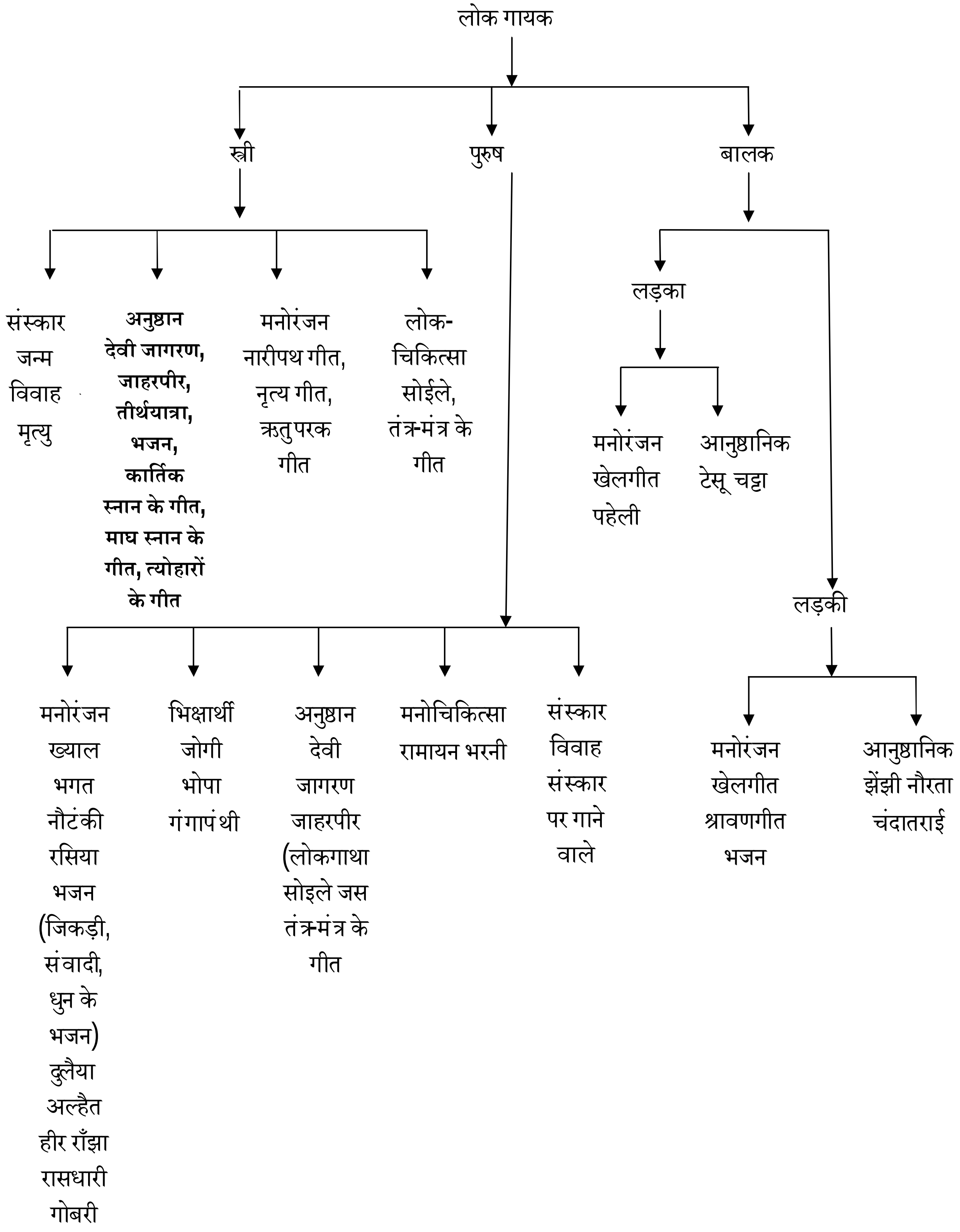

2.1.12 विशिष्ट लोक-धुनों का परिचय

'संगीत विशारद' नामक संगीत से सम्बन्धित प्रसिद्ध ग्रन्थ में इसके लेखक 'वसन्त' ने भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों की लोकप्रिय गीत शैली (धुनें) इस प्रकार बताई हैं –

क्र. सं.	प्रदेश	गीत शैली / धुनें
01.	असम	बीहू, करमा, कीर्तन
02.	आंध्रप्रदेश	कुम्मी
03.	उत्तरप्रदेश	माँगल, संस्कार, जागर, वसन्ती, गणगौर, झाँझीटेसू, समाज, सरिया, मूड़न, बरूआ, कजली, विदेसिया, बारहमासा, होरी, थड़या, चौंफुला, चाचरी, झोड़ा, बाजूबंद, छोपती, छपेली, चैती, घूगूटी, फुलारी, लावनी, रसिया, लाँगुरिया, सोहर, बन्ना, चैता घाटी, जैतसार, रोपनी, बिरहा, बधावा, मल्हार, नौटंकी, ठुमरी दादरा
04.	केरल	तिरूओड़म्, वंचिप्पाट्ट, यक्षगान, छथू, कुराथिपट्टम्
05.	गुजरात	गरबा या गरबी
06.	कश्मीर	रोफ, छकर, सूफियाना
07.	जम्मू	अब्रो
08.	पंजाब	टप्पा, हीर, जिन्दुआ
09.	बंगाल	जात्रा, चटका, कीर्तन, भटियाली, सारी, बाउल, भवइया, जारी, झूमर, गंभीरा
10.	बिहार	खेलौना, सगुन, अठंगर, घटरो, वज्जिका, बैसाली सोहर, पवारा, डोमचक, मुरलियाँ
11.	मध्यप्रदेश	निन्दायी, डंडा, देवार, बाँस, कर्मा, भोजली, नवरात, आल्हा, फाग, स्वाँग, सावनी, राछरे, रसिया, खयाल, बिलवारी, सैतम, जस, होरी, अचरी, मल्हार, बन्ना, बधावा, गरबा, साँझी, सुआ, ददरिया, गौरा, गणपति
12.	मणिपुर	होइरोइया, राऔथाईशै, नुपीपाला
13.	महाराष्ट्र	ओवी, मंगलागौर, लावनी
14.	राजस्थान	साँझयाँ, माँड, लूवर या घूमर, बींदली, गोरबंद, पणिहारी, पीपली, भूमल, कलाली, कसुमो, केवड़ो, घूघरी, कूँजा, लालर, माँछर, पटेल्या, बीचीयो, मोंमल
15.	हिमाचल प्रदेश	घुघती, बनजारा

2.1.13 पाठ-सार

लोक गीत लोकवाङ्मय की अमूल्य धरोहर है। लोक गीत विषय-वैविध्य के अलंकरण से मण्डित हैं इसलिए इन लोक-गीतों में गाँव की गलियाँ और हरे-भरे खेतों की हवा, कस्बों की कंकरीली रेत की महक, नवयौवन की अमिट अभिलाषाएँ अँगड़ाइयाँ लेती हैं तो बच्चों के उल्लास और उमंगों से पूरित मन-मयूर इन्हीं लोक गीतों में नृत्य करता है। इस तरह मानव जीवन का समस्त भाव-संसार इन गीतों में समाहित है। ये लोक गीत आकाश की भाँति उन्मुक्त और वायु की भाँति स्वच्छन्द हैं। जिस तरह जंगल में पक्षी स्वतन्त्र होकर गीत गाते हैं

उसी तरह लोक गीत भी स्वाभाविक रीति से अन्तर्मन से फूट पड़ते हैं। इनके काव्य सरल होते हैं। भावों की खींचतान इनमें नहीं होती है। अभिव्यक्ति की इसी सहजता, गेयता और संगीतात्मकता के अनुसार लोक गीत स्वाभाविक मन को द्रवित करने वाले स्वर घोलकर रस उत्पन्न करते हैं तथा मनुष्य रागात्मक भाव से अपने सुख-दुःख के भावों को इन गीतों में अभिव्यक्त करता है। इन गीतों में प्रेम, करुणा, वात्सल्य, हास्य, शृंगार, वीर इत्यादि सभी नौ रसों की भावपूर्ण लयात्मकता देखते ही बनती है। ये गीत मनुष्य के जीवन साथी हैं। इन्हीं गीतों में इतिहास, परम्परा एवं संस्कृति कीसम्पत्ति संचित है।

लोक गीत लोक-मानस की कालजयी यात्रा के अमर जयस्तम्भ हैं। ये गीत काव्यशास्त्र के साधारणीकरण सिद्धान्त पर खरे उतरते हैं। ये स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता, सहजता, सरलता तथा रागात्मकता में रँगी हुई बोधगम्यता, मौलिकता व मधुरता-युक्त रचनाएँ हैं।

लोकजीवन में सर्वाधिक रस घोलने वाली, अंतस् में मिठास संचरित करने वाली परन्तु ऊपर से अनगढ़, सरल व बेरोक-टोक अभिव्यक्ति ही लोक गीत है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो, जीवन की मधुरता व कठोरता के गंगा-जमुनी भावों का समंदर ही लोक गीत है।

लोक गीत समस्त लोकजीवन की गीतिमय अभिव्यक्तियाँ है और यही इनके कालजयी मूल्य और महत्त्व का अक्षय आधार है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक संरचना, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अन्तर्मन की गहराइयों तथा इतिहास की दृष्टि से तवारीख का यथार्थ समझना है तो लोक-गीतों के महासागर में उतरना होगा।

2.1.14 बोध प्रश्न

1. लोक-गीतों का सामाजिक महत्त्व उजागर कीजिए।
2. लोक-गीतों की प्रवृत्तियाँ उदाहरणसहित स्पष्ट कीजिए।
3. लोक-गीतों के वर्गीकरण क्षेत्र में आने वाली समस्याओं को समझाइए।
4. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के लोक-गीत विषयक विचारों पर प्रकाश डालिए।
5. लोक-वाद्यों के प्रमुख प्रकारों का विवेचन कीजिए।
6. लोक-गायकों का वर्गीकरण कीजिए।

2.1.15 कठिन शब्दावली

धीया	:	पुत्री
उळिया	:	पके हुए
आडौ	:	बीच में
झूलरौ	:	समूह
सँजोवियो	:	प्रदिप्त करना
हेरयो	:	ढूँढा

डागलिये	:	छत के ऊपर
जौवे बाट	:	राह देखना
मेंमद व रखड़ी	:	सिर पर पहनने के आभूषण
कीकर	:	कैसे

2.1.16 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. डॉ॰ सत्येन्द्र (2006) लोक-साहित्य विज्ञान, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थागार।
2. शर्मा, डॉ॰ श्रीराम (1992) लोक-साहित्य : सिद्धान्त और प्रयोग, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।
3. चारण, डॉ॰ सोहनदान (2016) राजस्थानी लोक-साहित्य का सैद्धान्तिक विवेचन, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थागार, ISBN 978-93-85593-11-6.
4. देथा, विजयदान (संग्रह एवं सम्पादन) 2003 गीतों की फुलवाड़ी, नई दिल्ली, साहित्य अकादेमी, ISBN 978-81-260-1822-2.
5. वसन्त (2010) संगीत विशारद, हाथरस, संगीत कार्यालय, ISBN 81-85057-00-1.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 1

इकाई – 2 : लोक-नाट्य : लक्षण-निर्धारण, नाट्य-धर्मिताएँ, लोक-नाट्यों का उद्‌भव एवं विकास, लोक नाट्य-परम्परा एवं प्रविधि, लोक-नाट्यों की विशेषताएँ, लोकमंच का स्वरूप और उसके उपादान, लोक-नाट्यों की लोकप्रियता के कारण, लोक नाट्यों के प्रकार, हिन्दी नाटक और रंगमंच पर लोकनाट्यों का प्रभाव, भारत के प्रसिद्ध लोक-नाट्यों यथा – बहुरूप या नकल, नसीरा, भगत, रामलीला, रासलीला, कीर्तनियाँ, यक्षगान, भवाई, संपेडा, विदेसिया, माच, भाँड, तमाशा, स्वाँग, नौटंकी, जात्रा, कथकली, ख्याल, तुर्राकलंगी, रम्मत आदि का परिचय

इकाई की रूपरेखा

2.2.00 उद्देश्य कथन
2.2.01 प्रस्तावना
2.2.02 लक्ष्य-निर्धारण
2.2.03 नाट्य-धर्मिताएँ
2.2.04 लोक-नाट्यों का उद्‌भव एवं विकास
2.2.05 लोक नाट्य-परम्परा एवं प्रविधि
2.2.06 लोक-नाट्यों की विशेषताएँ
2.2.07 लोक-मंच का स्वरूप और उसके उपादान
2.2.08 लोक-नाट्यों की लोकप्रियता के कारण
2.2.09 लोक-नाट्यों के प्रकार
2.2.10 हिन्दी नाटक और रंगमंच पर लोकनाट्यों का प्रभाव
2.2.11 भारत के प्रसिद्ध लोक-नाट्यों का परिचयात्मक अध्ययन
2.2.12 पाठ-सार
2.2.13 बोध प्रश्न
2.2.14 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.2.00 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ में लोक-नाट्यों के विषय में जानकारी दी जाएगी। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप निम्नलिखित बातें जान पाएँगे –

i. लोक नाट्य का अर्थ व उसकी परिभाषा
ii. लोक-नाट्यों का उद्‌भव व उनकी विकास-यात्रा
iii. लोक-नाट्य एवं शिष्टनाट्य का भेद
iv. लोक-नाट्यों की विशेषताएँ

v. लोकमंच का स्वरूप
vi. लोक-नाट्यों के वर्गीकरण आधार
vii. लोक-नाट्यों की लोकप्रियता के मुख्य कारण
viii. लोक-मंच की साहित्यिक रंगमंच को देन
ix. विभिन्न प्रकार के लोक-नाट्यों का परिचय

2.2.01 प्रस्तावना

भारतवर्ष में लोक-नाट्यों के प्रचलन की अति प्राचीन परम्परा प्राप्त होती है। आज के इस तकनीकी-युग में जनसंचार व मनोरंजन के बहुत-से साधन उपलब्ध हैं परन्तु पिछले सैकड़ों वर्षों तक सामाजिक धरातल पर शिक्षा एवं मनोरंजन दोनों ही दृष्टियों से लोक-नाट्यों का ही राज रहा है। भारत के सभी प्रदेशों के प्रसिद्ध व भाँति-भाँति के लोक-नाट्यों को देखकर सहज ही अनुमान हो जाता है कि भारतीय समाज ने कितने श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों को अपनाकर उन्हें अपने अन्तर्मन में स्थान दे रखा है। इन्हीं जीवन-मूल्यों के आधार पर भारत को जगत् गुरु कहा गया। सादगी इन लोक-नाट्यों की सर्वोत्तम व परिगणनयोग्य विशेषता रही है। इन लोक-नाट्यों में भारतीय जनजीवन के रंग-बिरंगे चित्र हैं जो भारतीय संस्कृति का सुन्दर परिचय प्रदान करते हुए लोकानुरंजन का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

2.2.02 लक्ष्य-निर्धारण

लोक नाट्य शब्द दो अलग-अलग शब्दों 'लोक' व 'नाट्य' के संयोग से बना है। व्युत्पत्तिके आधार पर 'लोक' का शाब्दिक अर्थ 'देखने वाला' है अर्थात् वह समस्त जनसमुदाय, जो देखने के कार्य को सम्पन्न करता है, 'लोक' कहलाता है परन्तु यही लोक शब्द जब साहित्यिक विशेषण के रूप में प्रयोग में लिया जाता है तब यह अपना एक विशिष्ट अर्थ प्रदान करता है। इसी लोक को परिभाषित करते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है – "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती है, उनको उत्पन्न करते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषा में वर्णित यही जनसमूह जब नाट्य रूप में कथोपकथन शैली के माध्यम से किसी कथावृत को अभिनय के साथ साकार करता हैं तो वह 'लोक नाट्य' कहलाता है। नृत्य, संगीत, अभिनय तथा वेशभूषा इन लोक-नाट्यों के प्रभावी सम्प्रेषण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

डॉ० श्याम परमार ने 'लोक नाट्य' को इस प्रकार परिभाषित किया है – "लोक नाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है, जिसका सम्बन्ध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से हो और जो परम्परा से

अपने-अपने क्षेत्र के जन-समुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो।" लोक-नाट्यों की आडम्बरहीनता व परम्परा को रेखांकित करते हुए भी डॉ० श्याम परमार ने इसे परिभाषित किया है – "लोक नाट्य लोकरंजन का आडम्बरहीन साधन है, जो नागरिकों के मंच से अपेक्षाकृत निम्न स्तर का है, पर विशाल जन के हर्षोल्लास से सम्बन्धित है। ग्रामीण जनता में इसकी परम्परा युगों से चली आ रही है। चूँकि 'लोक' में ग्रामीण एवं नागरिक जन सम्मिलित है अतः लोक नाट्य एक मिले-जुले जन-समाज का मंच है। परिष्कृत रुचि के लोक के लिए जिन नाटकों का विधान है, उसकी आधार-भूमि यही लोक नाट्य है।"

डॉ० नगेन्द्र लोक-नाट्यों की निर्मूति के कारणों को इंगित करते हुए कहते हैं – "लोक नाटक सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं के कारण निर्मित होने से लोक कथानकों, लोक विश्वासों और लोक तत्त्वों को समेटे चलता है और जीवन का प्रतिनिधित्व करता है।"

डॉ० रामकुमार शर्मा ने लोक-नाट्यों की परिभाषा इस प्रकार दी है – "लोकधर्मी रूढ़ियों की अनुकरणात्मक अभिव्यक्तियों का वह नाट्य रूप, जो अपने-अपने क्षेत्र के लोक-मानस को आह्लादित, उल्लसित एवं अनुप्राणित करता है, 'लोक नाट्य' कहलाता है।"

2.2.03 नाट्य-धर्मिताएँ

प्राचीन भारतीय रंगमंच की दो प्रकार की नाट्यधर्मिताओं का उल्लेख प्राप्त होता है – (अ) नाट्यधर्मी और (ब) लोकधर्मी।

नाटक के स्वरूप तथा उसके प्रमुख तत्त्वों, जैसे – कथावस्तु, नेता व रस से सम्बन्धित नियमों व सिद्धान्तों को नाट्यधर्मी माना गया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र ग्रन्थ में यह स्वीकार किया है कि लोकजीवन व लोक नाट्य, नाट्य की वास्तविक आधारभूमि है। भरतमुनि ने लोक नाट्य (लोकधर्मी) को सहज-स्वाभाविक तो नाट्यधर्मी को विशेष कहा है।

लोक नाट्य लोकजीवन के मुँह-बोलते चित्र हैं। इनमें लोकजीवन की सुख-दुखात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिलती है। लोक-नाट्यों का विषय-क्षेत्र अपरिमित है। लोक नाट्य को नाट्यधर्मी की भाँति शास्त्रीय कसौटी में कसकर नियमों में आबद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि लोक नाट्य लोकजीवन के भावों व सहज प्रवृत्तियों को लेकर चलते हैं और भावों को नियमों में बाँधना असम्भव-सा प्रतीत होता है। यही कारण है कि लोक-नाट्यों की आलोचना नाट्यशास्त्रीय नियमों को आधार बनाकर नहीं की जा सकती है।

भरतमुनि ने तेरहवें अध्याय में लोकधर्मी नाट्य-परम्परा पर विचार करते हुए इसके लक्षणों को इस प्रकार बताया है –

1. लोकधर्मी नाटक स्वाभाविक ढंग से प्रकट होने वाला नाटक है।

2. इसके दो भेद होते हैं – (i) शुद्ध स्वाभाविक व (ii) विकृत स्वाभाविक।
3. दोनों ही भेदों का मूलाधार लौकिक क्रियाएँ एवं लोक वार्ता है।
4. लोक नाट्य में अंग लीला का वर्णन है।
5. लोक नाट्य का अभिनय स्वाभाविक होता है।
6. लोक-नाट्यों में अनेक स्त्री-पुरुष भाग लेते हैं।

दोनों प्रकार की नाट्य-धर्मिताओं के आधार पर दो नाट्य-रूप उभर कर आते हैं – (1) लोक नाट्य तथा (2) शिष्टनाट्य।

इन दोनों प्रकार के नाट्य रूपों में मुख्य अन्तर है – शास्त्रीय बन्धनों एवं नियमों, उप-नियमों में बँधने और न बँधने का। लोक नाट्य सहज रूप में बिना साज-सज्जा एवं शास्त्रीय नियमों में आबद्ध हुए लोक मानस की कृति होता है जबकि परिनिष्ठित साहित्य की नाट्य-विधा एक व्यक्ति विशेष की कृति होती है जो शास्त्रीय नियमों में पूर्णरूपेण आबद्ध रचना होती है।

लोक रंगमंच तथा नागरिक या साहित्यिक रंगमंच(शिष्टनाट्य) का अन्तर करते हुए श्री जगदीशचन्द्र माथुर के विचार अवलोकनीय हैं – "लोक रंगमंच और नागरिक अथवा साहित्यिक रंगमंच में मुख्य अन्तर यह है कि लोक रंगमंच असाधारण, विशेषतः देहाती जनता के दैनिक जीवन की एक प्रक्रिया है, वह उनके दैनिक जीवन का एक अनिवार्य अंग रहा है। यह सामाजिक उद्देश्यों का एक माध्यम है जबकि नागरिक रंगमंच वर्ग-विशेष के लोगों के मनोरंजन का साधन है जो उनकी फुरसत के क्षणों का मन-बदलाव के लिए आयोजित होता है।" दूसरे शब्दों में "लोक रंगमंच लोक समाज की देह का अंग है, नागरिक या साहित्यिक रंगमंच उसका बाहरी आभूषण, लोक-रंगमंच जीवन की उमंग की स्वाभाविक और अनायास अभिव्यक्ति है, नागरिक रंगमंच कलात्मक और चेष्टायुक्त अभिव्यक्ति।"

भारतीय नाट्य समीक्षा में साहित्यिक नाटकों के वस्तु, नेता, रस व अभिनय जैसे तत्त्वों को आधार बनाया जाता है। वहीं लोक-नाट्यों के विषय में उपर्युक्त चारों तत्त्वों पर तो थोड़ा-बहुत विचार ही किया जाता है परन्तु यहाँ नृत्य, गीत, वेशभूषा तथा वाद्य जैसे तत्त्वों की प्रधानता रहती है जबकि शिष्ट-नाट्यों में इनकी कोई विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती है।

2.2.04 लोक-नाट्यों का उद्भव एवं विकास

मानव सृष्टि के प्रारम्भ में आंगिक चेष्टाओं के द्वारा अपने मनोभावों को सम्प्रेषित करना मनुष्य का लोक नाट्य की तरफ उठता हुआ पहला कदम था। सामाजिकता के विकास ने उसे मनोरंजन की तरफ उन्मुख किया। आंगिक चेष्टाओं में अभिनय ने स्थान पा लिया। वह सामाजिक विद्रूपताओं को भी समझने लगा व धीरे-धीरे उसने इन विद्रूपताओं को अभिनय में उतारते हुए मनोरंजन करना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह मानव-चेतना के विकास तथा मनोरंजन की इच्छा के कारण लोक-नाट्यों के आदिरूप का सृजन हुआ। भारतीय परम्परा में यह भी

आम मान्यता रही है कि वेद-पाठ से वंचित मानव-जाति हेतु स्वयं ब्रह्माजी ने पाँचवे वेदस्वरूप नाट्य-वेद का सृजन किया है। विश्व के समस्त विद्वान् इस बात से सहमत है कि हजारों वर्षों की परम्परा से विकसित इन लोक-नाट्यों की शुरुआत किसी-न-किसी धार्मिक भावना या चेतना के फलस्वरूप ही हुई है।

डॉ॰ वेदपाल खन्ना के अनुसार "संसार के प्रायः सभी देशों में नाटक के आदिरूप का उदय किसी-न-किसी धार्मिक भावना अथवा चेतना के फलस्वरूप हुआ है। वीर पूजा की भावना धार्मिक उपदेश-आदेश, जो कि प्रायः प्राणिमात्र के हृदय में किसी-न-किसी अंश में निहित रहता है, धीरे-धीरे नाटक का रूप धारण कर लेता है। यद्यपि अपने आदिरूप में यह नाटक बड़ा ही साधारण और अपरिमार्जित होता है।"

ज्यों-ज्यों सभ्यता एवं संस्कृति का विकास हुआ त्यों-त्यों मनुष्य भी धीरे-धीरे अपनी भावनाओं की सभ्य रूप में संयमित अभिव्यक्ति करने लगा। यह संयत अभिव्यक्ति ही लोक-नाट्यों व नाट्यों के शुरुआती आदिस्रोत माने जा सकते हैं।

2.2.05 लोक नाट्य-परम्परा एवं प्रविधि

लोक नाट्य की परम्परा के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि वेदों की परम्परा ही लोक-नाट्यों का मूल स्रोत है तो दूसरा वर्ग इनके बीज रामायण और महाभारत के उन गायकों में बताते हैं जिन्हें 'पाठक' और 'धारक' की संज्ञा से पुकारा जाता है। इन विद्वानों ने रामलीला और रासलीला के प्रेरक स्रोत भी इन्हीं गायकों को माना है। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि लोक नाटक ही संस्कृत नाटकों की प्रेरणा रहे हैं।

डॉ॰ दशरथ ओझा के अनुसार "हिन्दी नाट्य-परम्परा का मूल स्रोत यह वन नाटक ही है जो 'स्वांग' आदि नाम से प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान है।

डॉ॰ श्याम परमार के अनुसार "मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के समय उत्कृष्ट रंगमंच के अभाव में लोकमंच को ही विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। भक्ति आन्दोलन के प्रमुख सन्तों ने लोक नाट्य शैली को अपनाकर गीति-नाट्य-परम्परा को प्रश्रय दिया।"

सदियों पुरानी इस लोक नाट्य-परम्परा ने अपने उस उच्च स्तर को प्राप्त किया है कि आज भी उत्सवों, पर्वों या आनन्द के क्षणों में यह लोक नाट्य भारत के प्रत्येक प्रदेश में प्रदर्शित होते देखे जा सकते हैं। जैसे – ब्रज और हरियाणा के स्वाँग, ब्रज की रासलीला, हिमाचल का करिमाला, मिथिला का कीर्तनिया, आसाम का अंकिया भोजपुरी की रामलीला, महाराष्ट्र का तमाशा, गुजरात का भवाई, बिहार का विदेसिया, राजस्थान का ख्याल आदि।

2.2.06 लोक-नाट्यों की विशेषताएँ

लोक-नाट्यों की अपनी विशेषताएँ हैं जो शिष्ट-नाट्यों या साहित्यिक-नाट्यों से उनका विभेद उपस्थित करती हैं। जगदीशचन्द्र माथुर के अनुसार लोक-नाट्यों की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. लोक रंगमंच मानव-समाज की सामूहिक अनुभूतियों, भावनाओं एवं प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है, व्यक्ति विशेष की नहीं। साथ ही, यह कार्य लोक-नाट्य अपनी स्वाभाविक पद्यात्मक भाषा के द्वारा संवादों के रूप में करता है अर्थात् इनमें संवाद पद्यात्मक होते हैं।
2. लोक-नाट्यों के टाइप चरित्र अर्थात् पात्र किसी समूह विशेष या प्रवृति विशेष का प्रतिनिधि करते हैं।
3. लोक-नाट्यों का प्रदर्शन खुला रंगमंच पर होता है जहाँ प्रायः एक पर्दा पृष्ठ भाग में लगा रहता है तथा दृश्य परिवर्तन का अभाव पाया जाता है।
4. लोक-नाट्यों में संकेतात्मक अभिनय का महत्त्व है यह अभिनय नृत्य के हाव-भाव युक्त होता है।
5. लोक-नाट्यों पौराणिक कथा पर आधारित होता है। कथा के मध्य निश्चित अन्तराल पर विदूषक का प्रवेश होता है। इसमें मर्मस्पर्शी अभिनय के साथ-साथ आदर्श स्थापनात्मक उपदेश अथवा उच्च वर्ग पर व्यंग्य तथा सम-सामयिक विषयों पर चुटीली भावाभिव्यक्ति की जाती है।
6. लोक-नाट्यों में कथानक का महत्त्व कम होता है क्योंकि कथाएँ प्रायः परिचित होती है। इनमें रसानुभूति द्वारा तृप्ति का महत्त्व अधिक होता है।
7. लोक-नाट्यों में नाटक मण्डली का प्रत्येक सदस्य आवश्यकतानुसार किसी भी पात्र को निभा सकता है। जैसे – नायक अथवा विदूषक का अभिनय या निर्देशक का कार्य करना।
8. लोक-नाट्यों में लोकजीवन के रीति-रिवाजों या उत्सवों का उल्लेख अनिवार्य रूप से होता है। साथ ही, लोकप्रचलित गीतों और कहावतों का समावेश भी आवश्यक रूप से रहता है।

2.2.07 लोक-मंच का स्वरूप और उसके उपादान

1. <u>रंगमंच का स्वरूप</u>:

लोक मंच के स्वरूप पर दर्शकों की अनुमानित संख्या का बहुत प्रभाव पड़ता है। बड़े-बड़े नगरों में जहाँ बड़ी संख्या में दर्शक आते हैं वहाँ ऊँचा मंच बनाया जाता है जिससे अधिक-से-अधिक दूर तक बैठे दर्शक भी मंचित लोक नाट्य को देख सकें। साथ ही, इस मंच को पृष्ठ भाग में चाँदनी (पर्दा) तानकर कृत्रिम फूलों, डालियों, गुब्बारों, फूल-पत्तों आदि से सुसज्जित भी किया जाता है। परन्तु जब किसी छोटे से गाँव में, जहाँ कम संख्या में दर्शक होते हैं अथवा जहाँ मंच की ऊँचाई कम होती है, वहाँ अक्सर गाँव के चौपाल में ही तख़्त बिछाकर उसको मंच का स्वरूप दे दिया जाता है या फिर किसी चबूतरे को ही मंच के रूप में काम ले लिया जाता है। ऐसी स्थिति में इस मंच की कोई साज-सज्जा भी नहीं की जाती है।

2. नेपथ्य का स्वरूप :

लोक-नाट्यों की यह सर्वमान्य विशेषता रही है कि इनका मंच खुला होता है। परन्तु ब्रज लोक नाट्य 'भगत' इसका अपवाद है। इसमें नेपथ्य में मुख्य मंच पर कनातें लगाई जाती हैं जिससे पात्रों के आने-जाने या आकाशभाषित की व्यवस्था रहती है।

3. रंगमंच की सज्जा :

दर्शकों की अनुमानित संख्या के आधार पर इसकी ऊँचाई तय की जाती है और प्रसंगानुकूल विशेष सिंहासनों आदि की व्यवस्था की जाती है। साजिंदों के बैठने की व्यवस्था भी यहीं पर अलग से की जाती है।

4. प्रकाश-विधान :

सामान्यतः विद्युत, लालटेन या गैस द्वारा संचालित उपकरणों द्वारा प्रकाश की व्यवस्था की जाती है। इनके अभाव में मशाल जलाकर भी यह कार्य किया जाता है। राजस्थान में 'पड़ वाचन' में दीपक का उपयोग किया जाता है। शीतकाल में अलाव जलाकर भी प्रकाश-विधान किया जाता है। प्रकाश-व्यवस्था को भी दर्शकों की अनुमानित संख्या प्रभावित करती है।

5. वादित्र :

उपयोग में आने वाले सभी वाद्यों, जैसे – सारंगी, नक्कारा, ढोलक, झाँझ, मजीरा, चीमटा, नफीरी आदि की व्यवस्था मंच की ओर ही रहती है। इनके वादक मंच की समानान्तर ऊँचाई के तख़्त आदि डालकर बैठते हैं। कई बार पात्र स्वयं भी रावणहत्था या सारंगी आदि का वादन करते हैं।

6. अभिनय प्रकार :

लोक-नाट्यों में आंगिक और वाचिक अभिनय पाया जाता है। हाव-भाव, मुख-मुद्राएँ या संवाद-शैली द्वारा अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही, नृत्य व गीत का भी इनमें प्रभावकारी सहयोग लिया जाता है।

7. भूल-मार्जन के साधन :

जब भी कोई पात्र अपना संवाद भूल जाता है या उसे अशुद्ध बोल जाता है तो नाटक मण्डली का कुशाग्र व सचेत संचालक बड़ी चतुराई से उसकी भूल को वाद्य यंत्र पर बैठे-बैठे ही सँभाल लेता है।

8. आरम्भ और उसकी शैली :

लोक-नाट्यों के आरम्भ की शैली बहुत रोचक होती है जिसमें मंचित किए जाने वाले लोक नाट्य का परिचय देते हुए तथा उसके माहात्म्य पर नाट्य-निर्देशक द्वारा प्रकाश डाला जाता है। प्रारम्भ में ही गणेश वन्दना, इष्टदेव वन्दना भी की जाती है।

9. समापन और उसकी शैली :

आरम्भ की ही भाँति लोक नाट्य का समापन भी बहुत विशेष होता है। भारतीय परम्परा में अधिकतर लोक-नाट्य सुखान्त होते हैं। लोक नाट्य के समापन में देवी-देवताओं के जयकारे बोले जाते हैं। लोक विश्वासानुसार रामलीला के अन्त में हनुमानजी को आदरपूर्वक विदा भी किया जाता है।

2.2.08 लोक-नाट्यों की लोकप्रियता के कारण

लोक-नाट्यों की लोकप्रियता के कारण निम्नलिखित हैं –

1. लोक नाट्य लोकजीवन से ही पुष्ट होते हैं और वहीं से ये जीवन-रस प्राप्त करते हैं अतः इनका तादात्म्य दर्शकों से आसानीपूर्वक हो जाता है।
2. लोक-नाट्यों की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण इनकी सहजता और अकृत्रिमता है। दर्शक के भावों का साधारणीकरण हो जाता है तथा वह इनमें डूबकर आनन्द के गोते लगाने लगता है।
3. लोक-नाट्यों में लोक-रुचियों का विशेष ध्यान रखा जाता है।
4. संगीत का प्रभावोत्पादक प्रयोग कथानक के अनुसार माहौल का सृजन कर देता है। दृश्य चाहे हर्षोल्लास से सम्बन्धित हों अथवा शोक प्रकट करने वाले हों, संगीत के माध्यम से वे जीवन्त हो उठते हैं।
5. लोक-नाट्यों की लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण है – पात्रों द्वारा स्थानीय बोली या भाषा का उपयोग।
6. लोक-नाट्यों में नृत्य का संपुट इसे रोचक बनाता है इसलिए नृत्य को लोक-नाट्यों का प्राण माना जाता है।
7. लोक-नाट्यों में पात्रों की भाव-भंगिमाएँ दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं।

2.2.09 लोक-नाट्यों के प्रकार

लोक-नाट्यों के प्रकार स्पष्ट करने हेतु विद्वानों ने बहुत-से आधार बताए हैं। जैसे – बोली या भाषा, भौगोलिक परिस्थितियाँ, रंगमंच का प्रकार, लोक नाट्य के तत्त्वों का आधार, विशेष पर्व या उत्सव का आधार, लोक नाट्य का उद्देश्य के आधार पर अभिनय, वाद्य या गायकी का आधार आदि। किन्तु इन सभी आधारों को

स्वीकार कर वर्गीकरण करने पर भी लोक-नाट्यों के प्रकारों का समुचित वर्गक्रिरण करने में कठिनाई होती है। विद्वानों ने लोक-नाट्यों के निम्नानुसार भेद बताए हैं –

डॉ॰ श्याम परमार ने लोकधर्मी नाट्य-परम्परा को इस प्रकार वर्गीकृत किया है –

1. सामयिक लघु प्रहसन, नाटिका

(1) प्रहसन : स्त्रियों द्वारा / पुरुषों द्वारा / बालक-बालिका द्वारा
(2) स्वाँग या नकल : होली के अवसर पर पुरुषों द्वारा / बहुरूपियों द्वारा
(3) भाँड-भँडेती : पेशेवर लोगों द्वारा

2. मध्य रात्रि से प्रारम्भ होकर प्रातःकाल तक अभिनेय गीति नाट्य –

(1) धार्मिक-पौराणिक कथाओं पर आधारित
(2) ऐतिहासिक-मध्यकालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित
(3) लौकिक-किंवदन्तियों पर आधारित

डॉ॰ सत्येन्द्र द्वारा किया गया लोक-नाट्यों का प्रवृत्यात्मक वर्गीकरण इस प्रकार है –

1. नृत्य प्रधान
2. नाट्य हास्य प्रधान
3. संगीत प्रधान कथाबद्ध
4. नाट्य वार्ता प्रधान

डॉ॰ अर्जुनदेव चारण ने लोकधर्मी नाट्य-परम्परा को इस प्रकार वर्गीकृत किया है –

1. आनुष्ठानिक लोक नाट्य
2. उत्सव के लोक नाट्य
3. व्यावसायिक लोक नाट्य

डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा लोक-नाट्यों का किया गया वर्गीकरण इस प्रकार है –

1. प्रहसनात्मक लोक नाट्य
2. नृत्यनाट्यात्मक लोक नाट्य (डांस-ड्रामा)

डॉ॰ महेन्द्र भानावत ने लोकधर्मी नाट्य-परम्परा को इस प्रकार वर्गीकृत किया है –

1. ख्याल
2. स्वांग
3. लीलाएँ (राजस्थानी लोक-नाट्यों के आधार पर)

2.2.10 हिन्दी नाटक और रंगमंच पर लोकनाट्यों का प्रभाव

विद्वानों के मतानुसार हिन्दी नाटक और रंगमंच भरपूर साधन-सम्पन्न होते हुए भी अपने दर्शक जुटा पाने में असक्षम व निस्सहाय-सा प्रतीत होने लगा क्योंकि इन नाटकों में सामाजिक लोक-तत्त्वों की उपेक्षा व इनसे दुराव रखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह प्रवृत्ति ही हिन्दी रंगमंच हेतु घातक सिद्ध होने लगी। श्रीबी. एम. शाह ने इस समस्या पर विचार करते हुए कहा कि – "जब तक इसमें (लोक नाट्य के गुण) संगीत व हास्य को समाविष्ट नहीं किया जाता और जब तक इसे नाट्य समीक्षकों का पूर्ण समर्थन नहीं मिलता तब तक यह क्षतिग्रस्त रहेगा।" इसी प्रकार श्री राजाराम शास्त्री ने भी इस बात का अनुमोदन करते हुए कहा कि करोड़ों रुपए खर्च करने के बावजूद भी नागरिक मंच फल-फूल नहीं रहा है। 'सोखा की बीमारी' से ग्रस्त बालक की नागरिक मंच से तुलना करते हुए उन्होंने कहा कि एक प्रदर्शन के लिए इतना खर्च कर दिया जाता है कि दूसरे प्रदर्शन के लिए बजट ही नहीं बचता और यही आडम्बर रूपी रोग हिन्दी रंगमंच को लगा हुआ है जबकि लोकमंच एक स्वस्थ बच्चे की भाँति है जिसके तन पर पूरे वस्त्र न होते हुए भी, आडम्बरहीन व साधनहीन होने के बावजूद उसे गोद में खेलाने को मन करता है। सारांशतः हिन्दी नाटक व रंगमंच अपनी कृत्रिमता व आडम्बर के कारण लड़खड़ाने वाली स्थिति में पहुँच गया है। ऐसी स्थिति में पहुँचने पर नागरिक मंच ने इन सुझावों व दबावों को अंगीकार किया। परिणामतः पारम्परिक रंगमंच के रूप और नई दृष्टि से नाट्यकरण की संभावनाओं कोउजागर करते हुए हिन्दी रंगमंच देश के परम्परागत लोक नाट्य तत्त्वों को अपनाने लगा है।

श्री कमल वशिष्ठ के अनुसार – "आज का भारतीय रंगमंच विदेशी अन्धानुकरण की प्रवृत्ति को त्यागकर भारतीय लोकमंच की ओर उन्मुख हो रहा है। उसमें बाह्य स्थूल यथार्थ के चित्रण की अपेक्षा मनुष्य की कल्पना को सजग करने का प्रयास किया जा रहा है। लोक रंगमंच की रूढ़ियों में मुखौटे विदूषक, संगीत एवं नृत्य का प्रयोग रंगमंच में अधिक हो रहा है। हयवदन (यक्षगान शैली), घासीराम कोतवाल (दशावतार शैली), बकरी (नौटंकी शैली), अबूहसन (जात्रा शैली) आदि नाटक लोक रंगमंच की शैलियों में लिखे गए हैं। नाटक के कथ्य को संगीत में बाँधना एक नया काम है। अस्तु, दर्शकों को जोड़ रखने में संगीतात्मकता अधिक सहायक होती है।"

इस प्रकार हिन्दी रंगमंच पर लोकनाट्यों ने अपनी शैलियों, अपने नाट्य तत्त्वों, कथावस्तु व लोक नाट्य-परम्पराओं के रूप में प्रभाव डाला है। हिन्दी रंगमंच में प्रशिक्षणार्थियों को लोक परम्परानुसार नृत्य करना, तलवारबाजी करना सिखाया जाने लगा है। कहावतों के आस-पास कथानकों का लयात्मक ताना-बाना बुना जाने लगा है। 'आगरा बाजार' या 'चरणदास चोर' जैसे लोक मंच प्रधान नाटकों को नागर बनाकर प्रस्तुत किया जाने लगा है।

2.2.11 भारत के प्रसिद्ध लोक-नाट्यों का परिचयात्मक अध्ययन

भारत के प्रमुख लोक नाट्य इस प्रकार हैं –

01. बहुरूप या नकल

बहुरूप से तात्पर्य भाँति-भाँति के वेश धारण करते हुए किसी व्यक्ति विशेष की अभिनयपूर्ण नकल उतारने से है। यह स्वाँग श्रेणी का लोक नाट्य है। बहुरूपिया का अभिनय उसके द्वारा धरे गये रूप पर निर्भर करता है। ये बहुरूपिये अपनी इसी कला के द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं।

इसमें समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों की नकल करते हुए उनके चरित्र को अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसमें हास्य व्यंग्य-विनोद का सुन्दर नियोजन रहता है।

02. नसीरा

यह ब्रजप्रदेश का प्रसिद्ध लोक नाट्य है। यह लोक नाट्य अत्यन्त अकृत्रिमता के साथ खेला जाता है जिसमें सामान्य से चबूतरे को मंच का रूप देते हुए उस पर बहुत ही साधारण वेशभूषा में बिना किसी तैयारी के गेय पद्यबद्ध संवादों की शैली में इसे मंचित किया जाता है। इसमें पात्र एक हाथ कान पर रखकर दूसरे हाथ को आगे बढ़ाते हुए उच्च स्वर में ओज के साथ गायन का कार्य करता है। ये लोक नाट्य किसी भी लोक प्रसिद्ध कथानक पर आधारित रहते हैं। नाट्य के बीच-बीच में हास्य-व्यंग्यार्थ किसी छोटे-मोटे किस्से को स्थान दिया जाता है। मंच पर सामान्य-सी प्रकाश व्यवस्था लालटेन या मशाल द्वारा की जाती है। इसमें कलाकार अक्सर निम्न वर्ग के होते हैं। आजकल इस लोक नाट्य का प्रचलन नहीं है।

03. भगत

यह ब्रजप्रदेश के आगरा व हाथरस का प्रसिद्ध लोक नाट्य है। भक्ति-भावना से युक्त लोगों द्वारा यह खेला जाता है सम्भवतः इसीलिए इसको 'भगत' संज्ञा मिली है। इस लोक नाट्य में व्यंग्य-विनोदात्मकता पाई जाती है। इसके लिए 8 फीट की ऊँचाई पर मंच तैयार करते हुए उसे सुसज्जित किया जाता है लोक-नाट्यों की आरम्भ शैली और अन्त की शैली दोनों को इसमें निभाया जाता है। इसे स्वांग प्रधान लोक-नाट्यों की श्रेणी में रखा गया है।

04. रामलीला

'राम' चरित्र के इर्द-गिर्द रचे गए महाकाव्यों, पौराणिक कथाओं, लीला नाटकों भजन-स्तुतियों के द्वारा एक बृहत् राम वाङ्मय का सृजन हुआ जिसका प्रभाव आज भी भारतीय समाज व इसके मूल्यों पर देखा जा सकता है। इसमें 'राम' के जीवन व लीलाओं को अत्यन्त श्रद्धा के साथ अभिनय में ढाला जाता है। ये सभी लीलाएँ गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को आधार मानकर प्रदर्शित की जाती हैं। रामलीला की अनेक मण्डलियाँ

हैं जो भारत के सभी प्रदेशों व सभी भाषाओं में 'रामलीला' का प्रदर्शन करती हैं। दशहरे से पहले गाँव-गाँव, शहर-शहर में ये भ्रमणकारी रामलीला मण्डलियाँ पहुँचती हैं व प्रतिदिन अपना प्रदर्शन करते हुए दशहरे को रावण-वध के साथ ही इसका समापन करती हैं। इसमें महिला पात्रों के किरदार भी पुरुष कलाकार ही निभाते हैं। मंच के पार्श्वभाग में कथानुसार पर्दे लगाए जाते हैं। मनोरंजनार्थ विदूषक की भूमिका भी सृजित की जाती है। रामनगर व बनारस की रामलीला विश्वभर में प्रसिद्ध है। ये रामलीलाएँ भारतीय संस्कृति व जीवन-मूल्यों को सहेजने का उत्कृष्ट कार्य करती हैं।

05. रासलीला

कृष्ण के साथ गोपियों के नृत्य का वर्णन विष्णु पर्व के बीसवें अध्याय में मिलता है। पुराण, ऋग्वेद के ऋचा गायन के साथ गोलाकार नृत्य के रूप में रास का वर्णन करता है। विष्णु-पुराण में 'रास' का विस्तृत उल्लेख है तो श्रीमद्भागवत में भी रास का वर्णन है। यहीं से प्रेरणा पाकर 16वीं शताब्दी में मथुरा के अष्टछाप के कवियों ने गोपी गीतों व रास विषयक पदों की रचना की। वैष्णव पंथ के विकास के साथ-साथ 'रास' की गीत-संगीत व नृत्य-प्रस्तुति रासलीला के रूप में लोकप्रिय हुई। 'कृष्ण लीला रहस्य' रचना में इन्द्र ब्रह्मचारी ने अष्टछाप के कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त नन्ददास, कुम्भनदास, हरिदास आदि की रचनाओं को जोड़कर माखन चोरी, बाल कृष्ण के सखाओं के साथ खेल, गोपियों की मटकी फोड़ना व कालिया मर्दन जैसे प्रसंगों को जोड़कर संगीतमय नृत्य नाटिका का सृजन किया। रासलीला लोक परम्परा के रूप में विकसित लोक नाट्य है।

06. कीर्तनियाँ

इस लोक नाट्य का प्रधान विषय 'कृष्ण' या 'शिवशंकर' से सम्बन्धित होता है। कीर्तन का अर्थ उस गायन से है जो प्रभु-स्मरण के रूप में किया जाता है। धार्मिक भावना इस लोक नाट्य की प्रमुख विशेषता होती है। इस लोक नाट्य के अभिनीत किए जाने से पूर्व ही पात्रों का परिचय कराने की परम्परा रही है। इस लोक नाट्य को दरभंगा के महेश ठाकुर ने पर्याप्त प्रश्रय दिया व इसका प्रचार-प्रसार भी करवाया। यह मिथिला जनपद का नृत्य प्रधान लोक नाट्य है।

07. यक्षगान

उत्तर कर्नाटक के आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु व महाराष्ट्र से घिरे क्षेत्र में संस्कृत रंगमंच से यक्षगान नाट्य शैली ने विकास पाया तथा 18वीं शताब्दी में यह शैली लोकप्रिय हुई। यह रागाधारित नाट्य है जिसमें लगभग 150 रागों को समाहित किया गया है। इस लोक नाट्य में रूप-सज्जा, वेशभूषा व पगड़ियों के विभिन्न प्रकार आदि अभिनेताओं को अलौकिकता प्रदान कर देते हैं। यक्षगान को शुद्ध लोक नाट्य माना गया है क्योंकि यह न तो सिखाया जा सकता है व न ही सीखा जा सकता है। इसमें अभिनेता स्वप्रेरणा से अभिनय करता है। अतीत और वर्तमान दोनों को एक साथ सम्प्रेषित करने की विशेषता इस लोक नाट्य में पाई जाती है।

08. भवाई

भवाई एक हास्य-प्रधान लोक नाट्य है। यह गुजरात प्रदेश में बहुत प्रसिद्ध है जिसे गुजरात की 'तरागाणा' जाति के लोगों द्वारा खेला जाता है। इसका अन्य नाम 'वेश' भी है। यह नृत्य प्रधान लोक नाट्य है। 'कांचलिया' पात्र इसमें भाँति-भाँति के वेश धारण करते हैं। विदूषक को 'रंगलो' कहा जाता है। माता व गणेश की पूजा-वन्दना के उपरान्त नाट्य का प्रारम्भ खुले मंच पर होता है।

09. विदेसिया

नृत्य-संगीत-समन्वित इस लोक नाट्य का नामकरण एक लोक कथा के आधार पर किया गया है जिसमें नायक के प्रवास (विदेश) पर चले जाने के उपरान्त नायिका की दयनीय स्थिति का चित्रण किया गया है। नाट्य का आरम्भ 'भवानी मैया' की प्रार्थना से किया जाता है। बिहार जनपद के इस लोक नाट्य ने अपने नाट्य तत्त्वों व संगीत तत्त्वों के कारण समस्त भारत में अपनी प्रसिद्धि फैलाई है। भिखारी ठाकुर ने इस नाट्य के द्वारा कोटि-कोटि लोगों का मनोरंजन करते हुए इसकी कीर्ति स्थापित करने में अपना पूरा योगदान दिया है।

10. माच

माच का वास्तविक अर्थ 'मंचन' या मंच है। यह मध्यप्रदेश का लोक नाट्य है जो राजस्थानी लोक नाट्य ख्याल से बहुत साम्य रखता है। माच के नाटककारों – मुकुन्द गुरु कालूराम उस्ताद, राधा-कृष्ण शुक व गोरू गोपाल जी ने पौराणिक कथाओं के आधार पर माच के आलेख तैयार किये और अपने अखाड़ों के कलाकारों द्वारा इन्हें मंचित करवाए। इन आलेखों में कहीं-कहीं सामाजिक व समसामयिक व्यंग्य को भी स्थान दिया गया है। 'खंभ-थापना' इसके मंचन की पूर्व सूचना समझा जाता है। नाट्य का प्रारम्भ भिश्ती के द्वारा मंच पर छिड़काव करने व उसी के साथ फराशा व चौबदार के प्रवेश करने से होता है तदुपरान्त सभी पात्र अपना-अपना परिचय देते हैं। संगत वाद्यों में ढोलक इनका प्रमुख अंग होती है। राजा हरिश्चन्द्र का माच सर्वाधिक लोकप्रिय है।

11. भाँड

वह वर्ग विशेष जो नाना प्रकार की नकलबाजियों द्वारा लोगों का मनोरंजन करता है व बदले में वह कुछ प्राप्त करता है, जिससे उसका उदर पोषण होता है, भाँड कहलाता है। ये नकल का कार्य इतनी सथुराई से करते हैं कि असली-नकली का भेद करना मुश्किल हो जाता है। बड़े-बड़े लोग धोखा खा जाते हैं और यही इनकी नाट्य कला की कसौटी भी समझी जाती है। राजस्थान के उदयपुर क्षेत्र के भाँड सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

12. तमाशा

राम जोशी (18वीं-19वीं शताब्दी) तमाशा लोक नाट्य शैली के जनक माने जाते हैं। इनमें लावणी गायक का प्रयोग प्रमुख है। इससे इनमें प्रश्न-उत्तर शैली का संवाद विकसित होता है। इसका कथानक धार्मिक नहीं

होते हुए प्रायः सामान्य होता है। इसके मंचन के लिए तीन तरफ से खुले मंच का निर्माण किया जाता है। किसी भी चौक-चौराहे पर तमाशा प्रदर्शन सम्भव है। विभिन्न साजों की धुनों पर संगीत की लहरियों से आनन्द उठाया जाता है। ग्वालन मंच पर सूत्रधार से संवाद करती है। तत्पश्चात् गोपी नृत्य का आयोजन होता है। महार-कोल्हारी जाति की सुघड़ नर्तकियाँ ही तमाशा में नृत्य करती हैं। वेषभूषा व रूप-सज्जा सामान्य होती है। साड़ी का पल्लू दोनों हाथों से सिर से ऊपर उठाते हुए गोलाकार नृत्य होता है। बीच-बीच में संवाद भी चलते रहते हैं। संगीत विधान ही इस नाट्य का प्रमुख आकर्षण कहा जा सकता है।

13. स्वाँग

स्वाँग का शाब्दिक अर्थ है – 'ढोंग-रचना' अथवा 'नाटक करना'। यह हरियाणा प्रदेश का प्रसिद्ध लोक नाट्य है। इसमें पद्य-प्रधानता होती है। इसका कथानक पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक व सामाजिक विषयों पर आधारित होता है। पद्यमय संवादों के माध्यम से ये कथानक अभिव्यक्ति पाते हैं।

14. नौटंकी

संगीतकारों के प्रवेश के साथ नौटंकी नाट्य का आरम्भ होता है। सभी वादक अपने साजों (वाद्य-यंत्रों) के साथ अपना स्थान ग्रहण करते हैं। उर्दू शेर व गज़लों को इसके गेय संवादों में प्रमुख स्थान प्राप्त होता है जबकि गद्य में खड़ी-बोली का प्रयोग किया जाता है। इस शैली का उद्भव 16वीं से 18वीं शताब्दी के मध्य हुआ माना जाता है। हाथरस व कानपुर की नौटंकी शैलियाँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। नौटंकी में नृत्य का स्थान बहुत सीमित होता है। संगीत व वाद्यों की संगत दर्शकों को बाँधे रखता है। अनेकक्षः प्रदर्शित की जाने वाली नौटंकियों में 'अमरसिंह राठौड़' नौटंकी सर्वाधिक लोकप्रिय है। अन्य प्रसिद्ध प्रेमगाथाधारित नौटंकियाँ जैसे – सियाह पोष और लैला मंजनू, भूपसिंह, शहजादी नौटंकी, सुल्ताना डाकू, रेशमी रूमाल, त्रिया चरित्र आदि हैं।

15. जात्रा

यात्रा का बांग्ला उच्चारण जात्रा हो गया। 16 वीं-17वीं शताब्दी में इस लोक नाट्य का विकास हुआ। समसामायिक मुद्दों को कथानक का आधार बनाना इसकी प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। प्रारम्भ में धार्मिक चरित्र, यथा – कृष्ण, राधा, सखी पात्र इसके प्रमुख विषय हुआ करते थे परन्तु समयान्तराल से इस जात्रा ने शिवजात्रा, दुर्गाजात्रा, समयात्रा से होते हुए विद्यासुन्दर जैसी प्रेमकथा को भी अपने नाट्य का विषय बना लिया। स्वतन्त्रता आन्दोलन में इसने स्वदेशी जात्रा के रूप में देश के ज्वलन्त मुद्दों को अपना विषय बनाया। यह भ्रमणशील नाट्य-दल होता है, जिसके सदस्य समाज के सभी वर्गों से आते हैं। जात्रा के सभी पात्रों का किरदार पुरुष कलाकार ही निभाते हैं। इसका मंच सोलह फीट का वर्गाकार व आधा फीट ऊँचा होता है। इसका प्रदर्शन तुनी व ढोल के स्वर के साथ प्रारम्भ होता है। संगीत इसका प्रधान अंग होता है।

16. कथकली

17वीं शताब्दी में दक्षिण के नर्तक केरल वर्मा ने कथकली के वर्तमान स्वरूप को जन्म दिया। यह दक्षिण भारत के केरल प्रान्त का मुख्य नृत्य नाट्य है, जिसमें पात्र बड़े-बड़े मुखौटे लगाकर संगीतमयी प्रस्तुति के साथ किसी कथानक को प्रस्तुत करते हैं। ये कथाएँ प्रायः पौराणिक हुआ करती हैं।

कथकली का शाब्दिक अर्थ कथ व केलि का अलग करते हुए समझा जा सकता है कथा का अर्थ है, कहानी और केलि का अर्थ है खेल। अर्थात् किसी कथा को नृत्य-नाट्य के रूप में प्रस्तुत करना। इसमें मूक अभिनय किया जाता है। यह एक व्याख्यात्मक संगीत नाट्य है। कथकली के प्रमुख कलाकार हैं– शंकरन् नम्बूदरीपाद, गोपीनाथ, कुंजुकुरूप, राघवन्, नायर, कनक रेले तथा कृष्णन् कुट्टी।

17. ख्याल

राजस्थानी लोक-नाट्यों में सर्वश्रेष्ठ व सर्वाधिक प्रभावकारी लोक नाट्य 'ख्याल' नाम से जाने जाते हैं। राजस्थान में भाँति-भाँति की शैलियों में ख्यालों का प्रचार रहा है। होली से कुछ दिन पूर्व गाँव या शहर के चौक में किसी मन्दिर के सामने, इसके मंचन की पूर्व सूचनार्थ एक ध्वज-दण्ड लगा दिया जाता है। ख्याल में अभिनय, गायन, नाच व ताल का मंजुल मेल दिखाई देता है। ख्याल का मुख्य पात्र अभिनय के साथ-साथ गायन व नृत्य कला में भी पारंगत होता है। इन ख्यालों में शुरू से ही गुरु-शिष्य परम्परा रही है। पात्र अपने परिचय के साथ अपने गुरु का परिचय अवश्य देता है। इनके कथानक प्रायः पौराणिक, वीरता-प्रधान व प्रेम-प्रधान होते हैं।

18. तुर्रा कलंगी

राजस्थान, महाराष्ट्र तथा मध्यभारत में तुर्रा-कलंगी लोक नाट्य अधिक प्रचलन में रहा है। तुर्रा कलंगी लोक नाट्य में दो दल होते हैं – (1) तुर्रा और (2) कलंगी। इन दोनों दलों में आध्यात्मिक व दार्शनिक विषयों को लेकर वाद-विवाद होता है। कलंगी दल वालों की मान्यता होती है कि कलंगी आदि शक्ति का प्रतीक है तथा तुर्रा शिव का। ये लोग तुर्रे की उत्पत्ति भी कलंगी से ही मानते हैं। इसके विपरीत तुर्रे वाले तुर्रे को अखण्ड चैतन्य के रूप में 'ॐ' शब्द का प्रतीक मानते हैं। ये तुर्रे को शक्ति से उद्भूत नहीं स्वीकारते। इस लोक नाट्य में मंच का निर्माण विशेष प्रकार का करते हुए उसे 12 फीट की ऊँचाई दी जाती है, वहाँ रानी (कलंगी) का शीशमहल होता है। कलंगी पात्र यहीं से टेर देते हुए नीचे उतरता है। तुर्रा या राजा पात्र नीचे या तो घोड़े पर या पैदल दर्शकों के बीच से टेर देता हुआ आता है। मुख्य मंच शीश महल के नीचे05 फीट ऊँचाई का बनाया जाता है, यहीं पर तुर्रा-कलंगी के सवाल-जवाब होते हैं जिन्हें नृत्य व गायन के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

19. रम्मत

क्षेत्र व समुदाय विशेष के आधार पर डॉ॰ नन्दलाल कल्ला ने रम्मत लोक नाट्य के चार प्रकारों का वर्णन किया है –

1. बीकानेरी रम्मत : बीकानेर शहर में होली से 10 दिन पूर्व समुदाय विशेष के मोहल्ले में यह रम्मत लोक नाट्य मंचित होता है।
2. जैसलमेर की रम्मत : राजस्थान के पोकरण-फलौदी क्षेत्र में कवि तेज ने रम्मतों के आलेख तैयार किए थे जिन्हें उनके शिष्य ने मंचित करवाया। इन स्थानों पर ब्राह्मण जाति के कलाकार इस पारम्परिक लोक नाट्य को जीवित रखे हुए हैं।
3. मेघवालों की रम्मत : राजस्थान के सिरोही जिले में यह रम्मत ढोल की संगत में प्रदर्शित की जाती थी।
4. रावळों की रम्मत : राजस्थान में रावळ नामक एक जाति है जो लोक नाट्य से पूर्णतः जुड़ी हुई है। इस जाति के लोग होली पर्व के आस-पास गाँव-गाँव जाकर रम्मत लोक नाट्य प्रदर्शित करते हैं जिसे रावळों की रम्मत नाम से जाना जाता है। इस जाति की यह खास विशेषता है कि ये अपनी यजमान जाति चारणों की उपस्थिति में ही नाट्य-प्रस्तुति करते हैं, यजमान चाहे संख्या में एक ही हो पर उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं। इनकी रम्मत में ये अलग-अलग जातियों के स्वाँग बड़ी चतुराई से करते हैं। इनकी अभिनय-क्षमता अद्भुत होती है। अर्द्धनारीश्वर के स्वांग में ये नृत्य के साथ आदिशक्ति का यशोगान भी करते हैं। रम्मत के कलाकार तलवारबाजी व नृत्य में भी पारंगत होते हैं। इनके प्रमुख स्वाँग हैं – चच्चै भोंरै का स्वाँग, कान्ह-गूजरी का स्वाँग, सूरदास का स्वाँग, मलिया मेणैका का स्वाँग, बीकोजी का स्वाँग इत्यादि। रावळों की रम्मत अश्लीलता या फूहड़पन से सदैव दूर होती है। बड़ा ही संयत व मर्यादित हास्य तथा चुटीले व्यंग्य इनकी खास विशेषता होती है। गीत-संगीत व नृत्य का बहुत सुन्दर समावेश इनमें होता है। 'मादळ' लोक वाद्य पर भी ये संगत देते हैं।

2.2.12 पाठ-सार

लोक नाट्य जनसाधारण को शिक्षा देने तथा आम आदमी के मनोरंजन की एक महत्त्वपूर्ण व प्रभावकारी विधा मानी गई है। लोक नाट्य एक ऐसी आडम्बरहीन लोक-साहित्य विधा है जो विशाल जन-समुदाय के हर्षोल्लास का मुख्य आधार मानी जा सकती है। सभ्यता और विकास के साधनों से बहुत दूर गाँवों, पहाड़ों और वनों में रहने वाले ग्रामीण लोगों के मनोरंजन हेतु ही इनका प्रचलन हुआ है।

मात्र मनोरंजन की दृष्टि से ही इन लोक-नाट्यों का महत्त्व नहीं है अपितु सामाजिक दृष्टि से भी ये उतने ही महत्त्वपूर्ण साबित हुए हैं। भले ही इनका विषय पौराणिक, धार्मिक या कि आस्था प्रधान रहा हो परन्तु ये सभी लोक नाट्य अपने अंचल विशेष की सभी विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन लोक-नाट्यों के अधिकतर सनातन भारतीय आदर्श चरित्र राम, कृष्ण, शिव, गणेश इत्यादि क्षेत्रीयता में ढलकर आम लोगों के पारिवारिक

सदस्यों का-सा अहसास करवाते हैं। प्रादेशिक संस्कृति, प्रादेशिक प्रकृति तथा प्रादेशिक परिस्थितियों से अनेकमेक होते हुए ये चरित्र आमजन-जीवन को प्रेरणा देते हैं, प्रभावित करते हैं।

इनके प्रदर्शन हेतु न तो किसी विशेष प्रकार के मंच की अत्यधिक अनिवार्यता होती है न ही पात्रों की साज-सज्जा या वेशभूषा हेतु महँगी वस्तुओं की। इनका उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ आम-जनता का नैतिक उन्नयन करना रहा है। इनकी कथावस्तु में आदर्श व यथार्थ की अधिकता पाई जाती है। अकृत्रिमता, सरलता-सहजता, रोचकता जैसी विशेषताओं के कारण ये लोक नाट्य जन-जीवन के बहुत करीब आते हुए इनके गले का हार बने दिखाई देते हैं।

2.2.13 बोध प्रश्न

1. लोक-नाट्यों का लक्षण-निर्धारण कीजिए।
2. लोक नाट्य-परम्परा को समझाइए।
3. लोक-नाट्यों की हिन्दी रंगमंच को क्या देन रही है? स्पष्ट कीजिए।
4. किन्हीं चार लोक-नाट्यों पर टिप्पणी लिखिए।
5. लोक-नाट्यों की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
6. प्रमुख नाट्य-धर्मिताओं को तुलनात्मक रूप में समझाइए।
7. लोक-नाट्यों के वर्गीकरण आधार का उल्लेख कीजिए।

2.2.14 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. शर्मा, डॉ॰ श्री राम (1992) लोक-साहित्य : सिद्धान्त और प्रयोग, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।
2. शर्मा, डॉ॰ पूर्णचन्द (1983) हरियाणा की लोक धर्मी नाट्य-परम्परा का आलोचनात्मक अध्ययन, चण्डीगढ़, हरियाणा साहित्य अकादेमी।
3. चारण, डॉ॰ सोहनदान (2016) राजस्थानी लोक-साहित्य का सैद्धान्तिक विवेचन, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थागार, ISBN 978-93-85593-11-6
4. कल्ला, डॉ॰ नन्दलाल (1997) लोक-साहित्यशास्त्र, वाराणसी, संजय बुक सेन्टर, ISBN 81-86135-561
5. वसन्त (2010) संगीत विशारद, हाथरस, संगीत-कार्यालय, हाथरस।
6. भानावत, डॉ॰ महेन्द्र (रंगयोग, सृजन शताब्दी लोक कला विशेषांक) जोधपुर, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी।

❖❖❖

खण्ड – 2 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 1

इकाई – 3 : लोक-नृत्य : परिभाषा, वैशिष्ट्य, उत्पत्ति, श्रेणी-विभाजन, भारतीय परम्परा, प्रस्तुतीकरण, भारत के प्रसिद्ध लोक-नृत्यों यथा – घूमर, अग्निनृत्य, चरीनृत्य, तेराताली, डांडिया-गेर आदि का परिचय

इकाई की रूपरेखा

2.3.00 उद्देश्य कथन
2.3.01 प्रस्तावना
2.3.02 वैशिष्ट्य
2.3.03 उत्पत्ति
2.3.04 श्रेणी-विभाजन
2.3.05 भारतीय परम्परा
2.3.06 लोक-नृत्यों का प्रस्तुतीकरण
2.3.07 भारत के प्रसिद्ध लोक-नृत्यों का परिचय
2.3.08 पाठ-सार
2.3.09 बोध प्रश्न
2.3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.3.00 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. लोक नृत्य का तात्पर्य जान सकेंगे।
ii. लोक नृत्य की प्रमुख विशेषताएँ जान पाएँगे।
iii. लोक-नृत्यों के श्रेणी-विभाजन का परिचय प्राप्त करेंगे।
iv. लोक-नृत्यों की उत्पत्ति तथा इनकी भारतीय परम्परा से अवगत होंगे।
v. लोक-नृत्यों के प्रस्तुति पक्ष को जानेंगे।
vi. भारत के प्रसिद्ध लोक-नृत्यों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

2.3.01 प्रस्तावना

मानव मन की खुशी, उमंग व उल्लास को प्रकट करने का सरस स्रोत है – लोक नृत्य। मानव ही नहीं अपितु प्रकृति के अन्य उपादान भी प्रायः अपने हर्षादि मनोभावों को नृत्य द्वारा प्रकट करते हैं इसीलिए लोक नृत्य को स्पष्ट करते हुए हरिराम जसटा ने कहा है कि "शारीरिक लय-प्रधान क्रियाओं के साथ आनन्द एवं सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जिस सामूहिक रूप से होती है, उसे लोक नृत्य कहते हैं।"

यह कला प्राणी मात्र को आकर्षित करते हुए स्वयं से जोड़ती है। लोक नृत्य के लिए सर्वथा उपयुक्त कथन है कि लोक नृत्य सबके लिए और सब लोक नृत्य के लिए, क्योंकि सभी लोग सहज रूप से इन नृत्यों में भाग ले सकते हैं तथा नृत्य करते-करते जब थक जाएँ तो बैठ कर दर्शक की भूमिका में आ जाते हैं। वहीं दर्शक नृत्यकार की भूमिका में सहज ही आ जाता है।

जहाँ एक ओर लोक नृत्य सरल व सहज होते हैं वहीं साथ ही ये सर्वाधिक रचनात्मक व सृजनशील भी होते हैं। भाँति-भाँति के लोक नृत्य भारत-भूमि पर देखे जा सकते हैं जिनकी अपनी-अपनी अनूठी विशेषताएँ हैं। कुछ लोक नृत्य मात्र पुरुषों के लिए हैं तो कुछ लोक नृत्य मात्र स्त्रीवर्ग के लिए, कुछ का स्वरूप समूहात्मक होता है तो कुछ का एकल।

रंग-बिरंगे परिधान, भाँति-भाँति का केश-विन्यास, नर्तकों की साज-सज्जा तथा पाँवों व कटि-प्रदेश में पहने घुँघरुओं की झनकार इन लोकनृत्यों की अपनी विशिष्ट पहचान होती है। लोक-वाद्यों व लोक नृत्य-गीतों की संगत पाकर ये नृत्य सम्पूर्ण वातावरण को उल्लासमय बना देने की सामर्थ्य रखते हैं।

2.3.02 वैशिष्ट्य

लोक-साहित्यविदों ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हुए लोक-नृत्यों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नानुसार बतायी हैं –

1. लोक नृत्य सरल सर्वगम्य और सर्वसुलभ होते हैं क्योंकि इनको सीखना, समझना और करना बहुत सरल होता है। इस हेतु किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है। विवाहादि अवसरों पर स्त्रीवर्ग द्वारा किए जाने वाले नृत्यों में उपर्युक्त तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं।

   विद्वानों की मान्यतानुसार पुराने संस्कारों तथा अनुकूल वातावरण के कारण बालक बचपन से ही लोक नृत्य सीख जाते हैं। यही बात व्यावसायिक लोक-नृत्यों पर भी लागू होती है। जैसे – भवाई आदि प्रसिद्ध लोक नृत्यकारों के घरों में अगली पीढ़ी को इसके प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है। जन्म से ही बालक अपनी परम्परागत कला को संस्कारगत सीख जाते हैं।

2. लोक-नृत्यों में अप्रयत्नशील सरलता होती है। नृत्य कला के तीन प्रमुख स्तर माने जाते हैं – ताल, लय और अंग भंगिमाएँ। लोकनृत्यों में ये तीनों ही एक रस होकर अवतरित होते हैं।

   शास्त्रीय नृत्यों की भाँति इनमें गिनतियाँ गिनने के, ताल का खाली-भरा होने या उसे पुनः सम पर लाने के नियम नहीं होते है बल्कि लोक-नृत्यों में तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे – ताल और लय नृत्यकार की चेरी बन इसके पीछे-पीछे चलती है। नृत्यकार को ताल और लय के पीछे नहीं चलना पड़ता है।

आंगिक भंगिमाओं में एकरूपता के लिए कलाकारों को एक-दूसरे की भंगिमाओं का अनुकरण नहीं करना पड़ता वरन् लोक नृत्य में ताल, लय व अंग-भंगिमाओं का सृजन स्वयमेव हो जाता है।

3. लोक नृत्य स्व-सर्जित हैं लोक नृत्य बनाये नहीं जाते हैं, ये तो स्वतः ही बन जाते हैं। किसी व्यक्ति विशेष द्वारा बनाये जाने की छाप इन पर अंकित नहीं होती है। लोक नृत्य समस्त समाज द्वारा बनाये जाते हैं व सम्पूर्ण समाज के व्यक्तित्व की छाप इन पर होती है। प्रथमतः किसी सृजक ने अंग-भंगिमा का सृजन किया होगा कालान्तर में इसमें अन्य लोग कुछ-न-कुछ नया जोड़ते चले गए। इस प्रकार यह सम्पूर्ण समाज की धरोहर बन गए।
4. लोक-नृत्यों में जनजीवन की परम्परा, उसके संस्कार तथा लोगों का आध्यात्मिक विश्वास होता है। लोक-नृत्यों का उद्गम अत्यन्त प्राचीन है तथा दीर्घ काल से ये जनजीवन में अपना प्रतिष्ठित स्थान बनाए हुए हैं। लोक-नृत्यों ने काल, स्थान व परिस्थितियों की अनेक गतिविधियों को देखा, उसे प्रभावित किया तथा सुदीर्घ काल तक जनजीवन को उल्लसित किया है फलस्वरूप यह आज जनता के जीवन में धार्मिक विश्वास की भाँति प्रतिष्ठित हो चुका है। यही कारण है कि ये लोक नृत्य जनता के जीवन को उन्नत, विकसित तथा स्वस्थ बनाने वाले सिद्ध हुए हैं। इनके पीछे कोई सामाजिक बन्धन नहीं है।
5. लोक-नृत्यों में आमतौर से वैविध्य में भी एकरूपता की महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है। अनेक लोकनृत्यों में अंग-भंगिमाओं तथा चालों की विविधता रहती है परन्तु यह लोक-नृत्यों की खासियत है कि इनके सभी नर्तक कलाकार एक ही ताल और एक ही नृत्यविशेष में रहते हुए भी विविध दिशाओं में फिरते हैं, विविध अंग-भंगिमाओं का प्रदर्शन करते हैं परन्तु इनका सम्पूर्ण प्रभाव एक रसमय और एक रूपमय होता है।
6. सामूहिकता का भाव लोक-नृत्यों की एक बड़ी विशेषता है। ये लोक नृत्य व्यक्तिगत आनन्द, लाभ, प्रतिष्ठा या वैयक्तिक भावना से परे होते हैं तथा सामुदायिकता, सामाजिक या नागरिक भावना में रचे-बसे होते हैं।

व्यावसायिक लोक-नृत्यकारों को जो आर्थिक-लाभ होता है, उसका प्रारम्भ भी सामुदायिक भावना से ही हुआ है। उन्हें पारिश्रमिक के रूप में जो भी धन उपलब्ध होता है, वह उनकी आजीविका की दृष्टि से समाज ने ही नियत किया है।

किसी पर्व, त्योहार, उत्सव या संस्कार पर यदि कोई नृत्य नहीं हो तो अशुभ माना जाता है। अतः ये नृत्य सामाजिक, सामुदायिक व धार्मिक कर्त्तव्यों में शुमार हो गए हैं। इन नृत्यों में सामाजिक और सामुदायिक भावना के साथ ही आनन्द की भावना भी गुँथी हुई-सी प्रतीत होती है। आत्मानन्द और सामाजिक कर्त्तव्य का सुन्दर स्वस्थ और उपयोगी मेल लोकनृत्यों में ही देखा जा सकता है।

7. लोक नृत्य शास्त्रीय नृत्यों की भाँति शास्त्रीय नियमों के बन्धनों और सीमाओं से परे होते हैं परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ये नृत्य प्राथमिक या अपरिपक्व होते हैं या इनमें अनाड़ीपन होता है। लोक-नृत्यों में भी शास्त्रीय-नृत्य की भाँति संस्कारिकता, प्रभावोत्पादकता, कला, आनन्दप्रदायिनी शक्ति,

रचना-कौशल तथा उच्च स्तरीय कौशल आदि गुण देखे जा सकते हैं। 'रास-गरबा,' 'घूमर', 'भवाई', 'वालर', 'घूमरा', 'लौहरवा' जैसे प्रसिद्ध भारतीय लोक-नृत्यों में प्रभावोत्पादक, आनन्ददायिनी शक्ति, रचना-विधि आदि के जो गुण हैं, वे किसी भी शास्त्रीय नृत्य से कम नहीं है। किसी नृत्य में नियम-प्रनियम की अधिकता, शास्त्रोक्त गुण और बाह्य चमक-दमक ही उसकी श्रेष्ठता की कसौटी नहीं हो सकते हैं। लोक नृत्य सरल, आडम्बरहीन व नियमों-प्रनियमों से परे होने के कारण तथा अपनी स्वाभाविक सुन्दरता के कारण बहुत प्रभावशाली होते हैं।

2.3.03 उत्पत्ति

नृत्य की उत्पत्ति उल्लास से मानी जाती है। उल्लास-उमंग के क्षणों में मनुष्य द्वारा उछलना, कूदना, किलकारी मारना या हाथ-पैरों को गति प्रदान करते हुए उनका संचालन करना – ये सभी क्रियाएँ उसके आनन्द भाव को प्रकट करती हैं। कपोतादि पक्षियों के मन में भी जब उमंग जागती है तब वे अपने साथी को रिझाने के उद्देश्य से उसके समक्ष नृत्य करते हैं। काले घने बादलों को देखकर मोर का पंख फैलाकर नाच उठना उसके आनन्द भाव को प्रकट करता है। इस प्रकार आनन्द, उमंग तथा उल्लास भाव नृत्य का जन्मदाता कहा जा सकता है इसीलिए नृत्य की उत्पत्ति उल्लास भाव से मानी जाती है।

उल्लास का यह भाव जब प्राकृतिक उपादानों व पशु-पक्षियों तक को प्रभावित कर नृत्यातुर कर देता है तो भला मनुष्य उससे कैसे बच सकता है ! इस प्रकार आदिमयुग से मनुष्य के जीवन में नृत्य का महत्त्व है। ज्यों-ज्यों उसका जीवन भयरहित होता गया तथा वह आनन्द-भाव की ओर शनैः शनैः बढ़ने लगा त्यों-त्यों उसके जीवन में नृत्यों का स्थान भी अधिक बढ़ता गया। यही आदिम नृत्यावस्था थी। जब आदिम मानव समूह बनाकर रहने लगा, उसमें सामाजिकता और सामुदायिकता की भावना आने लगी और वे साथ-साथ मिलकर नृत्य का आनन्द उठाने लगे तब लोक-नृत्यों की उत्पत्ति हुई।

कालान्तर में लोक-नृत्यों से शास्त्रीय नृत्यों का विकास हुआ। जब नृत्यों में कला की सूक्ष्मता लाई गई तो वे जटिल व क्लिष्ट होने लगे। यह रूप शास्त्रीय-नृत्यों के रूप में विकसित हुआ तथा सीमित वर्ग के दायरे में आते हुए यह लोक की पहुँच से बाहर होकर शास्त्रीय कला बन गया। विद्वानों के अनुसार इस प्रकार आदिम नृत्यों से लोक नृत्य का और लोक-नृत्यों से शास्त्रीय नृत्यों का निर्माण हुआ।

2.3.04 श्रेणी-विभाजन

भारत एक विशाल देश है। इसकी यह विशालता लोक-नृत्यों के सन्दर्भ में भी पूर्णतः दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक प्रान्त की अपनी सांस्कृतिक विशेषता है तथा प्रत्येक प्रान्त के अपने विविध लोक नृत्य हैं। लोक-साहित्यविदों ने इन लोक-नृत्यों को श्रेणीवार इस प्रकार से विभाजित किया है –

गुजरात प्रदेश के लोक-गीतों को आधार बनाते हुए डॉ॰ महेन्द्र भानावत ने इन्हें इस प्रकार वर्गीकृत किया है –

(1) आनुष्ठानिक लोक नृत्य
(2) अनुरंजनात्मक लोक नृत्य
(3) आदिम लोक नृत्य

राजस्थान के लोक-नृत्यों को उनकी प्रकृति एवं स्वरूप के अनुसार डॉ॰ महेन्द्र भानावत ने तीन भागों में विभाजित किया है –

(1) वृत्ताकार
(2) कतारबद्ध
(3) जुलूस रूप में

डॉ॰ हरिराम जसटा ने हिमाचल प्रदेश के लोक-नृत्यों को इस प्रकार वर्गीकृत किया है –

(1) भाग लेने वाले लोगों की संख्या के आधार पर–

i. व्यक्तिगत नृत्य
ii. समूह लोक नृत्य

(2) लिंग जाति के आधार पर–

i. महिला लोक नृत्य
ii. पुरुष लोक नृत्य
iii. मिश्रित लोक नृत्य

(3) अवसर के आधार पर –

i. धार्मिक लोक नृत्य
ii. सामाजिक-धार्मिक नृत्य
iii. अवकाश या आनन्द नृत्य

(4) क्षेत्रीय आधार पर –

i. पहाड़ी लोक नृत्य
ii. आदिवासी लोक नृत्य

iii. मैदानी लोक नृत्य

किन्नौरी लोक-नृत्यों को डॉ० हरिराम जसटा ने दो प्रमुख भागों में बाँटा है –

(1) मुखौटा लोक नृत्य, जैसे – हारिड़ फो, खो इत्यादि।
(2) साधारण लोक नृत्य, जैसे – कायड, इत्यादि।

देवीलाल सामर ने समस्त भारत के लोक-नृत्यों को प्रमुख तीन भागों में बाँटा है –

(1) आदिवासियों के नृत्य
(2) सामाजिक तथा सामुदायिक लोक नृत्य
(3) व्यावसायिक लोक नृत्य

2.3.05 भारतीय परम्परा

भारतीय परम्परानुसार लोगों का यह विश्वास है कि विश्व के प्रथम नट शंकर हैं, जिनके विराट् नृत्य से विश्व की पञ्च क्रियाओं का जन्म हुआ और सृष्टि के ताल, स्वर आदि का स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है। नटराज शिव नृत्यकला के आदि स्रोत हैं और नृत्यकला का लास्य रूप माता पार्वती की देन है। भगवान् शंकर के ताण्डव नृत्य के पद विन्यास सैला झूमर, लहकी, सजनी आदि लोक-नृत्यों के पद विन्यास ही हैं। पैरों का थिरकना, चंचलता, गति आदि क्रियाएँ वीभत्स रस के नृत्य की भंगिमाएँ हैं जो शिवशंकर के ताण्डव नृत्य में विद्यमान है। वेदों में भी नृत्य का उल्लेख मिलता है। श्रीकृष्ण व गोपियों का सम्बन्ध भी प्रायः रास नृत्य के द्वारा इस कला से जोड़ा जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय नृत्य का आदिरूप दिव्य रहा है। प्राचीनकाल से लेकर यह कला निरन्तर जन-जीवन का अभिन्न अंग बनी हुई है।

महाभारत कथानुसार राजा विराट् की राजकुमारी उत्तरा का वृहन्नला के रूप में अर्जुन से नृत्यकला सीखना यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतीय राजघरानों में भी यह प्रिय रहा है तथा राजपरिवार की राजकुमारियाँ इसे सीखती थीं। दक्षिण भारत के अनेक प्रसिद्ध मन्दिरों के पुजारी इस कला में दक्ष थे। भरतमुनि द्वारा रचित ‘नाट्यशास्त्र’ में अन्य कलाओं के साथ नृत्यकला का भी प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार प्राचीनकाल से लेकर अब तक नृत्यकला भी अन्य कलाओं की भाँति पनपी और विकसित हुई। कला के क्षेत्र में समय-समय पर आने वाले उतार-चढ़ाव तथा विदेशी आक्रमणों ने इसे प्रभावित किया तथा नृत्यकला दक्षिण में मन्दिरों की देवदासियों तक सीमित हो गई तथा उत्तर भारत में कुछ व्यावसायिक वर्गों तक सिमट गई। कालान्तर में सामाजिक वातावरण व रूढ़ियों के कारण तथा राजदरबारों द्वारा समर्थन नहीं मिलने के कारण यह कला निम्न वर्ग तक ही सीमित हो गई। परन्तु देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त इस दिशा में सकारात्मक कार्य हुए व लोक-नृत्यों जैसी महत्त्वपूर्ण कला को सुरक्षित रखने व उसके पुनरुत्थान को महत्त्व दिया गया। गणतंत्र दिवस पर दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय समारोह में प्रत्येक प्रान्त के लोक-नृत्यों की प्रस्तुति की प्रथा लोक-नृत्यों के लिए वरदान साबित

हुई। राज्य स्तर पर भी लोक-कलाकारों व लोक-नृत्यों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ फलस्वरूप आज हमारे लोक नृत्य विश्व स्तर पर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

2.3.06 लोक-नृत्यों का प्रस्तुतीकरण

लोक-नृत्यों की आकर्षक प्रस्तुति में लोक नृत्य-गीत, लोक वाद्य, लोक नृत्यकार की वेशभूषा तथा उसकी अंग-भंगिमाएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। लोक नृत्यकार नृत्य-प्रस्तुति के समय बड़ी रंग-बिरंगी व कलापूर्ण वेशभूषा धारण करते हैं । ये वेशभूषाएँ अलंकृत होती है । आदिम और पिछड़ी जातियों में यह अलंकरण-प्रवृति बहुत अधिक मिलती है। लोक-नृत्यों के प्रदर्शन के लिए जितने आवश्यक लोक गीत और लोकवाद्य हैं उतनी ही आवश्यक लोकनर्तक की वेशभूषा भी है। लोक-नृत्यों का रूप और रंग अपने स्थानीय-वेश-भूषा से ही मनोहर बन पाता है। भारत के प्रत्येक प्रान्त में तरह-तरह की वेशभूषाओं का प्रचलन है। प्रत्येक क्षेत्र की एक विशिष्ट शैली है। इसी तरह अलग-अलग क्षेत्रों में लोक-नृत्यों की प्रस्तुति के दौरान पहने जाने वाले गहनों की भी विविधता दृष्टिगोचर होती है। रंग-बिरंगी सुन्दर वेशभूषा के साथ भाँति-भाँति का अलंकरण, केश विन्यास, नर्तकों की साज-सज्जा आदि सब मिलकर लोक-नृत्यों की प्रस्तुति में चार चाँद लगा देते हैं।

लोक नृत्य-गीत भी लोक नृत्य प्रस्तुति में अहम भूमिका निभाते हैं। लोक नृत्य गीतों का सरल प्रवाहमान संगीत, नृत्य की ताल-लय को कला प्रदान करता है और तब दर्शक की आत्मा मंत्रमुग्ध-सी अलौकिक आनन्द का रसास्वादन करने लगती है। लोक गीत व लोक नृत्य परस्पर पूरक का कार्य करते हैं। लोक-नृत्यों की प्रस्तुति के समय जो वाद्ययंत्र बजाए जाते हैं, वे भी नृत्यकारों में जोश और उत्साह भरकर उनमें स्फूर्ति का संचार करते हैं व लोक-नृत्यों की दमदार प्रस्तुति में सहायता करते हैं। ये लोक-वाद्य दर्शकों में भी नृत्य का उन्माद भर देते हैं व सम्पूर्ण वातावरण को नृत्यमय बना देते हैं। ढोल, मंजीरा, ढोलक, थाली, नगाड़ा, तुरही, खँजड़ी, हुड़का झाल, ताशा, सारंग, बाँसुरी, मटकी, करताल, चंग, दहकी, चिमटा, झाँझ आदि प्रमुख लोक-वाद्ययंत्रों का वादन लोक नृत्य की प्रस्तुति के अवसर पर होता है। वाद्ययंत्र का प्रयोग और इनके प्रयोग की शैली अवसर और जातीय प्रभाव से प्रभावित होती है। लोक-नृत्यों की प्रस्तुति में कटि और पद-संचालन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। हस्त-संचालन की भी भावानुसार स्वतन्त्रता रहती है। आंगिक-अभिनय भावों के अनुसार साथ-साथ चलता है। जातीय नृत्यों में नर्तक बीच में नाचता है तो गायक व वादक उसके चारों ओर वृत्ताकार रूप में खड़े रहते हैं। विरहा गायक नर्तक कान पर हाथ रखे हुए गाता है व गायक-टोली उसका दुहराव करती है। इसमें घुमरी द्वारा नृत्य को तीव्र गति और त्वरा प्रदान की जाती है। नर्तकों की पोशाक में खूब घेरदार लहँगा होता है और कमर में घण्टियाँ तथा पाँवों में घुँघरू बँधे होते हैं। घुमरी करते समय यह लहँगा पूर्णवृत्त बनाता हुआ मनोहारी रूप में घूमता है। पद संचालन की गति के तीव्र होते ही गायन व वादन की गति भी द्रुत व द्रुततर होती जाती है और पाँवों में बँधे घुँघरुओं की छनछनाहट से वातावरण झंकृत हो उठता है।

लोक-नृत्यों की प्रस्तुति को क्षेत्रीय परिस्थितियाँ व वातावरण भी प्रभावित करते हैं। जिन पहाड़ी जातियों को शेर, सुअर, रीछ आदि का सामना करना पड़ता है या जहाँ इन पशुओं का बाहुल्य रहता है, वहाँ के लोक-नृत्यों

में इन पशुओं के अभिनय या स्वाँग का प्रयोग भी होता है। उनकी आकृति-वेश आदि बनाकर नृत्य प्रस्तुत किया जाता है। मध्यप्रदेश में मुरिया सिर पर सींग लगाते हैं। पहाड़ी लोग याक नृत्य करते हैं।

सामाजिक जीवन व मान्यताएँ भी इनकी प्रस्तुति को प्रभावित करती हैं। जिन भागों में जातीय जीवन में संगठन व एकता की भावना अधिक मिलती है और ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं होता वहाँ लोक नृत्य की प्रस्तुति भी सामूहिक होती है। राजस्थान आदि प्रदेशों में पर्दा-प्रथा का प्रचलन है। वहाँ नृत्य में घूँघट की भी कई कलाएँ व्यक्त की जाती हैं। साथ ही, उनके नृत्य भी चकरी-प्रधान होते हैं ताकि घाघरे का घेर मर्यादा का अतिक्रमण न कर जाए।

लोक-नृत्यों की प्रस्तुति अपने क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती है। राजस्थान प्रदेश वीर भूमि रहा है। राजस्थानी लोक-नृत्यों, जैसे – कच्छी घोड़ी, जालौर व भरतपुर का ढोल नृत्य, भीलों के गौरी आदि नृत्य की प्रस्तुति बड़ी पौरुषपूर्ण होती है। ये नृत्य बड़े फड़कते हुए होते हैं। इन नृत्यों की तालों में उत्तेजना है। ये नृत्य युद्ध के वातावरण की-सी झलक उपस्थित करते हैं। राजस्थान के ही भवाइयों के नृत्यों की प्रस्तुति में चमत्कार का अंश अधिक होता है। जलती बोतल को सिर पर रख कर नाचना, मटके सिर पर रख कर नाचना, कालबेलिया स्त्रियों द्वारा नृत्य के दौरान भाँति-भाँति की कलाबाजियाँ प्रदर्शित करना भी इन लोक-नृत्यों की प्रस्तुति को रोचकता प्रदान करता है। धार्मिक व भक्ति भावना से ओत-प्रोत लोक-नृत्यों की प्रस्तुति में कला का अंश कम है। यहाँ भाव ज्यादा देखे जा सकते हैं। जैसे – हाल की हालत में आ जाना, बेहोश हो जाना अथवा शरीर का कम्पन, उछल-कूद, शरीर का ताड़न, छाया आना आदि क्रियाएँ, इन लोक-नृत्यों की प्रस्तुति में अधिक रहती हैं।

2.3.07 भारत के प्रसिद्ध लोक-नृत्यों का परिचय

01. घूमर

घूमर नृत्य भारत में प्रचलित कुछ प्रमुख लोक नृत्य शैलियों में से एक है। यह राजस्थान में प्रचलित अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य है, जिसे केवल स्त्रियाँ ही करती हैं। इस नृत्य में महिलाएँ लम्बे, कलीदार घाघरे और रंग-बिरंगी चुनरी व काँचली पहनकर, जिस पर सुनहरी गोटा, सलमा-सितारा लगा होता है, नृत्य करती हैं। घूमर नृत्य तीज-त्योहारों, होली, दुर्गा-पूजा, नवरात्रि, गणगौर तथा विभिन्न लोकोत्सवों के अवसर पर आयोजित होता है। जब स्त्रियाँ एक गोल घेरे में चक्कर लगाते हुए नृत्य करती हैं तो उनके लहँगे का घेर व हाथों का संचालन अत्यन्त आकर्षक दृश्य उपस्थित करता है। लहँगे के घेर को 'कुम्भ' कहते हैं इसीलिए इसको घूमर नृत्य कहा जाता है। यह घूमर गोलाकार सामूहिक रूप में प्रस्तुत की जाती है व साथ में ताल भी झुकते हुए लगती है।

02. अग्नि-नृत्य

राजस्थान में अग्नि-नृत्य का आरम्भ 'जसनाथी सम्प्रदाय' के सिद्धों द्वारा किया गया। इस नृत्य का उद्गम स्थल बीकानेर का 'कतरियासर' ग्राम माना जाता है। इस अग्नि-नृत्य में 6 फीट लम्बा, 4 फीट चौड़ा तथा 3-4

फीट ऊँचाई का अंगारों का ढेर लगाया जाता है। उसके चारों ओर पानी छिड़का जाता है। नर्तक पहले तेजी के साथ अंगारों से निर्मित इस 'धूणै' की परिक्रमा करते हैं और फिर गुरु की आज्ञा लेकर 'फतह'-'फतह' कहते हुए अंगारों पर प्रवेश करते हैं। नृतक उच्च स्वर में ऊँकार की ध्वनि करते हुए अंगारों पर नृत्य करता है तथा इसके साथ-साथ आस-पास खड़े उसके सहयोगी जोर-जोर से नगाड़ों की ध्वनि से नृत्य के साथ संगत देते हैं। अग्नि-नृत्य करते समय इसके साथ-साथ लगातार नगाड़ों का बजना आवश्यक होता है। यह नृत्य एक विशेष लय, ताल तथा अभिनय मुद्राओं के साथ सम्पन्न होता है । अग्निनृत्य में केवल पुरुष भाग लेते हैं। उनके सिर पर पगड़ी होती है तथा वे धोती-कुर्ता और पाँव में कड़ा पहनते हैं। नृत्य के दौरान नर्तक अनेक प्रकार के करतब आदि भी करते हैं।

03. चरी नृत्य

राजस्थान के अजमेर-किशनगढ़ क्षेत्र में गुर्जर समुदाय की महिलाओं द्वारा चरी नृत्य किया जाता है। 'चरी' पीतल का बना, मटके की आकृति का एक पात्र होता है। चूँकि इस नृत्य में चरी का इस्तेमाल किया जाता है इसलिए इसे 'चरी नृत्य' के नाम से जाना जाता है। स्त्रियाँ अपने सिर पर चरियाँ रखकर नृत्य करती हैं। कभी-कभी नर्तकियाँ एक साथ सिर पर सात चरियाँ रखकर भी नृत्य करती हैं। विशेष बात यह है कि नृत्यांगनाएँ इन चरियों में आग जलाकर उन्हें सिर पर रखकर नृत्य करती हैं। इस नृत्य में पानी भरने जाते समय के आह्लाद का प्रदर्शन और घड़ों का सिर पर संतुलन बनाते हुए तथा पैरों से थिरकते हुए हाथों से विभिन्न नृत्य-मुद्राओं को प्रदर्शित किया जाता है। प्रायः यह नृत्य रात के समय बहुत खूबसूरत लगता है। चरी नृत्य में ढोल, थाली, बंकिया वाद्यों का इस्तेमाल किया जाता है। पारम्परिक-तौर पर यह नृत्य देवों के आह्वान के लिए किया जाता है इसलिए इसे 'स्वागत नृत्य' के रूप में भी जाना जाता है। नृत्य करते समय नर्तकियाँ नाक में बड़ी नथ, हाथों में चूड़े और कई पारम्परिक आभूषण, जैसे – हंसली, तिमणिया, मोगरी, पंछी, बंगड़ी, गजरा, कड़े, करली, धनका, तागड़ी आदि पहनती हैं। मूल पोशाक घाघरा-चोली होती है। नृत्य करने वाली नर्तकियाँ पूर्ण रूप से सुसज्जित होती हैं, जिससे उनका सौन्दर्य देखते ही बनता है।

04. तेराताली नृत्य

तेराताली नृत्य राजस्थान के प्रसिद्ध लोक-नृत्यों में से एक है, जो बैठकर किया जाता है। यह कामड़ जाति की महिलाओं द्वारा किया जाता है। इस अत्यन्त आकर्षक नृत्य में महिलाएँ अपने हाथ, पैरों व शरीर के 13 स्थानों पर मंजीरे बाँध लेती हैं। तेरह ताली नृत्य करने वाली महिलाएँ दोनों हाथों में बँधे मंजीरों को गीत की ताल व लय के साथ तेज गति से शरीर पर बँधे अन्य मंजीरों पर प्रहार करती हुई विभिन्न भाव-भंगिमाएँ प्रदर्शित करती हैं। इस नृत्य के समय पुरुष 'तंदुरे' नामक लोकवाद्य की तान पर रामदेवजी के भजन गाते हैं।

05. डांडिया-गेर

यह नृत्य राजस्थान के मेवाड़ व बाड़मेर क्षेत्र में होली के दिनों में खेला जाता है। यह पुरुषों का नृत्य है। इसकी संरचना गोल घेरे में होने के कारण ही इसे गेर कहा जाता है। इसमें पुरुषों की टोली हाथों में लम्बी डंडियाँ

लेकर ढोल, थाली व मादळ वाद्यों की ताल पर वृत्ताकार घेरे में नृत्य करते हुए मण्डल बनाती है। इस नृत्य में तेजी से पद संचालन और डांडियों की टकराहट से तलवारबाजी या पट्टयुद्ध का आभास होता है।

06. भांगड़ा

भांगड़ा पंजाब का प्रसिद्ध लोक नृत्य है। यह एक जीवन्त लोकसंगीत व लोक नृत्य है। बैसाखी के समय फसल-कटाई का अनुष्ठान करते समय लोग परम्परागत रूप से भांगड़ा लोक नृत्य करते हैं। भांगड़ा के दौरान लोग पंजाबी गीत गाते हैं। यह पुरुषों द्वारा किया जाने वाला लोक नृत्य है। लुंगी-कुरता पहने व पगड़ी बाँधे लोगों के घेरे में एक व्यक्ति ढोल बजाता है। भांगड़ा की शुरुआत हालाँकि फसल कटाई के उत्सव के रूप में हुई परन्तु आगे चलकर यह विवाह तथा नववर्ष आदि समारोहों का भी अंग बन गया। भांगड़ा भारत का विश्व स्तर पर प्रसिद्ध लोक नृत्य है।

07. गिद्दा

गिद्दा पंजाब में महिलाओं द्वारा किया जाने वाला एक नृत्य है। यह एक खुशनुमा नृत्य है जिसमें एक गोले में बोलियाँ गायी जाती हैं तथा तालियाँ बजाई जाती हैं। दो प्रतिभागी घेरे से निकलकर सस्वर बोली सुनाती है व अभिनय करती हैं जबकि शेष समूह में गाती हैं। यह पुनरावृत्ति तीन-चार बार होती है। प्रत्येक बार दूसरी टोली होती है जो एक नई बोली में शुरुआत करती है।

08. बिहू

बिहू असम का सर्वाधिक प्रचलित लोक नृत्य है जो बिहू नामक लोकोत्सव के समय किया जाता है। युवा-वृद्ध, अमीर-गरीब सभी मिलकर इसका आनन्द उठाते हैं। बिहू नृत्य खुले मैदान में किया जाता है। पूरा गाँव इस नृत्य में हिस्सा लेता है। इस नृत्य में तेजी से कदम उठाते हुए हाथों को उछालते हुए व चुटकी-बजाने तथा कुल्हे मटकाने जैसी क्रियाएँ की जाती हैं। कलाकार कभी-कभी गीत गाते हैं। धीमी गति से नृत्य प्रारम्भ होता है और जैसे-जैसे नृत्य आगे बढ़ता है, इसकी गति तेज होती जाती है। 'ढोल' की सम्मोहक थाप और 'पेपा' (भैंसे के सींग से बनी तुरही) इस नृत्य के मुख्य वाद्ययंत्र होते हैं।

बिहू नृत्य करते समय पारम्परिक वेशभूषा, जैसे – धोती, गमछा और चादर व मैखला पहनना अनिवार्य होता है। बिहू नृत्य, इसके विभिन्न रूपों में, फसल कटाई के विभिन्न स्तरों पर तथा नए मौसम के आगमन पर भी किया जाता है। इसकी सबसे सामान्य रचना गोलाकार अथवा समानान्तर पंक्तियों में होती है। बिहू नृत्य व संगीत द्वारा असमवासियों की जीवनशक्ति के सर्वश्रेष्ठ रूप का दिग्दर्शन होता है।

09. पिंडवानी नृत्य

पिंडवानी नृत्य भारत में प्रचलित प्रमुख लोकनृत्यों में से एक है। यह नृत्य छत्तीसगढ़ क्षेत्र में प्रचलित एकल लोक नृत्य है, जिसका प्रस्तुतीकरण समवेत स्वरों में होता है। इसमें एक ही व्यक्ति द्वारा आंगिक क्रियाओं के साथ-साथ 'एकतारा' वाद्ययंत्र को बजाते हुए गायन भी किया जाता है। इसमें नर्तक पाण्डवों की कथा को वाद्ययंत्रों की धुन पर गाता जाता है तथा उनका अभिनय भी करता जाता है। इस लोकप्रिय लोक नृत्य के प्रमुख कलाकार तीजन बाई, झाडूराम देवांगन, तथा ऋतु वर्मा आदि हैं।

10. गरबा नृत्य

यह गुजरात राज्य का एक लोकप्रिय लोक नृत्य है जो गीत, नृत्य और नाटक की समृद्ध परम्परा का निरूपण करता है। यह पानी से भरे हुए मिट्टी के मटके, जिसे 'गरबो' कहते हैं, के चारों ओर महिलाओं द्वारा किया जाने वाला नृत्य है। मटका, जिसे कुम्भ कहते हैं, के भीतर एक सुपारी और एक चाँदी का सिक्का रखा जाता है। इसके ऊपर एक नारियल रखा जाता है। नृत्य करने वाली महिलाएँ मटके के चारों ओर गोल घूमती हैं। एक-दूसरे की तालियों से नृत्य को गति व ताल मिलती है। गायक तथा ढोलक या तबला बजाने वाले व्यक्ति संगीत-संयोजन करते हैं। गरबा नृत्य गुजराती महिलाओं द्वारा किया जाने वाला गोलाकार नृत्य है। यह नृत्य नवरात्रि, शरद पूर्णिमा, बसन्त पंचमी, होली और अन्य उत्सवों में किया जाता है।

11. गवल-सींग

मध्यप्रदेश में मुरिया जनजाति का गवल-सींग (पहाड़ी भैंसा) नृत्य पुरुषों और महिलाओं दोनों के द्वारा किया जाता है। पुरुष सींग से जड़े शिरोवस्त्र गुच्छेदार पंख के साथ पहनते हैं और उनके चेहरों पर कोड़ी की झालर लटकती है। उनके गले में लकड़ी के लट्ठ जैसा ढोल लटकता है। महिलाओं के मस्तक चौड़ी ठोस पीतल की माला से और छातियाँ धातु के भारी गहनों से ढकी होती हैं। उनके हाथों में ढोल जैसे मंजीरे होते हैं। 50 से 100 की संख्या में स्त्री व पुरुष मिलकर यह नृत्य करते हैं। गवल के वेश में पुरुष एक-दूसरे पर हमला करते व लड़ते हैं और सींगों से पत्तों को उड़ाते हुए वे प्रकृति के मिलन के मौसम की गतिशील अभिव्यक्ति करते हुए नृत्यांगनाओं का पीछा करते हैं।

12. डिंडी और काला

महाराष्ट्र के डिंडी और काला नृत्य धार्मिक उल्लास की अभिव्यक्ति करते हैं। नर्तक गोल चक्कर में घूमते हैं और छोटी लाठियाँ (डिंडी) जमीन पर मारते हुए समूहगान के मुख्य गायक बीचों-बीच खड़े ढोल-वादक का साथ देते हैं। लय में तेजी आते ही नर्तक दो पंक्तियाँ बना लेते हैं और दाहिने पाँव को झुकाकर बाएँ पाँव के साथ आगे बढ़ते हैं और इस प्रकार ज्यामिति के आकार बनाते हैं। काला नृत्य में एक बर्तन में दही होना जरूरी है, जो उर्वरता का प्रतीक है। नर्तकों का समूह दो वृत्त बनाता है जिसमें एक नर्तक के ऊपर दूसरा नर्तक होता है। एक पुरुष

इन दोनों वृत्तों के ऊपर चढ़कर ऊपर लगी दही की मटकी फोड़ता है, जिससे दही नर्तकों के शरीर पर फैल जाता है। इस आनुष्ठानिक शुरुआत के बाद नर्तक जबर्दस्त रण-नृत्य की मुद्रा में अपनी लाठियाँ और तलवारें भाँजते हैं।

2.3.08 पाठ-सार

उल्लास भाव से उत्पन्न लोक-नृत्यों की भारतीय परम्परा अत्यन्त गौरवशाली रही है। प्रत्येक उत्सव, त्योहार अपने कलेवर में सांस्कृतिक छटा के रूप में लोक-नृत्यों को समेटे हुए दिखाई देता है। प्राकृतिक परिदृश्य के अनुरूप ही यहाँ लोक नृत्य भी विकसित हुए हैं। बिहड़ों में लोक नृत्य उसी के अनुरूप मन्द गति वाले होते हैं तो मैदानी भागों के लोक नृत्य सीधे और गतिवान् होते हैं जबकि पहाड़ी लोक नृत्य उछल-कूद वाले होते हैं। लोक-नृत्यों की रंग-बिरंगी वेशभूषा, लोक वाद्ययंत्र, लोक नृत्यगीत, नर्तकों की भाव भंगिमाएँ, उनका अंग संचालन, सभी कुछ मिलकर इन लोक-नृत्यों में एक ऐसा अनोखा आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं कि बरबस ही सभी इनकी ओर खिंचे चले आते हैं। ये नृत्य हमारी अनमोल सांस्कृतिक धरोहर हैं तथा इनके वास्तविक स्वरूप को सहेजते हुए इन्हें बचाये रखना हमारा परम कर्त्तव्य है।

2.3.09 बोध प्रश्न

1. लोक-नृत्यों की उत्पत्ति समझाइए।
2. लोक-नृत्यों की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
3. लोक-नृत्यों की प्रस्तुति को प्रभावित करने वाले कारकों का खुलासा कीजिए।
4. पाठ में उल्लिखित किन्हीं चार लोक-नृत्यों पर विस्तार से टिप्पणी लिखिए।
5. लोक-नृत्यों की भारतीय परम्पराओं से अवगत करवाइए।

2.3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. सामर, देवीलाल (1957) राजस्थान के लोक नृत्य, उदयपुर, भारतीय लोक कला मण्डल।
2. मिश्र, विद्यानिवास (2015) लोक और शास्त्र : अन्वय और समन्वय, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, ISBN : 978-93-5072-996-0.
3. जसटा, हरिराम (1990) हिमाचल प्रदेश के लोक नृत्य, दिल्ली, सन्मार्ग प्रकाशन।
4. भानावत, डॉ॰ महेन्द्र (2004) गुजरात के लोक नृत्य, उदयपुर, मुक्तक प्रकाशन।
5. त्यागी, डॉ॰ कविता (1995) कौरवी प्रदेश की लोक संस्कृति, नई दिल्ली, राधा पब्लिकेशन्स, ISBN : 81-7487-036-9.

❖❖❖

खण्ड – 2 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 1

इकाई – 4 : लोकोत्सव : प्रतिपाद्य एवं महत्त्व, वर्गीकरण, लोकोत्सवों की लोकप्रियता के कारण, भारत के विशिष्ट लोकोत्सव

इकाई की रूपरेखा

2.4.0 उद्देश्य कथन
2.4.1 प्रस्तावना
2.4.2 प्रतिपाद्य एवं महत्त्व
2.4.3 वर्गीकरण
2.4.4 लोकोत्सव की लोकप्रियता के कारण
2.4.5 भारत के विशिष्ट लोकोत्सव
2.4.6 पाठ-सार
2.4.7 बोध प्रश्न
2.4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.4.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप निम्नलिखित बातें जान पाएँगे –

i. लोकोत्सव किसे कहा जाता है ?
ii. लोकोत्सवों का जीवन में क्या महत्त्व है ?
iii. किस विशेष तिथि पर कौन-सा विशेष लोकोत्सव मनाया जाता है ?
iv. लोकोत्सवों के प्रचलन के पीछे महत्त्वपूर्ण कारण क्या हैं ?

2.4.1 प्रस्तावना

सभ्यता के आदिकाल से ही आध्यात्मिक ऊर्जा तथा सांसारिक मन बहलाव के लिए उत्सव, त्योहार और मेले आदि मनाये जाते रहे हैं। लोक-परम्परा से प्रचलित इन त्योहारों, मेलों, उत्सवों, व्रत-उपवास आदि को सम्मिलित रूप में 'लोकोत्सव' नाम दिया गया।

किसी भी राष्ट्र, प्रदेश और समाज की सम्पन्नता उसके लोकोत्सवों में मिलती है। भारतीय लोकजीवन मेले, त्योहारों और अन्य उत्सवों से भरा जीवन है। ये मेले, त्योहार तथा उत्सवादि ऋतु-चक्र से जुड़े हुए हैं अतः ऋतुओं के अनुसार ही इनका आयोजन होता है। सभी देशवासी प्रेमभाव से एकजुट होकर इन लोकोत्सवों में भाग लेते हैं। कई मेलों के लिए तो लोग बेसब्री से प्रतीक्षा करते हैं। लगभग प्रत्येक मास में हम भारतवासी नए वस्त्रादि पहनकर, पूरी तरह से सज-धजकर, अच्छे पकवान बना-खाकर, किसी-न-किसी उत्सव की मौज-मस्ती का आनन्द

लेते रहते हैं। सैकड़ों नर-नारी, बड़े-बूढ़े, युवक-बच्चे, सुसज्जित होकर इन लोकोत्सवों में शामिल होते हैं। इन उत्सवों में हमारी संस्कृति की जीवन्त झाँकी दिखाई पड़ती है। मात्र सामाजिक ही नहीं, आध्यात्मिक रूप से भी ये लोकोत्सव हमारे जीवन में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

2.4.2 प्रतिपाद्य एवं महत्त्व

लोकोत्सव का अध्ययन-क्षेत्र प्रायः उत्सव, त्योहार व मेले आदि होते हैं। लोकजीवन में ये भाँति-भाँति के लोकोत्सव मानव सभ्यता के आदिकाल से ही मनाये जाते रहे हैं। ज्यों-ज्यों मानव-सभ्यता ने विकास किया, त्यों-त्यों इनकी संख्या में बढ़ोतरी हुई तथा इन उत्सवों के आयोजन स्थल, समय व तिथियाँ भी तय होती गईं। धीरे-धीरे इनमें विधि-विधान ने भी अपना स्थान बना लिया फलतः लोकजीवन में ये लोकोत्सव गहरे तक पैठते चले गए जो कि एक समृद्ध परम्परा के साथ आज तक चले आ रहे हैं। अधिकांशतः इन लोकोत्सवों की आधार-भूमि के रूप में धार्मिक-भावना कार्य करती है। लोकोत्सवों के महत्त्व को इस प्रकार परिगणित किया जा सकता है –

01. लोकोत्सव किसी भी देश की संस्कृति के परिचायक होते हैं।
02. लोकोत्सवों के माध्यम से प्राचीनकाल से चली आ रही भारतीय लोक परम्पराओं को सींचा जाता है।
03. इन लोकोत्सवों का आपसी सौहार्द स्थापना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये पारस्परिक सामाजिक प्रेम और भ्रातृत्वभाव के वातावरण का निर्माण करते हैं।
04. ये मनोरंजन का वह महत्त्वपूर्ण साधन हैं, जहाँ अमीर-गरीब सभी वर्गों की सहज ही में पहुँच है।
05. महापुरुषों पर आधारित लोकोत्सव समाज में उच्चादर्शों की स्थापना करने में सहायक हैं। इस रूप में ये जीवन-मूल्यों के संरक्षक भी हैं।
06. जीवन को सरसता प्रदान करते हुए ये लोकोत्सव लोकजीवन में उमंगों, आशा व उत्साह का संचार करते हैं।
07. शारीरिक व मानसिक रूप से क्लान्त मन-मस्तिष्क में पुनः स्फूर्ति भरकर ताजगी का अहसास कराते हैं।
08. लोकोत्सवों से लोक-जीवन में भक्ति-भावना व ईश्वरीय आस्था का संचार होता है।
09. कुछ मेले ऐसे होते हैं, जहाँ देश के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र के लोग पहुँचते हैं। ऐसे में राष्ट्रीय स्तर पर आपसी मेल-जोल बढ़ता है व बहुत कुछ नया सीखने-सिखाने का अवसर प्राप्त होता है।
10. लोगों में धार्मिक सहिष्णुता, दान-पुण्य, परोपकार, भक्ति-भाव, श्रद्धा-विश्वास, भाईचारे जैसी उत्कृष्ट भावनाएँ जाग्रत् होती हैं।
11. मेलों के अवसर पर उस क्षेत्र-विशेष में एक अस्थायी हाट-बाजार पनप जाता है, जहाँ बहुत-सी उपयोगी वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। इस प्रकार ये मेले अंशकाल के लिए ही सही, परन्तु रोजगार उपलब्ध कराते हैं व जरूरतमंद लोगों को उपयोगी वस्तुएँ उपलब्ध कराते हैं।

2.4.3 वर्गीकरण

डॉ॰ सत्येन्द्र ने लोकोत्सव को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया है –

1. ऋतुपरक : ऋतुपरक उत्सवों के अन्तर्गत 'बसन्तोत्सव' आदि उत्सवों तथा विभिन्न ऋतुओं से सम्बन्धित उत्सवों को रखा गया है।
2. धर्मसम्बन्धी : धर्मसम्बन्धी उत्सवों के अन्तर्गत देवी-देवताओं की पूजा-उपासना के समय आयोजित होने वाले उत्सव तथा वृक्ष पूजा आदि उत्सवों को रखा गया है।
3. वीरपूजा सम्बन्धी : वीरपूजा सम्बन्धी उत्सव में किसी वीर की मृत्यु, वार्षिकी या जयन्ती के अवसर पर आयोजित होने वाले उत्सव आते हैं।
4. निर्माण तथा उत्पादन सम्बन्धी : कृषि उत्पादन कार्य से सम्बन्धित जैसे बुवाई, कटाई, उपज के संग्रह के समय आयोजित होने वाले या अन्य किसी निर्माण तथा उत्पादन के समय होने वाले उत्सव निर्माण तथा उत्पादन सम्बन्धी श्रेणी में रखे गये हैं।

2.4.4 लोकोत्सव की लोकप्रियता के कारण

1. भारतीय लोक मानस का आस्थावान् व धर्म-प्रिय होना इन लोकोत्सवों की लोकप्रियता का सबसे बड़ा व महत्त्वपूर्ण कारण है।
2. लोकोत्सव आपसी मेल-जोल का बहुत बड़ा साधन है। मानव सामाजिक प्राणी है अतः लोकोत्सवों के बहाने होने वाला यह मेल-जोल मन को भाता है। यह कारण इनकी लोकप्रियता को बढ़ाता है।
3. प्रतिदिन की दिनचर्या से हटकर ये अवसर रोचकता का संचरण करते हैं। इनकी यही रोचकता लोगों को अपनी ओर आकर्षित करती है।
4. मेलों के अवसर पर लगने वाले हाट-बाजार, रंग-बिरंगी दुकानें, खेल-खिलौना, खाने-पीने की सामग्री, लोगों के आकर्षण का केन्द्र होती है। ये सभी लोगों को अपनी ओर खींचती हैं।
5. ये त्योहार, व्रतादि, उत्सव, प्रतिवर्ष भाई-बहन (रक्षाबन्धन), पति-पत्नी (करवाचौथ, तीज) माता-पुत्र (वच्छ-बारस) ननद-भाभी आदि रिश्तों को प्रेम की नूतन व प्रगाढ़ डोर में बाँधते हैं।
6. प्रत्येक उत्सव को मनाने के कुछ नियत विधि-विधान होते हैं। अलग-अलग उत्सवों के अलग-अलग विधि-विधान बहुत रुचिकर लगते हैं तथा ये जीवन की एकरसता को समाप्त कर सरसता का संचार करते हैं। मानव मन सदा ही सरसता के वरण हेतु उत्साही रहा है।
7. मेलों आदि उत्सवों में कलाओं का निदर्शन-प्रदर्शन आवश्यक रूप से देखा जा सकता है। जैसे – मिट्टी के बर्तन, लोक-प्रचलित खिलौने, मौत का कुआँ या स्वयं को आग लगाते हुए ऊँचाई से पानी में कूदना आदि। इस प्रकार हर आम आदमी अपनी कला का प्रदर्शन यहाँ कर सकता है। यह भी इनकी लोकप्रियता का एक बड़ा कारण है।

2.4.5 भारत के विशिष्ट लोकोत्सव

भारतवर्ष में अनेक व्रत-उपवास, उत्सव, मेले, महापुरुषों की जयन्तियाँ, त्योहार आदि लोकोत्सव के रूप में मनाये जाते हैं। उनमें से कतिपय विशिष्ट लोकोत्सवों का परिचय इस प्रकार है –

01. गणगौर

यह राजस्थान प्रदेश का प्रमुख उत्सव माना जाता है। 'गण' का अर्थ 'शिव' तथा 'गौर' का अर्थ 'गौरी' या 'पार्वती' है। गणगौर की पूजा कर कुमारियाँ अपने लिए उपयुक्त वर तथा सुहागिनें अखण्ड सौभाग्य की कामना करती हैं। चैत्र कृष्ण प्रतिपदा से चैत्र शुक्ल तृतीया तक यह उत्सव चलता है। 'ईसर' व 'गवर' की मिट्टी से बनी मूर्तियों को स्थापित कर उनका शृंगार किया जाता है। प्रतिदिन इनकी पूजा की जाती है व भोग लगाया जाता है। स्त्रियाँ सुसज्जित होकर पूजा-अर्चना करती हैं व गणगौर के गीत गाती हैं। स्त्रियों द्वारा व्रत भी रखे जाते हैं। इसके अन्तिम दिन अर्थात् चैत्र शुक्ला तृतीया को गणगौर की विशेष पूजा-अर्चना की जाती है व गणगौर की सवारी निकाली जाती है। तत्पश्चात इन मूर्तियों को जल में विसर्जित कर दिया जाता है।

हरियाणा व ब्रज प्रदेश में भी 'सांझी' नाम से लगभग इसी तरह का उत्सव स्त्रियाँ मनाती हैं, वहाँ सांझी के मेले भी लगते हैं।

02. रामनवमी

चैत्र शुक्ला नवमी को दशरथपुत्र राम का जन्मोत्सव सम्पूर्ण भारत में हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। इस दिन राम-दरबार की सवारी / झाँकी शाही ठाठ-बाट के साथ निकाली जाती है। घरों में नाना प्रकार के मिष्ठान्न बनाकर भोग लगाया जाता है। चैत्र नवरात्रि का अन्तिम दिन होने के कारण इस दिन नौ कुँवारी कन्याओं को नवदुर्गा का रूप मानते हुए उनकी पूजा की जाती है व उन्हें भोजन कराया जाता है।

03. अक्षयतृतीया

अक्षय तृतीया या आखा तीज वैशाख मास में शुक्ल पक्ष की तृतीया तिथि को कहते हैं। सर्वसिद्ध मुहूर्त के रूप में प्रसिद्ध इस दिन शुभ व मांगलिक कार्य जैसे विवाह, गृह-प्रवेश, वस्त्र-आभूषणों की खरीददारी आदि कार्य किए जाते हैं। इस दिन पितरों को किया गया तर्पण तथा किसी और प्रकार का दान, अक्षय फल प्रदान करता है। लोक में इस दिन से शादी-ब्याह करने की शुरुआत हो जाती है। बड़े-बुजुर्ग अपने पुत्र-पुत्रियों के लगन का मांगलिक कार्य आरम्भ कर देते हैं। अनेक स्थानों पर छोटे बच्चे भी पूरी रीति-रिवाज के साथ अपने गुड्डा-गुड़िया का विवाह रचाते हैं। कुँवारी कन्याएँ अपने भाई, पिता तथा गाँव-घर और कुटुम्ब के लोगों को शगुन बाँटती हैं और गीत गाती हैं। अक्षय तृतीया सामाजिक व सांस्कृतिक शिक्षा का अनूठा त्यौहार है। कृषक समुदाय में इस दिन एकत्रित होकर आने वाले वर्ष के आगमन, कृषि पैदावार आदि के शगुन देखते हैं।

04. गुरुपूर्णिमा

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को गुरु पूर्णिमा उत्सव मनाया जाता है। इस दिन गुरुदेव के प्रति अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उनकी पूजा की जाती है व उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया जाता है।

05. रक्षाबन्धन

भाई-बहिन के पवित्र-प्रेम का प्रतीक यह त्योहार सम्पूर्ण भारत में श्रावण मास की शुक्ला-पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। इस दिन बहनें सुसज्जित होकर अपने भाइयों की कलाई पर रक्षा-सूत्र रूपी राखी बाँधती हैं और भाई की आरती उतारते हुए उसे मिठाई खिलाती हैं। भाई सदैव उसकी सुरक्षा करने का वचन देते हुए उन्हें भेंटस्वरूप उपहार प्रदान करते हैं।

06. हरियाली तीज व कजली तीज

ये दोनों उत्सव क्रमशः सावन मास की शुक्ल तृतीया व भाद्रपद की कृष्ण तृतीया को मनाए जाते हैं। इस दिन सुहागिनें अपने सुहाग की दीर्घायु की कामना करते हुए व्रत रखती हैं तो कुँवारी कन्याएँ अपने लिए सुन्दर व सुशील वर की प्राप्ति हेतु तीज माता का व्रत रखती हैं। कुछ स्थानों पर हरियाली तीज का व्रत रखा जाता है तो वहीं कुछ स्थानों पर कजली तीज का। इस दिन स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्रों व आभूषणों से सजधज कर बागों में झूले झूलती हैं, गीत गाती हैं, कई प्रकार में मनोरंजक खेल खेलती हैं, संध्या समय तीज माता की कथा-श्रवण करती हैं, व पूजा करती हैं। तत्पश्चात चन्द्र-दर्शन कर, सत्तु आदि का भोग लगाती हैं व अपना व्रत खोलती हैं।

कार्तिक मास की कृष्ण चतुर्थी को भी लगभग इसी तरह का व्रत 'करवा-चौथ' भी महिलाएँ रखती हैं, जिसमें वे पूरे दिन अन्न-जल ग्रहण नहीं करती हैं। संध्या समय चन्द्र-दर्शन करने व उसे अर्घ्य देने के पश्चात् ही वे जलपान करती हैं व अपना व्रत खोलती हैं।

07. नागपंचमी

नाग पंचमी का उत्सव भाद्रपद कृष्ण पक्ष की पंचमी को मनाया जाता है। इस दिन घरों में दीवारों पर काजल व कुंकुम से नाग की आकृति बनाई जाती है व उसकी पूजा की जाती है। दूध व खीर का भोग लगाकर नाग देवता को प्रसन्न किया जाता है।

08. जन्माष्टमी

जन्माष्टमी का उत्सव सम्पूर्ण भारतवर्ष में भाद्रपद की कृष्ण पक्ष की अष्टमी को कृष्ण जन्मोत्सव के रूप में बहुत ही श्रद्धा व उल्लास के साथ मनाया जाता है। इस दिन सुबह से लेकर कृष्ण जन्म के समय अर्थात् रात्रि बारह बजे तक उपवास रखा जाता है। जन्माष्टमी के दिन 'माखन हांडी' जैसे विशेष अयोजन होते हैं। रात बारह बजे

बालकृष्ण को दूध, दही, घी, तुलसी पत्र और शहद के पंचामृत का भोग लगाया जाता है। साथ ही विशाल घण्टाध्वनि से कृष्ण-जन्म का हर्ष प्रकट किया जाता है। मथुरा का जन्माष्टमी उत्सव देशभर में प्रसिद्ध है।

09. गणेशचतुर्थी

गणेश चतुर्थी का उत्सव भाद्रपद की शुक्ला चतुर्थी को गणेश जन्मोत्सव के रूप में मनाया जाता है। स्थान-स्थान पर गणेश की मिट्टी से निर्मित मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं। विशेष प्रकार के मोदक से गणेश को भोग लगाया जाता है व उनकी पूजा-अर्चना की जाती है। वैसे तो बहुत ही हर्षोल्लास के साथ यह त्योहार उत्तरभारत में लगभग सभी जगह मनाया जाता है परन्तु महाराष्ट्र का गणेशोत्सव अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। गणेशोत्सव के अन्तिम दिन गणेश की मूर्ति को जल में विसर्जित कर दिया जाता है।

10. नवरात्रि

चैत्र एवं आश्विन मास की शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवमी तक प्रतिदिन नवदुर्गा के अलग-अलग रूपों की पूजा-अर्चना की जाती है। लोग बहुत ही श्रद्धा के साथ इन नौ दिनों तक व्रत-उपवास रखते हैं व माता के भजन-कीर्तन करते हुए जागरणों का आयोजन करते हैं। यह समयावधि नवरात्रि के नाम से जानी जाती है। उत्तरभारत में वैसे तो नवरात्रि उत्सव सभी जगह बहुत ही धूमधाम से मनाया जाता है, परन्तु गुजरात प्रदेश में विशेष उत्साह के साथ माँ दुर्गा की मूर्ति स्थापित कर उनकी पूजा की जाती है तथा माँ दुर्गा की मूर्ति के समक्ष संध्याकाल में नौ दिन तक लगातार 'गरबा' नृत्य कर माँ को प्रसन्न किया जाता है।

11. दशहरा या विजयादशमी

बुराई पर अच्छाई की विजय का प्रतीक यह उत्सव आश्विन शुक्ल दशमी को प्रतिवर्ष मनाया जाता है। ऐसी मान्यता है कि दाशरथि राम ने इसी दिन ने रावण का वध कर असत्य पर सत्य को विजय दिलाई थी। उसी स्मृति में यह दिन विजयादशमी के रूप में मनाया जाता है। इस दिन राम परिवार की सुसज्जित झाँकियाँ निकाली जाती हैं व संध्याकाल में रावण का पुतला जलाया जाता है।

12. दीपावली

दीपावली का त्योहार कार्तिक अमावस्या को दीप जलाकर लक्ष्मी-पूजन करके मनाया जाता है। दीपावली के पूर्व से ही घरों में साफ-सफाई का कार्य आरम्भ हो जाता है। दीपावली तक सफाई-कार्य पूर्ण करके, रंग-रोगन कर घरों को नये जैसा चमका दिया जाता है। इस दिन घरों को दीपमाला से सजाया जाता है। पूरा वातावरण दीपकों से जगमगा उठता है। नए वस्त्र धारण करके लोग लक्ष्मी-पूजन करते हैं। बच्चे पटाखे छोड़ते हैं। घरों में नाना प्रकार के मिष्ठान बनाए जाते हैं। लोग एक-दूसरे के घर जाकर दीपावली की बधाइयाँ देते हैं। आपसी भाईचारे व सौहार्द की भावना को समेटे हुए यह भारतीय जनजीवन का एक अत्यन्त उल्लासमय त्योहार है।

13. भाईदूज

दीपावली के दूसरे दिन अर्थात् कार्तिक शुक्ला द्वितीया को यह त्योहार मनाया जाता है। इस दिन बहिनें अपने भाइयों की आरती उतारकर उनकी पूजा करती हैं, मिठाई खिलाती हैं। भाई अपनी बहिनों को उपहार देते हैं। कई स्थानों पर बहिनें भी अपने भाइयों को उपहार भेंट करती हैं। यह भाई-बहिन के स्नेह का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण त्योहार है, जिसे उत्तरभारत में, विशेषकर उत्तरप्रदेश में बहुत उत्साह के साथ मनाया जाता है।

14. शिवरात्रि

माघ कृष्ण त्रयोदशी को शिवरात्रि का उत्सव मनाया जाता है। इस दिन भगवान् शिवशंकर ने हलाहल-पान किया था, उसी स्मृति के रूप में शिवरात्रि मनाई जाती है। श्रद्धालु भक्तजन इस दिन उपवास रखते हैं। शिवालयों को फूलों द्वारा सुन्दर सजाया जाता है, लोग शिवलिंग की पूजा करते हैं, प्रसाद चढ़ाते हैं। रात्रि में भजन कीर्तन करते हुए जागरण किये जाते हैं। इस दिन समस्त वातावरण भक्तिमय हो उठता है।

15. मकरसंक्रांति

मकर सक्रांति का पर्व 14 जनवरी को मनाया जाता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार इस दिन मकर से सूर्य उत्तरायण हो जाता है जिसके फलस्वरूप दिन बड़े व रातें छोटी होने लगती हैं। यह उत्सव विशेष दान-पुण्य करते हुए मनाया जाता है। इस दिन गुड़ व तिल का सेवन करना स्वास्थ्यकर माना जाता है। गुड़ व तिलों का दान भी इस दिन खूब किया जाता है। उत्तरभारत में इस दिन पतंगबाजी विशेष रूप से की जाती है। हरिद्वार आदि धार्मिक स्थलों पर मेले लगते हैं एवं अत्यन्त उत्साहपूर्वक दान-पुण्य किया जाता है।

16. बसन्तपंचमी

बसन्त पंचमी माघ शुक्ला पंचमी के दिन मनाई जाती है। यह दिन माँ सरस्वती के जन्मोत्सव के रूप में प्रतिवर्ष मनाया जाता है। इस दिन पीले वस्त्र पहने जाते हैं तथा विद्या की देवी सरस्वती की पूजा-उपासना की जाती है।

17. होली

प्रेम, मस्ती और रंगों का त्योहार होली हिन्दुओं का एक प्रमुख त्योहार माना जाता है। वैसे तो बसन्त पंचमी से ही ढोल व चंग की गूँज सुनाई देने लगती है। परन्तु होली के दिन तो सुबह से ही ढोल, चंग व नगाड़े बजने लगते हैं। लड़कों का झुण्ड एक-दूसरे को तिलक लगाकर ढोल बजाता है। घरों में भाँति-भाँति के व्यंजन बनते हैं। बच्चे गुलाल उड़ाते और एक-दूसरे पर रंग डालते हैं। सायंकाल मैदान में लकड़ियाँ, उपले आदि इकट्ठे कर रखे जाते हैं तथा उनके बीचों-बीच पेड़ की लकड़ी प्रहलाद के रूप में रखी जाती है। जब होलिका दहन किया जाता है तो प्रहलाद को बाहर निकाल दिया जाता है। इसका यही कारण है कि जब भक्त प्रहलाद को उसकी बुआ

होलिका गोद में लेकर बैठ गई और दहन किया गया तो होलिका तो जल गई और प्रभु-कृपा से प्रहलाद बच गए। उसी स्मृति में होलिका दहन किया जाता है। दहन के समय ढोल-नगाड़े बजते हैं। लोग टोलियाँ बनाकर चंग बजाते व फाग गाते हुए होली का आनन्द लेते हैं। दूसरे दिन 'धुलंडी' होती है इस दिन रंगों से परस्पर होली खेली जाती है। शाम को लोग एक-दूसरे के घर जाकर होली की बधाई देते हैं।

2.4.6 पाठ-सार

सार रूप में यही कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति अनुपम है। यहाँ भाँति-भाँति के लोकोत्सव बहुत ही श्रद्धा, उत्साह और उमंग के साथ मनाए जाते हैं। ये लोकोत्सव सरसता एवं समरसता के प्रतीक बनकर लोकजीवन को आह्लादित करते हुए लोकजीवन में घुल-मिल कर इसका एक प्रमुख हिस्सा बन गए हैं। इन उत्सवों में भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल व जीवन्त चित्रों की झाँकी दिखाई पड़ती है। इन तीज-त्योहारों और मेलों से लोकजीवन में नवीनता व स्फूर्ति का संचार होता है।

2.4.7 बोध प्रश्न

1. लोकोत्सव किस-किस रूप में मनाए जाते हैं ?
2. किन्हीं चार लोकोत्सवों पर एक सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।
3. लोकोत्सवों का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है ? समझाकर लिखिए।
4. "लोकोत्सव भारतीय संस्कृति के दर्पण हैं।" उक्त कथन की सारगर्भित व्याख्या कीजिए।

2.4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. कल्ला, डॉ० नन्दलाल (2000) राजस्थानी लोक-साहित्य एवं संस्कृति, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थागार।
2. डॉ० सत्येन्द्र (2006) लोक-साहित्य विज्ञान, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थागार।
3. चारण, डॉ० सोहनदान (2016) राजस्थानी लोक-साहित्य का सैद्धान्तिक विवेचन, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थागार, ISBN 978-93-85593-11-6.
4. जसटा, हरिराम (1990) हिमाचल प्रदेश के लोक नृत्य, दिल्ली, सन्मार्ग प्रकाशन।
5. शर्मा, डॉ० श्रीराम (1992) लोक-साहित्य : सिद्धान्त और प्रयोग, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।
6. त्यागी, डॉ० कविता (1995) कौरवी प्रदेश की लोक संस्कृति, नई दिल्ली, राधा पब्लिकेशन्स, ISBN 81-7487-036-9.
7. कल्ला, डॉ० नन्दलाल (1997) लोक-साहित्यशास्त्र, वाराणसी, संजय बुक सेन्टर, ISBN-81-86135-56-1.

❖❖❖

खण्ड – 3 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 2

इकाई – 1 : लोक-कथा : पुरातन परम्परा स्रोत, परिभाषा, रूपात्मक परिचय, लोक-कथाओं का शिल्प, विशेषताएँ, वर्गीकरण, फेबुल, व्रतकथा, परीकथा, लीजेंड, मिथ : पौराणिक कथा, नाग-कथा, बोध-कथा, कथानक-रूढ़ियाँ अथवा अभिप्राय, छोगे एवं बात बणाव आदि, लोक कथा कथन में कथक्कड़ की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

3.1.00 उद्देश्य कथन
3.1.01 प्रस्तावना
3.1.02 लोक कथा के पुरातन परम्परा-स्रोत
3.1.03 लोक कथा की परिभाषा
3.1.04 लोक कथाओं का शिल्प
3.1.05 लोक कथाओं की विशेषताएँ
3.1.06 लोक कथाओं का वर्गीकरण
3.1.07 कथानक-रूढ़ियाँ अथवा अभिप्राय
3.1.08 छोगे एवं बात बणाव
3.1.09 लोक कथा कथन में कथक्कड़ की भूमिका
3.1.10 पाठ-सार
3.1.11 बोध प्रश्न
3.1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.1.00 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. लोक-कथाओं का विस्तृत परिचय प्राप्त करेंगे।
ii. लोक कथा के पुरातन परम्परा-स्रोत को जान सकेंगे।
iii. लोक कथा के उद्भव को समझ सकेंगे।
iv. लोक कथा के स्वरूप को समझ सकेंगे।
v. लोक-कथाओं के शिल्प और विशेषताओं को समझ सकेंगे।
vi. लोक-कथाओं के वर्गीकरण से परिचित होंगे और उसके विविध रूपों को समझ सकेंगे।
vii. कथानक-रूढ़ियाँ, छोगे एवं बात बणाव को जान सकेंगे।
viii. लोक कथा कथन में कथक्कड़ की भूमिका से परिचित हो सकेंगे।

3.1.01 प्रस्तावना

लोक-साहित्य के तीन रूप उपलब्ध होते हैं – गद्य, पद्य और चम्पू (गद्य-पद्य का मिश्रित रूप)। इसमें गद्य में लोक-कथाएँ, लोक नाट्य, मुहावरे तथा पद्य में लोक गीत, लोक गाथा और लोकोक्तियों का समावेश माना जाता है। प्रस्तुत पाठ में आप 'लोक कथा' का अध्ययन करेंगे।

लोक-साहित्य की विविध विधाओं में लोक कथा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत के विविध प्रदेशों की लोक-कथाएँ साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं। इन लोक-कथाओं में जनसाधारण के सुख-दुःख,आशा-निराशा, हर्ष-विवाद का सहज-सरल स्वरूप चित्रित हुआ है। आदिम काल से मानव-मन को आह्लादित करने वाली लोक-कथाएँ आधुनिक युग में भी मानव-मन के मनोरंजन का साधन है। इससे इनकी कालजयी शक्ति का बोध होता है। ये लोक-कथाएँ जन-मानस की समस्त भावनाओं, रीति-रिवाजों और मान्यताओं को आत्मसात् किये हुए है अतः लोक-मानस के अध्ययन के लिए भी इन लोक-कथाओं का महत्त्व नकारा नहीं जा सकता है। लोक-कथाओं का सृजन व्याकरणाचार्यों या प्रकाण्ड पण्डितों ने नहीं किया वरन् ये तो साधारण जन के अनुभव से उत्पन्न होती हैं अतः इनकी आभा कृत्रिम नहीं वरन् नैसर्गिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है। डॉ॰ सत्येन्द्र ने स्पष्ट किया है कि लोक-प्रचलित और परम्परा से चली आने वाली मूलतः मौखिक रूप से प्रचलित कहानियाँ लोक कथा कहलाती हैं। इनमें लोक मानव की सब प्रकार की भावनाएँ और जीवन-दर्शन समाहित रहता है। अतः कहा जा सकता है कि लोक-कथाएँ लोकजीवन की अनुभूति और कल्ना के तानों-बानों से बुनी हुई विधा है, जो लोक मानस की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है ।

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के बाद आप लोक कथा के पुरातन स्रोत, शिल्प, परिभाषाओं को समझ सकेंगे और भारत के विविध प्रदेशों में प्रचलित लोक कथाओं की विशेषताओं को जान सकेंगे। साथ ही, वर्तमान आधुनिक युग में लोक-कथाओं के प्रति जनमानस के अनुराग को समझ सकेंगे।

3.1.02 लोक कथा के पुरातन परम्परा-स्रोत

लोक-कथाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस परम्परा की प्राचीनता की पुष्टि करते हुए डॉ॰ शंकरलाल यादव ने इन्हें ऋग्वेद से भी पुरातन मानते हुए लिखा है, "कहानियों की उद्भावना की आदिभूमि भारत को माना गया है। यों तो कहानी का मौलिक रूप सृष्टि के समारम्भ से ही प्रत्येक देश में पाया जाता है। ये परम्परित कहानियाँ उस देश में घास की तरह अपने आप पैदा हुई हैं। सभी देशों की वृद्धाओं ने बाल-विनोद के लिए कहानियाँ कही हैं, किन्तु साहित्यिक कहानियाँ लिखने का श्रेय भारत को है। वहाँ इस साहित्य अभिव्यक्ति की परम्परा एक सुदूर अतीत से विद्यमान है।"

लोक कथा के बीज हमें सर्वप्रथम वैदिक संहिताओं में आख्यान रूप में उपलब्ध होते हैं इसलिए वेद कथा-परम्परा का आदिस्रोत है। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेक कथाओं के लघुरूप मिलते हैं। इसके उपरान्त उपनिषदों में भी अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। उपनिषद् काल के बाद पौराणिक युग में कहानियों का

विकास होने लगा और वेदों में बीज रूप में मिलने वाली कथाएँ पुराणों में विस्तृत आख्यानों का रूप लेने लगीं। अतः भारत को लोक कथा की उत्स भूमि माना जाता है। इस परम्परा को आगे बढ़ाने में विभिन्न ग्रन्थों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

1. बृहत्कथा

लोक कथा का सबसे प्राचीन संग्रह गुणाढ्य की बृहत्कथा को माना जाता है। यह ग्रन्थ पैशाची भाषा में लिखा गया है, जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है किन्तु इस पर अवलम्बित तीन ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्राप्त होते हैं – बृहत्कथा श्लोक संग्रह, बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर। उक्त तीनों ग्रन्थ संस्कृत श्लोकों में निबद्ध हैं। बृहत्कथा श्लोक संग्रह की रचना बुधस्वामी, बृहत्कथामंजरी की रचना आचार्य क्षेमेन्द्र और कथासरित्सागर की रचना महाकवि सोमदेव ने की। इनमें से कथासरित्सागर अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित है।

2. पंचतंत्र

लोक कथा की प्राचीन परम्परा में संस्कृत के कथा-साहित्य पंचतंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके रचयिता आचार्य विष्णु शर्मा ने पाँच तंत्रों (भागों) में इसकी रचना की, इसलिए इसे पंचतंत्र कहा गया। इस ग्रन्थ के रचना करने के पीछे रचनाकार का उद्देश्य यह था कि कुछ रोचक कथाओं के माध्यम से नीतिविषयक उपदेश श्रोताओं तक पहुँचा दिए जाएँ। इस प्रकार इस ग्रन्थ में रोचकता के साथ जीवन का पथ-प्रदर्शन करने वाले अनेक अनुभवों का नीर-क्षीर संयोग देखने को मिलता है। इन नीति-कथाओं का इतना व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है कि इसका अनुवाद यूरोप की अनेक भाषाओं में हो चुका है। इसकी कहानियाँ कई देशों में कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ कही-सुनी जाती हैं। इस प्रकार 'पंचतंत्र' यूरोपीय कथाओं का मूल उद्‌गम स्वीकार किया जा सकता है।

3. हितोपदेश

नारायण पण्डित द्वारा रचित हितोपदेश नीति सम्बन्धी कथाओं का ग्रन्थ है। इसकी रचना 14वीं शताब्दी के आस-पास हुई और इसकी अधिकांश कथाएँ 'पंचतंत्र' से ली गई हैं। इस ग्रन्थ की भाषा पंचतंत्र की अपेक्षा सरल है और शैली इतनी बोधगम्य है कि सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।

4. वैताल पंचविंशतिका

इस ग्रन्थ में महाराजा विक्रम से सम्बन्धित 25 कहानियाँ संगृहीत हैं, जिनसे उनके व्यावहारिक ज्ञान का बोध होता है। इसकी रचना आचार्य शिवदास ने की है। इन कहानियों की पद्धति विशिष्ट प्रकार की है, जिसे प्रहेलिका पद्धति कहा जाता है। जिज्ञासा उत्पादक गूढ़ रहस्य की पृष्ठभूमि पर रची गई ये कथाएँ औत्सुक्य उत्पन्न करने में अभूतपूर्व तथा मनोरंजन में बेजोड़ हैं। इसका हिन्दत अनुवाद 'बैताल पचीसी' के नाम से उपलब्ध है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'सिहांसन द्वात्रिंशिका', जिसमें बत्तीस कथाएँ संकलित हैं। जो विक्रमादित्य के सिंहासन में बैठी हुई 32 प्रतिमाओं के मुख से वर्णित कथाओं के रूप में सँजोयी गई हैं। 'शुक सप्तति' में तोते द्वारा कही गई 70 कथाएँ हैं, जो नायक के प्रवास के दौरान नायिका को धैर्य बँधाने के लिए तोते द्वारा कही गयी हैं। इसके अतिरिक्त गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित 'जातक कथा संग्रह' भी उपलब्ध होता है।

कहा जा सकता है कि लोक कथा का जन्म मानव सभ्यता के विकास के साथ ही हुआ और उसके विकास के साथ ही ये भी निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर होती रही हैं। इनमें देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार बदलाव आते रहे हैं किन्तु लोकमंगल और अनुरंजन के उदात्त भाव सदैव विद्यमान रहे हैं।

3.1.03 लोक कथा की परिभाषा

'कथा' शब्द संस्कृत की 'कथ्' धातु से उत्पन्न है, जिसका सामान्य अर्थ है, 'जो कहा जाए'। किन्तु यह अर्थ कथा के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि कथा से तात्पर्य किसी ऐसी घटना को कहने से है जो एक निश्चित क्रम और उद्देश्य को लेकर कही जाए। यहाँ कहने वाले के साथ श्रोता की उपस्थिति भी अनिवार्य है क्योंकि कहने की सार्थकता उसके सुनने से होती है। अतः यह कह सकते हैं कि लोक-साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा लोक कथा मानव की भावनाओं, रीति-रिवाजों, विचारों और धारणाओं का मौखिक और सशक्त माध्यम है जिसमें जीवन के यथार्थ और आदर्श का सुन्दर समन्वय होता है। ये श्रोता के हृदय में जिज्ञासा जगाती हैं और फिर उन जिज्ञासाओं को शान्त भी करती हैं। लोक-कथाएँ कुछ निश्चित कथानक रूढ़ियों और शैलियों में ढली होती हैं जो विभिन्न सन्दर्भों और अंचलों में विविध रूप ग्रहण कर हमें मौखिक परम्परा से वसीयत के रूप में प्राप्त होती है। लोक कथा के अर्थ और स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं –

"लोक कथा शब्द मोटे तौर पर लोक प्रचलित उन कथानकों के लिए व्यवहृत होता है, जो मौखिक या लिखित परम्परा से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहते हैं।"

– डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी

"लोकभाषा के माध्यम से सामान्य लोकजीवन में प्रचलित विश्वास, आस्था और परम्परा पर आधारित कथाएँ लोक कथा के अन्तर्गत आती हैं। इससे मानव का पर्याप्त आमोद-प्रमोद होता है। आये दिन की कथाएँ लोक कथा के अन्तर्गत आती हैं।"

– डॉ॰ विद्या चौहान

"जो कथावस्तु और कलात्मक कथन प्रणाली एक साहित्यिक सौन्दर्य प्राप्त कर लेती है, लोक कथा कही जाती है। लोक कथा विश्वव्याप्त है। इसमें लोकजीवन नाना रूपों में प्रकट होता चला आ रहा है। मानव के दुःख-

सुख, रीति-रिवाज, आस्थाएँ एवं विश्वास इन लोक-कथाओं में अभिव्यक्त होते रहते हैं। लोक कथा मौखिक रूप में ही प्राप्त है।”

– डॉ॰ कुन्दनलाल उप्रेती

“मानव के सुख-दुःख, प्रीति-शृंगार, वीर भाव और बैर इन सबने खाद बनकर लोक-कथाओं को पुष्ट किया है। रहन-सहन, रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास, पूजा-उपासना आदि इन सबसे कहानी का ठाट बनता और बदलता रहता है। कहानी मनुष्य के लिए अपूर्व विश्रान्ति का साधन है। मन के आयास को हटाने के लिए कहानी मानव-समाज का प्राचीन रसायन है।”

– डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल

उक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि वे कथाएँ जो जन-मानस के जीवन से जुड़ी हुई हैं और प्राचीनकाल से मौखिक परम्परा के रूप में विभिन्न परिवर्तनों और परिवर्द्धनों के साथ वर्तमान रूप में प्राप्त होती हैं, लोक-कथाएँ हैं।

3.1.04 लोक कथाओं का शिल्प

भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित लोक-कथाएँ अति लघु अर्थात् मात्र पाँच-दस पंक्तियों तथा दीर्घ कलेवर के रूप में मिलती हैं किन्तु इनमें रोचकता, प्रभाव, वक्ता और श्रोता के मध्य में समुचित सम्बद्धता के निर्वाह के लिए आधुनिक कहानी और उपन्यास की भाँति ही छह महत्त्वपूर्ण तत्त्व मिलते हैं जो इस प्रकार हैं – कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, देशकाल या वातावरण, शैली तथा उद्देश्य।

1. कथावस्तु :

कहानी के ढाँचे को कथावस्तु कहते हैं, जो कथा का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। इसे घटना, बात, कथ्य, कथानक आदि नामों से भी जाना जाता है। प्रत्येक कथा की कथावस्तु होना अनिवार्य होता है क्योंकि इसके बिना कथा की रचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भारतीय लोक-कथाएँ दो रूपों में मिलती है – (1) वे जिनमें केवल मूल कथा ही प्राप्ति होती है तथा (2) वे जिनमें मूलकथा के साथ प्रासंगिक कथाओं का भी समावेश होता है। दोनों ही प्रकार की कथाओं में आरम्भ, मध्य और अन्त सुनिश्चित रहता है। इन तीनों सोपानों को आदि कथानक ‘आदम हव्वा’ में स्पष्ट देखा जा सकता है, यथा – निषेध, उल्लंघन तथा दण्ड। अतः कहा जा सकता है कि कथानक में समय की गति कथा की कड़ियों को खोलती चलती है और इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में श्रोता तृप्ति की अनुभूति करता है।

2. चरित्र-चित्रण :

कथाकार कथा कहने के लिए सशक्त कथानक की रचना करता है। कथानक में विभिन्न परिस्थितियाँ, घटनाएँ और क्रिया व्यापार होते हैं, जिन्हें कथा के पात्र जीते हैं। ये पात्र ही कथा के चरित्र कहलाते हैं और इन पात्रों के गुण-दोषों को चरित्र-चित्रण कहते हैं। भारतीय लोक-कथाओं में उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों प्रवृत्तियों के चरित्रों का चित्रण मिलता है। इनमें नायक सर्वत्र वीर, निर्भय और संघर्षरत दिखाया गया है तो खलनायक भीरू और लंपट रूप में चित्रित है। इन कथाओं में दैवीय और आसुरी शक्तियों से सम्पन्न पात्र भी उपलब्ध होते हैं तो पशु-पक्षी और निर्जीव उपादानों का भी पात्र रूप में चित्रण मिलता है, जो कथा को रहस्य, रोमांच और अलौकिकता से परिपूर्ण बनाते हैं।

3. कथोपकथन :

कथोपकथन कथा के प्रमुख अंग होते हैं जो पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और अन्य मनोभावों को प्रकट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। लेकिन लोक-कथाएँ मौखिक परम्परा से ही प्राप्त होती है अतः इनके कथोपकथन में एकरूपता का अभाव रहता है। कथा-वक्ता अपनी इच्छा और योग्यता के अनुरूप वार्तालाप की रचना करता है। उसका संवाद-संयोजन, संवाद-प्रस्तुति और आंगिक चेष्टाएँ उसके कथावाचन को प्रभावी बनाती हैं और श्रोताओं को बाँधे रखती हैं।

4. देशकाल अथवा वातावरण :

कथा को वास्तविकता का आभास देने के लिए देशकाल या वातावरण का प्रयोग किया जाता है। अधिकांश कथाएँ ऐतिहासिक कथानक का कलेवर लिये होती हैं, उनमें तत्कालीन पारिवारिक, सामाजिक, जातीय वातावरण की झलक देखने को मिलती है। इन लोक-कथाओं में स्थानीय पुट देखने को मिलता है, ये क्षेत्र और युग विशेष की सामाजिक मान्यताओं और धार्मिक आस्थाओं को भी प्रकट करती हैं। इस प्रकार देशकाल या वातावरण का प्रयोग लोक-कथाओं को और भी अधिक प्रभावी बनाने वाला तत्त्व है।

5. शैली :

कथा के प्रस्तुतीकरण के ढंग में कलात्मकता लाने के लिए उसको अलग-अलग भाषा तथा शैली से अलंकृत किया जाता है। लोक-कथाएँ मौखिक स्वरूप में होती है अतः इनकी शैली वक्ता पर निर्भर करती है। प्रत्येक वक्ता की अपनी विशेष शैली होती है, जिससे वह कथा को रोचकपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है, लोक समुदाय में अपनी अलग पहचान बनाता है। वक्ता कथा-प्रस्तुति के दौरान छोगे, बात-बणाव और विविध प्रसंगों को जोड़कर अपनी कथा को आकर्षक बनाता है। वक्ता इस कला में जितना पारंगत होता है, उसकी कथा उतनी ही आकर्षक होती है। शैली में कृत्रिमता के लिए कोई स्थान नहीं होता है। सामान्यतः कथा का प्रारम्भ अतीत की रोचकता, मध्य भाग अत्यन्त विस्तार की संभावना लिये तथा अन्त आशीर्वाद या मंगल-वचन के साथ होता है।

6. उद्देश्य :

कथा की रचना और उसके वाचन में वक्ता का एक निश्चित उद्देश्य निहित होता है। लोक-कथाओं की रचना विभिन्न उद्देश्यों को लेकर की जाती है। जैसे – मनोरंजन, बुद्धि-विलास, आदर्श की स्थापना आदि। किन्तु इनका चरम लक्ष्य लोकमंगल की कामना है। कथाकार जीवन के कटु यथार्थ के ताप से पीड़ित मानव-समाज में सुख और शान्ति की स्थापना करना चाहता है। यही कारण है कि अधिकांश लोक-कथाएँ सुखान्त होती हैं, दुखान्त नहीं। ये कथाएँ निराशा में आशा का संचार कर लोक मानस को आत्मिक आनन्द की अनुभूति कराती हैं।

3.1.05 लोक कथाओं की विशेषताएँ

भारतीय लोक-कथाओं में लोक मानस की सब प्रकार की भावनाएँ और जीवन-दर्शन समाहित है। इनकी विशेषताओं को प्रकट करते हुए डॉ॰ नन्दलाल कल्ला ने लिखा है – "बाल्यावस्था में ये लोक-कथाएँ मनोरंजन, युवावस्था में मादकता की अनुभूति, वृद्धावस्था में अनुभूत तथ्य एवं सत्य का बोध कराती हैं।" बाल्यकाल में अपनी दादी-नानी से जो कथाएँ हमने सुनी हैं, वे भी लोक कथाएँ ही हैं। इनकी विशेषताओं को दर्शाता एक श्लोक द्रष्टव्य है –

यथा नव मृदघटे लग्न: संस्कारो नान्यथा भवते।
कथाच्छलेन बालानां नीति स्तदिह कथ्यते॥

अर्थात् जिस प्रकार नए मिट्टी के घड़े को दिया गया संस्कार कभी नहीं मिटता, उसी प्रकार कथा के माध्यम से दिये गए उपदेश का अमिट प्रभाव बालकों पर पड़ता है।

लोक कथा की विशेषताओं को समेटना शब्दों में जीवन को समेटने के भाँति है तथापि इन विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

1. वक्ता और श्रोता का तादात्म्य :

लोक-कथाएँ श्रुति और स्मृति के आधार पर युगों-युगों से चली आ रही हैं। इनकी प्रमुख विशेषता श्रोता और वक्ता के मध्य अभिन्न तादात्म्य है। इस तादात्म्य में कमी होने पर कथा में नीरसता का समावेश हो जाता है, अतः कथा-वक्ता की श्रोतागण से यह अनिवार्य शर्त होती है कि वे कथा के मध्य अपनी सजगता का परिचय दें। राजस्थान में इसके लिए 'फौज में नगारो अर बात में हुंकारो' की कहावत प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है – जिस प्रकार नगाड़े की ध्वनि फौज में जोश का संचार करती है, उसी प्रकार कथा-वाचन के दौरान श्रोता का हुंकारा वक्ता को जोश से भर देता है। हुंकारे के अतिरिक्त श्रोता जिज्ञासा और प्रशंसासूचक वाक्यांशों का भी प्रयोग करता है, जैसे – अच्छा !, आगे क्या हुआ ? वाह-वाह। कभी-कभी वक्ता के अधूरे वाक्य को पूरा करके भी श्रोता अपनी जागरूकता का परिचय देता है और इस तालमेल से कथा का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है।

2. मानव की मूल वृत्तियों का अंकन:

लोक-कथाओं में मनुष्य की मूल वृत्तियों का सुन्दर, सरल और प्रभावी वर्णन पाया जाता है। ये कथाएँ मनुष्य के जीवन के सभी पहलुओं को अपने विराट् फलक पर सहेजती हैं और मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों – शृंगार, भय, काम, क्रोध, आशा, निराशा, लोभ, मोह आदि का हृदयस्पर्शी चित्रण प्रस्तुत करती हैं। इन कथाओं में दाम्पत्य जीवन की रमणीयता, पति-पत्नी के हास-परिहास के चित्रण में प्रेम का संयमित रूप मिलता है, किन्तु उच्छृंखल वासना के चित्रण का सर्वथा अभाव है। इन कथाओं में कहीं विमाता की ईर्ष्या तो कहीं पुत्रवत्सला माता का वात्सल्य अपने निर्मल स्वरूप में प्रवाहित होता मिलता है। समग्र जनजीवन इन्हीं मनोवृत्तियों से संचालित होता है। अतः ये कथाएँ शाश्वत सत्य का प्रतीक बन जाती हैं और श्रोता के हृदय पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ने में सफल होती हैं।

3. अलौकिक घटनाओं का संयोजन :

लोक-कथाओं में रोमांच वृद्धि के लिए अलौकिक घटनाओं का भी संयोजन किया जाता है। इन कथाओं में सब कुछ सम्भव होता है, असम्भव कुछ भी नहीं। अभिमंत्रित फल से पुत्र-प्राप्ति, जादुई वस्त्र धारण कर अदृश्य होना, उड़ने वाला घोड़ा, मृतक का ईश्वरीय कृपा से जीवित होना, पशु-पक्षियों का मानवीय वाणी में बोलना आदि काल्पनिक घटनाएँ इन कथाओं को रोचक और अलौकिक बना देती हैं। इन चमत्कारपूर्ण अलौकिक घटनाओं को परम्पराजीवी और सनातन आस्था से पूर्ण लोक मानस बिना किसी तर्क-वितर्क के सहज स्वीकार कर लेता है।

4. सुख एवं संयोग में कथाओं का अन्त:

भारतीय लोक-कथाओं का अन्त दुखान्त न होकर प्रायः सुखान्त होता है। यद्यपि इन कथाओं में दुःख और निराशा के प्रसंग भी आते हैं। किन्तु विविध प्रयासों, तपस्या या वरदान से दुःख अन्ततः सुख में परिणत हो जाता है। इन कथाओं का यही उद्देश्य होता है कि ये मानव-समाज को दुःख का सामना करने के लिए प्रेरित करे तथा निराशा में आशा का संचार करे। इसी भावना से युक्त होकर कथावाचक यह कह कर अपनी कथा समाप्त करता है कि – "हे रामजी ! जैसे इनके दिन फिरे, वैसे ही सबके भी फिरें।"

5. लोकमंगल की कामना :

लोक-कथाओं का चरम लक्ष्य लोकमंगल की कामना को माना जाता है। भारतीय संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को स्वीकारती है। इसी भाव से युक्त भारत के विभिन्न प्रदेशों में बसने वाले ग्रामीण कथाकार अपनी कथाओं में संसार के समस्त लोगों के कल्याण की कामना प्रकट करते हैं। कथा में विविध घटनाओं का ताना-बाना मानवता के कल्याण को ध्यान में रखकर बुना जाता है। विभिन्न पात्रों के माध्यम से असत् पर सत् की विजय को दर्शाते हुए आदर्श मानव-समाज और उसके मंगल की कामना प्रकट की जाती है।

6. कथा की स्वाभाविकता :

लोक-कथाएँ जनसाधारण के अनुरंजन का साधन हैं। इनका कथाकार भी उन्हीं की तरह साधारण होता है अर्थात् उसमें पाण्डित्य का भाव या ज्ञान का अहंकार नहीं होता वरन् वह परम्पराजीवी होने के कारण परम्परा से प्राप्त कथानक को आत्मसात् कर जनमानस के आनन्द के लिए कथा का वाचन करता है परिणामस्वरूप लोक कथा में सरलता और स्वाभाविकता का सहज समावेश हो जाता है जो उसे विलक्षण सौन्दर्य प्रदान करता है।

3.1.06 लोक कथाओं का वर्गीकरण

लोक-कथाओं का विषयफलक अत्यन्त विस्तृत है। इसे विभाजन की सीमा-रेखा में समेटना दुष्कर और जटिल समस्या है। एक ही कथा विषयवस्तु, उद्देश्यादि कारणों से एक-से अधिक वर्गों में स्वीकार की जाती है फिर भी अध्ययन की सुविधार्थ अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार इनका वर्गीकरण किया है, जो इस प्रकार है –

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने कथा साहित्य को दो भागों में विभक्त किया है –

1. कथा : इसमें कल्पना तत्त्व की प्रधानता होती है ।
2. आख्यायिका : इसमें कथानक का आधार ऐतिहासिक घटना होती है ।

आचार्य आनन्दवर्धन ने कथा के तीन भेद स्वीकार किये हैं –

1. परिकथा
2. सकल कथा
3. खण्ड कथा

हरिभद्राचार्य ने कथा के चार भेद किये हैं –

1. अर्थ कथा
2. काम कथा
3. धर्म कथा
4. संकीर्ण कथा

डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय का वर्गीकरण इस प्रकार है –

1. नीति कथा
2. व्रतकथा

3. प्रेमकथा
4. मनोरंजक कथा
5. दंतकथा
6. पौराणिक कथा

डॉ॰ दिनेशचन्द्र सेन का वर्गीकरण इस प्रकार है –

1. रूप कथा
2. हास्य कथा
3. व्रतकथा
4. गीतकथा

डॉ॰ सत्येन्द्र-कृत वर्गीकरण इस प्रकार है –

1. गाथाएँ
2. पशु-पक्षी सम्बन्धी कथाएँ
3. परी की कथाएँ
4. विक्रम की कहानियाँ
5. बुझौवल सम्बन्धी कहानियाँ
6. निरीक्षण गर्भित कहानियाँ
7. साधु-पीरों की कहानियाँ
8. कारण निर्देशक कहानियाँ

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि विद्वानों ने कथाओं के विपुल भण्डाकर को वर्गों में बाँटने का प्रयास किया है किन्तु वे इस कार्य में पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। ये वर्गीकरण समय-समय पर बदलते भी रहे हैं और आगे भी बदलते रहेंगे। निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार आगे जिन कथाओं पर चर्चा करेंगे, वे इस प्रकार हैं – फेबुल, व्रतकथा, परीकथा, लीजेंड, मिथ : पौराणिक कथा, नाग कथा, बोध कथा।

1. फेबुल (कल्पित कथा)

वे कथाएँ जिनका सम्बन्ध पशु-पक्षियों से होता है तथा जिनमें कोई उपदेश निहित रहता है उन्हें फेबुल कहते हैं। इनमें पशु-पक्षियों का चित्रण मानवीय पात्र के समान होता है। जहाँ ये अपनी जातीय प्रवृत्ति से सर्वथा अलग रूप में चित्रित होते हैं। इन कथाओं का मूल उद्देश्य मानव-समाज को नैतिक शिक्षा देना होता है। इन फेबुल को लोक कथा का प्रारम्भिक रूप स्वीकार किया जाता है। भारत में फेबुल की प्राचीनतम परम्परा विद्यमान है। यहाँ कथासरित्सागर, पंचतंत्र, जातककथाओं आदि में पशु-पक्षी सम्बन्धी कथाओं का समृद्ध भण्डार मिलता है।

फेबुल में जीव-जन्तु आदि के माध्यम से मनुष्य को शिक्षा देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन्हें दो भागों में बाँटा जाता है – प्रथम भाग, जिसमें उदाहरण द्वारा नैतिक शिक्षा दी जाती है और दूसरे भाग में लोकोक्ति के रूप में उपदेश कथन पाया जाता है। इस शैली की विशेषता और उच्च कोटि की नैतिक शिक्षा के कारण यह माना जाता है कि फेबुल की रचना सभ्य-सुसंस्कृत विद्वानों ने की होगी किन्तु जनसाधारण ने इन्हें सहज भाव से अपना लिया होगा तब ये लोक कथा की मौखिक सम्पत्ति बन गई।

2. व्रतकथा

भारत धर्मपरायण देश है। यहाँ के प्रदेशों में मनोरंजन के साथ ही धार्मिक प्रवृत्ति को जाग्रत् करने और धर्म की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने वाली अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। धर्म के प्रति आस्था रखने वाले लोक समाज में व्रतों, त्योहारों और अनुष्ठानों का विशेष और आदरणीय स्थान होता है। यहाँ सप्ताह के प्रत्येक दिन और माह की प्रत्येक तिथि पर कोई-न-कोई व्रत होता है। यहाँ 33 कोटि देवी-देवताओं के साथ अनेक लोक-देवता और नायकों की पूजा का भी प्रचलन है अतः व्रतों और अनुष्ठानों के माहात्म्य को प्रकट करने वाली कथाएँ विपुल मात्रा में उपलब्ध होती हैं।

प्रत्येक वार की व्रतकथाएँ, पूनम (पूर्णिमा) की व्रतकथा, करवाचौथ, गणेशचतुर्थी की व्रतकथा, वैशाख मास की व्रतकथाएँ, सावन की कथाएँ, कार्तिक मास की कथाएँ आदि अनेक कथाएँ हैं जो अलग-अलग वार, तिथि या माह में अवसरानुकूल कही-सुनी जाती हैं। इन कथाओं में व्रत-सम्बन्धी देवी-देवता का चित्रण सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी के रूप में किया जाता है। इन कथाओं में व्रत की पालना से श्रीवृद्धि, व्रत-पालना में कमी से देव-विशेष के कोप का प्रभाव, व्रत का महत्त्व और व्रत के विधि-विधान का वर्णन होता है। ऐसी धार्मिक मान्यता है कि व्रत रखने तथा उसकी कथा सुनने से मनोकामना की पूर्ति तथा पुण्यफल की प्राप्ति होती है। इन व्रत कथाओं में जन-समाज की धर्म-आस्था प्रधान जीवनशैली के दर्शन होते हैं। सुखान्तता और प्राणी मात्र के कल्याण की भावना इन व्रत कथाओं की उल्लेखनीय विशेषता है।

3. परीकथा (फेयरी टेल्स)

'फेयरी' शब्द लैटिन के 'फेटुम' से बना है, जिसका अर्थ है – जादू अथवा इन्द्रजाल। अतः फेयरी शब्द से अदृश्य तथा अमानवीय प्राणियों का बोध होता है। परियों तथा अमानवीय प्राणियों से सम्बन्धित लोक-कथाओं को परीकथा या 'फेयरी टेल्स' कहा जाता है। ये कथाएँ समस्त विश्व के प्रत्येक देश में बहुलता से उपलब्ध होती हैं। इन कथाओं में परियों द्वारा मानव को सहायता प्रदान करना, परियों द्वारा मानव को क्षति पहुँचाना, मनुष्यों का अपहरण करना, कृत्रिम पुत्र प्रदान करना, परियों की दुनिया की सैर और परी का मनुष्य की प्रेमिका के रूप में चित्रण के वर्णन मिलते हैं। इस प्रकार परियों को मानव-सहयोगी और मनुष्य-द्वेषी दोनों रूपों में दर्शाया गया है।

परी-कथाओं में परियों द्वारा मनुष्य के परोपकार की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं जो जन-समुदाय, विशेषकर बाल-वर्ग में बड़े चाव से सुनी जाती हैं। इन कथाओं में परियाँ नायक की सहयोगी बनती हैं और उसे धन-धान्य, श्री-सम्पत्ति से परिपूर्ण कर देती हैं। परियों के सहयोग से असम्भव से असम्भव कार्य भी सहजता से सम्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार इन कथाओं में ऐसी परियों का चित्रण भी मिलता है जो बुरी प्रवृत्ति की होती हैं। ये अपनी जादुई ताकतों से मनुष्य को क्षति पहुँचाती हैं। कुछ कहानियों में परियों को मनुष्य के अपहरणकर्त्ता के रूप में भी चित्रित किया गया है। इस अपहरण में निहित विविध कारण कथा को विस्तार देते हैं। मनुष्य में वंश-परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए पुत्र-प्राप्ति की सहज अभिलाषा देखी जाती है, परीकथाओं में परियों को निस्संतान दम्पति की इस कामना को पूरा करते दिखाया गया है। परीकथाओं में मनुष्य को परीस्तान की यात्रा करते हुए भी दिखाया गया है, जिसमें परीस्तान के अलौकिक दृश्य कथा को रोचक बनाते हैं। इसके अतिरिक्त अत्यन्त रोचक प्रसंग उन कथाओं में देखने को मिलते हैं, जिनमें परी को साधारण मनुष्य की प्रेमिका के रूप में चित्रित किया गया है। ये कथाएँ विविध-विचित्र प्रसंगों से श्रोतागणों-पाठकों की उत्सुकता को बनाये रखती हैं। भारतीय लोक-कथाओं में परियों के अतिरिक्त इन्द्रलोक की अप्सराओं को भी इस रूप में चित्रित किया गया है।

4. लीजेंड (दंतकथा)

किसी साधु पुरुष अथवा धर्म के नाम पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाले वीर पुरुष की ऐसी कथा जो ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हो और उसमें परम्परागत मौखिक सामग्री का समन्वय हो, उसे लीजेंड कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो ऐतिहासिक घटना के ताने पर कल्पना का बाना गूँथ कर लीजेंड की रचना की जाती है। भारत में इतिहासप्रसिद्ध वीर पुरुषों, लोककल्याण के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने वाले महापुरुषों और सतीत्व-रक्षक नारियों की ऐसी अनेक कथाएँ उपलब्ध हैं। इनमें एक ओर ऐतिहासिक चरित्रों का उल्लेख होता है, वहीं दूसरी ओर इतिहास की पृष्ठभूमि पर कुछ ऐसे काल्पनिक पात्रों की रचना भी की जाती है, जो उस कथा में ऐतिहासिकता की अनुभूति को बढ़ाते हैं और मुख्यपात्र के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को उभारते हैं ।

भारतीय लोकसमाज में प्रचलित – राजा भोज की कथा (उदारता), राजा विक्रमादित्य की कथा (न्यायप्रियता), राजा हरिश्चन्द्र की कथा (सत्यवादिता), पाबूजी री बात (वीरता), जगदेव पँवार री बात (त्याग), वीरमदे (आत्मसम्मान, सतीत्व की रक्षा) की कथाएँ विविध चारित्रिक गुणों से युक्त ऐतिहासिक पात्रों की कथाएँ हैं, जो आज भी लोक मानस को चारित्रिक गुणों के लिए सर्वस्व न्योछावर करने की प्रेरणा देती है। इन कथाओं में इतिहास और कल्पना का नीर-क्षीर सम्मिश्रण हो गया है अतः निश्चित करना कठिन है कि कहाँ तक इतिहास है और कहाँ तक कल्पना ? लोक मानस भी इनकी प्रामाणिकता पर प्रश्न नहीं करता वरन् पात्रों के प्रति अपना सम्मान दर्शाता है।

5. मिथ (पौराणिक कथा)

मिथ वे कथाएँ हैं जो श्रोता या पाठक के ईश्वर में विश्वास और आस्था पर निर्भर होती हैं। इनमें देवी-देवताओं को प्रधान पात्र के रूप में दर्शाया जाता है। ये कथाएँ लीजेंड से काफी मिलती-जुलती प्रतीत होती हैं। इन दोनों को विलग करने वाली रेखा बड़ी सूक्ष्म होती है। इनके भेद को हम इस प्रकार जान सकते हैं कि मिथ की पृष्ठभूमि धार्मिक होती है जबकि लीजेंड की रचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर की जाती है। मिथ के प्रधान पात्र देवी-देवता होते हैं जबकि लीजेंड के प्रधान पात्र लोकप्रसिद्ध वीर पुरुष, सतीत्व-रक्षक नारी और लोककल्याण की भावना से युक्त सज्जन पुरुष होते हैं। लोकप्रसिद्ध राजा हरिश्चन्द्र की कथा लीजेंड की श्रेणी में रखी जा सकती है, वहीं देवासुर संग्राम या ईश्वर के विभिन्न अवतारों की कथाएँ मिथ कही जाएँगी।

मिथ के साथ लोक मानस की धार्मिक आस्थाएँ और विश्वास जुड़े होते हैं। इन कथाओं में सृष्टि की रचना, अलौकिक घटनाएँ और देवी-देवताओं की कथाओं का वर्णन होता है। विविध धार्मिक अनुष्ठानों में इन पौराणिक कथाओं का वाचन-श्रवण होता है। धर्मावलम्बी लोक इन कथाओं को बड़ी श्रद्धा और विश्वास से सुनता है ।

6. नागकथा

भारतीय लोक-कथाओं में नाग-कथाओं की समृद्ध परम्परा रही है। विविध लोक-कथाओं में नाग के कल्याणकारी और विनाशकारी दोनों रूपों का चित्रण किया गया है। इन लोक-कथाओं की पृष्ठभूमि में लोकप्रचलित मान्यताएँ महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। जैसे, यह माना जाता है कि नाग-नागिन अपने जोड़ीदार का अनिष्ट करने वाले से प्रतिशोध लेते हैं, नागों के पास नागमणि होती है, नाग इच्छाधारी होते हैं, नाग पाताललोक में निवास करते हैं। इन्हीं धारणाओं के अनुसार नाग-कथाओं में कल्याणकारी रूप में नाग कभी भातृविहीन बहन का भाई बनकर 'माहेरा' भरता है, तो कभी निस्संतान दम्पति का पुत्र बनकर उनके अभिशप्तक जीवन को सुखमय बनाता है। इन कथाओं में नाग अपने जोड़ीदार को मारने पर उसका प्रतिशोध लेता है। वहीं इच्छाधारी नाग पुरुष रूप धारण कर सुन्दर कन्या अथवा राजकुमारी से विवाह रचा लेता है। ये सभी कथानक नाग-कथाओं में वर्णित हैं।

लोक समाज में वे कथाएँ भी स्थान पाती हैं, जिनमें नाग को दूध पिलाकर, उसकी सेवा कर अभीष्ट की प्राप्ति होती है। इस प्रकार नाग-कथाओं में विविध घटनाओं और प्रसंगों को आधार बना कर नाग को देव रूप में स्थापित किया गया है।

7. बोध-कथाएँ

बोध-कथाएँ वे कथाएँ हैं, जो आकार में छोटी होने पर भी पर्वत की ऊँचाई और समुद्र की गहराई को अपने में आत्मसात् किये रहती हैं। लोक-साहित्य में इन बोध-कथाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन कथाओं में उपदेश देने की प्रवृत्ति होती है, जो इन कथाओं की आत्मा कही जा सकती है। इन कथाओं द्वारा मनुष्य को जीवन

में सद्प्रवृत्तियों को अपनाने की प्रेरणा मिलती है वहीं लोक-व्यवहार की बातों का भी सहज बोध हो जाता है। इन बोध-कथाओं में विभिन्न नीतियों का निचोड़, सांसारिक सत्य का ज्ञान, अनुभूत ज्ञान का प्रकाश और सुन्दर जीवनयापन हेतु मार्गदर्शन प्राप्त होता है। इन कथाओं में निहित ज्ञान के कारण ये देश-काल की सीमा में आबद्ध नहीं रहती और सभी के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होती हैं।

बोध-कथाओं का शिल्प सीधा-सादा और सरल होता है। इनमें एक ही प्रसंग अथवा घटना का चित्रण होता है और अवान्तर कथाओं का अभाव होता है। इनमें पात्रों की संख्या भी कम होती है। इन कथाओं का मूल उद्देश्य जन समाज को शिक्षा देना होता है अतः कथा के अन्त में कथा के उद्देश्य अथवा ज्ञान को स्पष्ट करने की परम्परा भी मिलती है। 'पंचतंत्र' की कथाओं को इस श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

3.1.07 कथानक-रूढ़ियाँ अथवा अभिप्राय

प्रत्येक कलाकृति के मूल में कोई विशेष प्रेरणा रहती है, इसे अभिप्राय कहतते हैं। यह अंग्रेजी शब्द 'मोटिफ' का हिन्दी रूपान्तरण है। लोक-कथाओं का लोक-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक देश की लोक कथा उस क्षेत्र-विशेष की सामाजिक, सांस्कृतिक दशाओं का प्रतिनिधित्व करती है और वहाँ के जनमानस की छवि को प्रतिबिम्बित करती है। लोक-कथाओं के विस्तृत विवेचन के बाद हम यह कह सकते हैं कि विश्व की अधिकांश लोक-कथाओं में एक से रूढ़ तन्तु मिलते हैं, जिनका अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि ये सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से निर्मित हो सकते हैं। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने 'मोटिफ' शब्द की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि "साधारणतया 'मोटिफ' शब्द का प्रयोग परम्परागत-कथाओं के किसी तत्त्व के लिए किया जाता है, परन्तु इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि परम्परा का वास्तविक अंग बनने के लिए यह तत्त्व ऐसा प्रसिद्ध होना चाहिए कि इसे सर्वसाधारण जनता स्मरण रख सके। अतएव यह तत्त्व साधारण न होकर असाधारण होना चाहिए।" डॉ० सावित्री सरीन ने अतिमानवीय एवं अद्भुत तत्त्वों को कथा के अभिप्राय रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है – "अभिप्राय कथा का लघुत्तम तत्त्व है जो परम्परा में स्थिर रूप में रहने की शक्ति रखता है। इस प्रकार की शक्ति रखने के लिए उसमें कुछ असाधारणता और अपूर्वता होनी चाहिए। अभिप्राय कथानक के निर्माण तत्त्व हैं।"

परम्परा से प्राप्त और असाधारणता से परिपूर्ण अभिप्रायों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। ये विश्वभर में प्राप्त लोक-कथाओं में समान रूप से प्राप्त होते हैं, जिससे समस्त विश्व की लोक-कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। डॉ० कन्हैयालाल सहल ने अभिप्राय के लिए 'प्ररूढ़ि' शब्द का प्रयोग किया है और उसे अधिक उचित मानते हुए लिखते हैं – "आवृत्ति के साथ-साथ मूल अभिप्राय में कथा को गति देने की शक्ति पाई जाती है। 'प्ररूढ़ि' शब्द में आवृत्ति और गति दोनों का भाव एक साथ पाया जाता है इसलिए 'मोटिफ' के पर्याय के रूप में 'प्ररूढ़ि' शब्द अपनाया जा सकता है।"

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि अभिप्राय के लिए विभिन्न शब्दों – कथातन्तु, कथानक रूढ़ि, प्ररूढ़ि आदि का प्रयोग करने वाले समस्त विद्वान् इसके महत्त्व को देखते हुए इसे कथा के मूल तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। यदि कथा में ये मूल तत्त्व नहीं हों तो लोक कथा के निर्माण का महत्त्व नहीं रहेगा। लोक कथा का परम्परागत, सांस्कृतिक और नैतिक रूप अभिप्राय ही है, जो सम्पूर्ण विश्व की लोक-कथाओं में समान रूप से पाये जाते हैं और लोक-कथाओं की मूलभूत एकता को प्रमाणित करते हैं। प्रत्येक लोक कथा में एक या अधिक अभिप्रायों का होना आवश्यक होता है। इनके बिना लोक कथा का निर्माण असम्भव है। लोक-कथाओं में अभिप्रायों के महत्त्व को दर्शाता डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन द्रष्टव्य है– "कहानियों के लिए अभिप्रायों का वैसा ही महत्त्व है, जैसा किसी भवन के लिए ईंट-गारे का अथवा किसी मन्दिर के लिए नाना भाँति की सज्जा से उकरे हुए शिलापट्टों का।" अभिप्राय द्वारा संस्कृति का परम्परित रूप सुरक्षित मिला है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जैसे वस्त्र का निर्माण धागे से होता है, वैसे ही कथा की रचना कथा-तन्तुओं से होती है। अतः लोक-कथाओं के रचना तत्त्वों में इनका प्रमुख स्थान है ।

देश-देशान्तर की लोक-कथाओं में प्रयुक्त विभिन्न अभिप्रायों को प्रमुख रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है – (i) लोक-विश्वास पर आधारित और (ii) कवि कल्पित।

कथानक अभिप्रायों के अध्ययन की सुविधा के लिए विभिन्न पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने इन्हें वर्गीकृत किया है। पाश्चात्य विद्वानों में स्टिथ थामसन का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने अभिप्रायों की विस्तृत अनुक्रमणिका प्रस्तुत की है। इस अनुक्रमणिका को डॉ॰ सत्येन्द्र की पुस्तक 'लोक-साहित्य का विज्ञान' में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय विद्वानों में डॉ॰ सत्येन्द्र ने 'ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन' में, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' सम्बन्धी अपने व्याख्यानों में, राजस्थानी लोक-साहित्य के सन्दर्भ में डॉ॰ कन्हैयालाल सहल ने हरियाणा लोक-साहित्य के सन्दर्भ में तथा डॉ॰ शंकरलाल यादव ने लोक-कथाओं में प्रयुक्त 'कथानक अभिप्रायों' का विस्तृत अध्ययन किया है। भारतीय लोक-कथाओं में प्रचलित अभिप्रायों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

पशु-पक्षियों द्वारा भविष्यवाणी, विश्वासपात्र सहायक पशु-पक्षी, उड़ने वाला घोड़ा, पक्षियों का मानववाणी में बोलना, सर्प का मानव रूप धारण करना, परी को नग्नावस्था में देखने पर विपत्ति का आना, वर्जना की शर्त तोड़ने पर अनहोनी का होना, जादू से पुनर्जीवन और यौवन-प्राप्ति, जादुई छड़ी अथवा वस्त्र से उड़ना, मंत्र-शक्ति से किसी को वशीभूत करना, दैत्य के प्राणों की अन्यत्र स्थिति, उड़ते साँप, बोलने या व्यक्त को निगलने वाली गुफाएँ, दैत्य द्वारा रक्षित खजाना, परी-लोक की यात्रा, परियों का स्त्री रूप में आना, विवाह के लिए अद्‌भुत प्रण अथवा शर्त और परीक्षाएँ, माँगने पर भोजन देने वाली कड़ाही, सौतेली माता का पुत्र विरोध, हाथी द्वारा राजा का चयन करना, हँसने पर फूल झड़ना, परकाया में प्रवेश करना, शिव-पार्वती द्वारा शाप-मुक्ति आदि अनेक अभिप्राय लोक-कथाओं में प्राप्त होते हैं, जो कथा में प्राण-तत्त्व की भूमिका निभाते हुए गत्यात्मकता का संचार करते हैं।

3.1.08 छोगे एवं बात बणाव

सामान्यतः वर्णनात्मक घटनाचक्र के कथात्मक रूप-विधान को वार्ता की संज्ञा दी जाती है और सम्पूर्ण कथा-कहानी साहित्य-वार्ता साहित्य के अन्तर्गत रखा जाता है। 'वार्ता' शब्द अपभ्रष्ट होकर या कहें कि लोक जिह्वा में उतरकर 'बात' बन जाता है। राजस्थान में कथा-रचना या बात साहित्य की समृद्ध परम्परा मिलती है। लोक-कथाएँ या बातें लोकजीवन का अंग बनकर प्राचीनकाल से कथाकारों और जनसाधारण के कण्ठ पर अवस्थित हैं। ये कथाएँ या बातें मौखिक परम्परा से प्राप्त वह विरासत है, जो लोक-कण्ठ पर विराजित होकर एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ पर परम्परा से ध्वनित होते हुए युगों से चली आ रही है। इसी क्रम में 'वाचन' की उत्पत्ति होती है। कथावाचक जिसे कथक्कड़ भी कहते हैं, अपनी विशेष शैली में कथा को रूपाकार देता है। भावना और कल्पना के ताने-बाने से निर्मित इन कथाओं के माध्यम से दिन-भर के कठिन परिश्रम से श्रान्त और जीवन की कठिनाइयों से क्लान्त सर्वसाधारण लोक रात्रिकाल में चौपालों पर एकत्र होकर कथा के वाचन-श्रवण से अपना मन बहलाता है। कई कथाएँ लघु रूप होती हैं जो कुछ मिनटों में ही समाप्त हो जाती हैं, तो कई इतनी बड़ी होती हैं कि कई रातों तक उनका वाचन-श्रवण होता है। श्रोता इन लोक-कथाओं को बड़े चाव से सुनता है।

कथक्कड़ बात-बनाने की कला में विशेष पारंगत होता है। वह अपनी विशिष्ट वाचन शैली से श्रोता को प्रतिपल सजग और जिज्ञासु बनाए रखता है, जिससे कथावाचन के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण होता है। कथावाचन के दौरान कथक्कड़ दोहा-सोरठा या अन्य लयबद्ध पद्यात्मक उक्तियों का प्रयोग करता है, इन पद्यों को 'छोगे' कहा जाता है। इन छोगों में कहीं सामाजिक विषमता का वर्णन, तो कहीं नीति कथनों की बात हुई है, कहीं अलौकिक और काल्पनिक चित्रों का चित्रण, तो कहीं भले-बुरे का भेद-निरूपण किया गया है, कहीं इन छोगों के कलेवर में कहावतों को स्थान मिला है, तो कहीं कथ्य-कथा की वर्ण्य-वस्तु से सम्बन्धित बातें कही गई हैं। यहाँ कुछ छोगे उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं –

1. <u>क्रम संवर्द्धक छोगे</u> :

कथा को प्रारम्भ करने से पूर्व श्रोताओं को सचेत करने, हुंकारे की अनिवार्य शर्त रखने और अपनी कथा की सत्यता पर बल देने के लिए इस प्रकार के छोगे का वाचन किया जाता है –

> बात भली दिन पाधरा पैडैं पाकी बोर।
> घर भींडळ घोड़ा जिणै, लाडू मारै चोर।
> केई नर सूता केई नर जागै, जागतेड़ा री पागड़ियाँ ढोलिया रै पागै।
> सूतोड़ा री पागड़ियाँ जागतड़ा लेय भागै, फोरा पतळां रौ डाव नीं लागै॥
> अेक तिल वो ई कांणौ, नित उठ कंथर कढ़ावै घाणौ।
> पाड़ोसण माँगे खळ रो डळौ, कठै री तेलण कठै रौ पळौ॥

X X X

फौज में नगारौ बात में हुंकारौ, हुंकारै री बात प्यारी लागै, बात सुणियाँ भाग जागै।
जीवै बात रौ कहणवाळ अर जीवै हुंकारै रौ देणवाळ ॥

2. नैतिक उपदेश प्रधान छोगे :

इन छोगों में नीतिप्रद कथनों की बहुलता होती है। ये सामाजिक दृष्टि से अच्छाई-बुराई, सत्-असत् का ज्ञान कराते हैं। इनमें प्राचीन परम्पराओं, सामाजिक मान्यताओं और विश्वासों का विवेचन भी मिलता है। जैसे –

बात साची भली, पोथी बांची भली,
देह साजी भली, बहू लाजी भली,
लूवाँ बाजी भली, नौबत गाजी भली,
गाय दूजी भली, गवर पूजी भली,
जोबन जोड़ी भली, कच्छी घोड़ी भली,
मौत मोड़ी भली, मंशा थोड़ी भली,
अंब केरी भली, माळा फेरी भली,
बात साची भली, पोथी बाँची भली ॥

3. जीवन अनुभव सिद्ध छोगे :

इन छोगों में विविध परिस्थितियों से गुजरने वाले व्यक्ति द्वारा अनुभूत ज्ञान का सारपूर्ण विवेचन होता है –

बाप जैड़ा बेटा, रूँख जैड़ा टेटा,
घड़े जैड़ी ठीकरी, मायड़ जैड़ी डीकरी,
झाड़ जैड़ा मूळ, धरती जैड़ी धूळ,
रूई जैड़ा सूत, माइत जैड़ा पूत,
भाखर जैड़ा भाटा, बिरखा जैड़ा लाटा,
रूँखाँ जैड़ा छोडा, मँडी जैड़ा मोडा ॥

4. प्रसिद्धियाँ प्रतिपादक छोगे :

इन छोगों में लोकप्रसिद्ध व्यक्तियों, वस्तुओं, स्थानों, पशुओं आदि का नामोल्लेख होता है, जिससे श्रोता को सहज ही इनकी जानकारी प्राप्त हो जाती है –

प्रथम पिंड पाणी रौ, देवल तौ आबू रा।
हवेलियाँ तौ जेसाणै री, गढ़ तौ चित्तौड़ रौ ॥
ताल तौ भोपाल रौ, मिंदर तौ मथुरा रा।
नीर तौ गंगाजी रौ, धीणौ तौ भैंस रौ ॥
उजास तौ सूरज रौ, आदर तौ माया रौ।

बाँण तौ अरजण रौ, तिलक तौ केसर रौ ॥
सला तौ पंचाँ री, ममता तौ माँ री ।

5. जनपदीय झाँकी प्रधान छोगे :

इन छोगों में कथाकार जनपद विशेष की भौगोलिक स्थिति और वहाँ की प्रसिद्ध वस्तुओं का उल्लेख करता है, जिससे उस जनपद विशेष की संस्कृति की सुन्दर झलक दिखाई देती है –

साळ बखाणू सिंधरी, मूँग मंडोवर देस ।
झीणौ कपड़ौ माळवै, मारू मरुधर देस ॥
बोर मतीरा बाजरी, खेलर काचर खाँण ।
धान र धीणा धौपटा, बरसाळै बीकाण ॥

3.1.09 लोक कथा कथन में कथक्कड़ की भूमिका

लोक कथा युगों से मौखिक परम्परा के रूप में प्राप्त वह विरासत है जो अत्यन्त विपुल और वैविध्यमय है । इसमें पुराण, इतिहास, समाज, धर्म, नीति, शौर्य, शृंगार सभी का समावेश हुआ है । लोकजीवन का ऐसा कोई प्रसंग नहीं, जो इसमें छूट गया हो । दूसरे शब्दों में कहें तो लोक-कथाओं में मनुष्य का आन्तरिक और बाह्य जगत् पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित होता है । अर्थात् 'साहित्य समाज का दर्पण है' की उक्ति लोक-कथाओं पर पूर्णतया चरितार्थ होती है । लोक कथा का वाचन मात्र लोकानुरंजन के लिए ही नहीं होता वरन् इसके द्वारा नैतिक शिक्षा के लक्ष्य की भी पूर्ति होती है । यह लक्ष्य-पूर्ति तभी निश्चित हो सकती है जब वह अत्यन्त सरलता, सहजता और रोचकता के साथ लोक मानस और हृदय तक सम्प्रेषित, संचरित हो जाए । तात्पर्य यह है कि कथा को प्रभावी बनाने और जन-जन तक पहुँचाने में कथा की वाचन शैली की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है ।

लोक कथा का वाचन करने वाले कथाकार को 'कथक्कड़' कहते हैं । राजस्थानी में इनके लिए 'बातपोश' संज्ञा का भी प्रयोग होता है । कथक्कड़ की कथा-वाचन की विशेष शैली होती है । अवसरानुकूल भाषा का प्रयोग, पात्रानुरूप अंग-संचालन, मर्मस्पर्शी दृष्टान्त योजना, उपयुक्त स्थान पर पद्योच्चारण, भावानुकूल स्वरारोह तथा विभिन्न प्रकार की मुखाकृति बनाना कथक्कड़ के विशिष्ट गुण माने जाते हैं जिनके द्वारा वह अपनी कथा को संगीतमय, नाटकीय, रोचक और प्रभावशाली बनाता है । कथक्कड़ के यही गुण उसे जन समाज में प्रतिष्ठित करते हैं । प्राचीनकाल में राज-दरबारों में इन कथक्कड़ों को उचित स्थान और पर्याप्त आदर मिलता था । कथा कहने में कुशल कथक्कड़ ऐसे वातावरण की सृष्टि करता है कि श्रोता जिज्ञासावश एकाग्रचित होकर लोक कथा को सुनता है ।

जैसा कि पूर्व में विवेचित है कि लोक कथा के निर्माण-तन्तु के रूप में अभिप्रायों का विशेष महत्त्व होता है । इन अभिप्रायों में पर्याप्त समानताएँ होने पर भी कथक्कड़ अपनी रचनाशीलता से कई प्रकार की लोक-कथाओं की उत्पत्ति संभाव्य बना देता है । ब्लूम फील्ड के शब्दों में – "सर्वत्र प्रत्येक कथक्कड़ और संग्रहकर्त्ता मानों ऐसा

लगता है कि इन अभिप्रायों की समूची माला उठाता है जिसकी तुलना हम मनके की माला से कर सकते हैं, उसे वह छिन्न-भिन्न कर देता है। जिससे मनके चतुर्दिक् बिखर जाते हैं और प्रारम्भ से वह इन मनकों को पिरोता है।" यहाँ यह बात भी उल्लेख्य है कि कथक्कड़ की मनोवृत्तियाँ, संस्कृति, आचार-विचार, आस्थाएँ और धार्मिक मान्यताएँ अभिप्रायों के परिवर्तन में बहुत सहायक होती हैं।

लोक कथा में कथक्कड़ के साथ ही श्रोता का भी महत्त्व होता है। श्रोता और कथक्कड़ के मध्य बेहतरीन तादात्म्य जहाँ सरसता का संचार करता है, वहीं इसकी कमी कथा को नीरस बना देती है। इस तादात्म्य की आधारभूमि कथक्कड़ की वह विलक्षण प्रतिभा होती है, जो श्रोता के ध्यान को अपनी ओर केन्द्रित कर पाती है। इस प्रकार कथक्कड़ श्रोता के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए कथा का वाचन करता है और अपने मूल उद्देश्य को प्राप्त करता है। यहाँ कथक्कड़ की स्मृति-प्रतिभा का उल्लेख करना भी अनिवार्य प्रतीत होता है। कथक्कड़ों की स्मरण-शक्ति विलक्षण होती है। कई लोक-कथाओं का कलेवर इतना विस्तृत होता है कि उनका वाचन कई-कई रातों तक होता है। विस्तृत कथानक को स्मरण रखने और उसे पुनः उसी रूप में सुनाने के लिए विलक्षण स्मरण-शक्ति का होना भी आवश्यक होता है। कथक्कड़ इसमें भी पारंगत होते हैं और अपनी इसी क्षमता के आधार पर बड़े-बड़े कथानकों को याद रख जन मानस को आनन्दानुभूति कराते हैं।

स्पष्ट है कि श्रवण-वाचन की परम्परा से जुड़ी लोक-कथाओं के कथन में कथक्कड़ की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। वह अपनी प्रतिभा के बल पर साधारण कथानक को भी विशिष्ट बना देता है। अपनी कथा के माध्यम से वह समाज में नैतिकता और व्यावहारिक ज्ञान का प्रकाश फैलाता है। कथक्कड़ अपनी कथा के माध्यम से प्राचीन और नवीन में सुन्दर समन्वय स्थापित करता है।

3.1.10 पाठ-सार

लोक कथा पर केन्द्रित प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के आधार पर अनुभव किया जा सकता है कि लोक-साहित्य के विविध रूपों में लोक कथा का विशेष महत्त्व है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित लोक कथाओं की परम्परा प्राचीन है। इनके बीजरूप हमें वैदिक संहिताओं में उपलब्ध होते हैं, जो धीरे-धीरे विकसित होते हुए आज विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर चुकी है। भारत में लोक कथा की परम्परा ऋग्वेद से पूर्व उपलब्ध होने के कारण विद्वज्जन भारत को लोक कथा की उत्सभूमि भी कहते हैं। यहाँ प्रत्येक प्रदेश की अपनी लोक-कथाएँ हैं, जो अपनी क्षेत्रीय परम्पराओं, विश्वासों, मान्यताओं और रीति-रिवाजों को अपने कलेवर में समाहित किये हुए हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो यहाँ लोक-कथाओं का विपुल भण्डार उपलब्ध है। इस पुरातन परम्परा के साक्ष्य रूप में उपलब्ध ग्रन्थ इस प्रकार हैं – बृहत्कथा, पंचतंत्र, हितोपदेश, वैताल पंचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशिका, शुकसप्तति, जातककथा आदि।

लोक-कथाएँ लोकसमाज की भावनाओं, विचारों और धारणाओं का मौखिक और सशक्त माध्यम हैं। ये अति लघुरूप से लेकर दीर्घ कलेवर में उपलब्ध होती हैं। इनमें आधुनिक कहानी की भाँति ही छह महत्त्वपूर्ण

तत्त्व – कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल या वातावरण, शैली तथा उद्देश्य मिलते हैं। लोक-कथाओं में मनुष्य की मूल वृत्तियों का सुन्दर, सरल और प्रभावी चित्रण मिलता है। इन कथाओं में रोमांच की वृद्धि के लिए अलौकिक घटनाओं का संयोजन भी किया जाता है। ये कथाएँ सरल हृदय लोक के मनोरंजन का साधन होते हुए भी एक महान् लक्ष्य लेकर चलती है, और वह लक्ष्य है, 'लोकमंगल की कामना'। ये कथाएँ अपनी विषयवस्तु के आधार पर विविध वर्गों में बाँटी जाती हैं। लोक कथा के निर्माण में कथानक-रूढ़ि अथवा अभिप्राय का विशेष योगदान होता है। ये कथा में प्राण-तत्त्व की भूमिका निभाते हुए उसमें गत्यात्मकता का संचार करते हैं। कथा के सौन्दर्य को बढ़ाने में 'छोगे' और 'बात बणाव' का भी विशेष योगदान होता है। ये कथा की रोचकता और मधुरता को बढ़ाते ही हैं, साथ ही, श्रोता को कान्ता-सम्मत-उपदेश भी प्रदान करते हैं। कथा की प्रस्तुति में कथक्कड़ की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। कुशल कथक्कड़ अपनी शैली विशेष से कथा को रोचक और प्रभावी रूप में प्रस्तुत करता है और अपनी कथा के माध्यम से समाज में नैतिक और व्यावहारिक ज्ञान का प्रकाश फैलाता है। लोक-कथाएँ प्राचीनकाल से मानव मनोरंजनार्थ कही-सुनी जाती रही हैं। आज भी इनकी सरलता मन को आह्लादित करने और सामाजिक जीवन को शिक्षा देने में पूर्णतया सक्षम है।

3.1.11 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्राचीन परम्परा से प्राप्त कथा-ग्रन्थों के नाम बताइए।
2. कथा शब्द की उत्पत्ति और अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. लोक-कथाओं में प्रचलित अभिप्रायों का परिचय दीजिए।
4. फेबुल कथा से आप क्या समझते हैं ? संक्षेप में समझाइए।
5. कथक्कड़ का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोक कथा की विविध परिभाषाएँ देते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. लोक-कथाओं की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उनके महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।
3. लोक कथा में अभिप्राय और कथक्कड़ की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
4. लोक कथा की रचना के लिए आवश्यक तत्त्वों का वर्णन कीजिए।
5. लोक कथा के विविध रूपों को बताते हुए किन्हीं दो रूपों का परिचय दीजिए।

3.1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. सत्येन्द्र (2011), लोकसाहित्य विज्ञान, जोधपुर, मिनर्वा पब्लिकेशन, ISBN : 978-81-88757-41-1

2. ओझा, मृ. (2011), लोक कथा में लोक और लालित्य, रायपुर, शताक्षी प्रकाशन, ISBN : 978-81-89545-36-9
3. चारण, डॉ॰ सोहनदान (1997), राजस्थानी लोक-साहित्य का सैद्धान्तिक विवेचन, जोधपुर, जैन ब्रादर्स।
4. सांकृत्यायन, राहुल एवं उपाध्याय, डॉ॰ कृष्णदेव (सं.) (सं. 2017 वि.), हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : षोडश भाग, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 2

इकाई – 2 : लोक-गाथा : परिभाषा, विशेषताएँ, उत्पत्ति, श्रेणी-विभाजन, भारतीय परम्परा, प्रस्तुतीकरण, भारत की प्रसिद्ध लोक-गाथाओं यथा – ढोला-मारू, गोपीचन्द-भरथरी, लोरिकायन, नल-दमयन्ती, लैला-मझनूँ, हीर-राँझा, सोहनी-महीवाल, लोरिक-चंदा, बगड़ावत, आल्हा-हरदौल, पाबूजी री पड़, वीर तेजा आदि का परिचय

इकाई की रूपरेखा

3.2.00 उद्देश्य कथन
3.2.01 प्रस्तावना
3.2.02 लोक गाथा की परिभाषा
3.2.03 लोक गाथा की विशेषताएँ
3.2.04 लोक गाथाओं की उत्पात्ति
3.2.05 लोक गाथाओं का श्रेणी विभाजन
3.2.06 लोक गाथाओं की भारतीय परम्परा
3.2.07 लोक गाथाओं का प्रस्तुतीकरण
3.2.08 भारत की प्रसिद्ध लोक-गाथाओं का परिचय
3.2.09 पाठ-सार
3.2.10 बोध प्रश्न
3.2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.2.00 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. भारतीय लोक-गाथाओं का परिचय प्राप्त करेंगे।
ii. विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई लोक गाथा की परिभाषाओं से परिचित हो सकेंगे।
iii. लोक गाथा के स्वरूप को भली-भाँति जान सकेंगे।
iv. लोक-गाथाओं की विविध विशेषताओं को जान सकेंगे।
v. लोक-गाथाओं की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न वादों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
vi. लोक-गाथाओं के श्रेणी विभाजन के अध्ययन से इनके विविध वर्गों को समझ सकेंगे।
vii. लोक-गाथाओं की भारतीय परम्परा को जान सकेंगे।
viii. लोक-गाथाओं की प्रस्तुति के लिए आवश्यक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
ix. भारत में प्रचलित और प्रसिद्ध प्रमुख लोक-गाथाओं के कथानक से अवगत हो सकेंगे।

3.2.01 प्रस्तावना

लोक गाथा लोक-साहित्य की अत्यन्त लोकप्रिय विधा है। लोक-साहित्य में प्रचलित विविध विधाओं में लोक गाथा अपनी विशेषताओं के कारण अपने आप में अनुपम है। यह अंग्रेजी शब्द 'बैलेड' का हिन्दी पर्याय है, जिसका अर्थ है, 'नाचना'। पहले बैलेड गीत गाते समय नृत्य होता होगा किन्तु बाद में इससे नृत्य लुप्त हो गया और कथात्मक गीतों को 'बैलेड' कहा जाने लगा। भारत के विभिन्न प्रदेशों में कथात्मक गीतों के लिए विविध नाम प्रचलित हैं। जैसे – कथा गीत, गीत कथा, पवाड़ा आदि। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने इनके लिए लोक गाथा शब्द का प्रयोग किया है। यह नाम इन कथात्मक गीतों के लिए सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि इसमें लोक तत्त्व, गेयता और कथात्मकता तीनों ही तत्त्वों की समाहिति होती है।

भारतीय लोक-साहित्य लोक-गाथाओं का मनोहर रत्नाकर है। जहाँ वीर-रसात्मकता, धार्मिकता और प्रेम-प्रधानता की चमक लिये कई मणियों रूपी लोक-गाथाएँ प्राप्त होती हैं। विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित ये लोक-गाथाएँ जनजीवन को रसानुभूति करवा कर तृप्त करती हैं। इन लोक-गाथाओं में व्यक्ति विशेष के जीवन का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र प्रधान होता है। इनमें प्रामाणिकता और ऐतिहासिकता का विवाद नहीं होता वरन् लोक आस्था-विश्वास, शकुन-अपशकुन आदि का उल्लेख होता है। अतः कहा जा सकता है कि लोक-गाथाएँ सांस्कृतिक, सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब हैं। इनमें कथा-गीत का मणिकांचन योग होता है और ये मौखिक परम्परा में जीवित रहती हैं।

3.2.02 लोक गाथा की परिभाषा

'गाथा' शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल से होता आ रहा है। ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग पद्य या गीत के अर्थ में अनेक मंत्रों में मिलता है। इसके साथ ही वैदिक साहित्य में 'गाथिन' शब्द का प्रयोग भी मिलता है, जो उस व्यक्ति के लिए होता है – जो कोई प्राचीन आख्यान या कथा कहता हो। 'गाथा' शब्द में गेयता और कथात्मकता दोनों तत्त्व विद्यमान हैं, इसलिए ऐसे प्रबन्धात्मक गीत के लिए, जिसमें कथानक की प्रधानता के साथ ही गेयता भी उपलब्ध हो, लोक गाथा शब्द का प्रयोग करना उचित है। अधिकांश विद्वानों ने लोक गाथा को अंग्रेजी के शब्द 'बैलेड' के हिन्दी पर्याय के रूप में स्वीकार किया है। इसके स्वरूप और अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं –

"बैलेड वह गीत है जो कोई कथा कहता हो अथवा दूसरी दृष्टि से विचार करने पर बैलेड वह कथा है, जो गीतों में कही गई हो।"

– प्रोफेसर कीट्रीज

"बैलेड वह कथात्मक गेय काव्य है, जो या तो लोक-कण्ठ में होता है या लोक गाथा के सामान्य रूप-विधान को लेकर किसी विशेष कवि द्वारा रचा जाता है, जिसमें गीतात्मकता और कथात्मकता दोनों होती है, जिनका प्रचार जनसाधारण में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में मौखिक रूप से होता रहता है।"

– W.P. Kar

"बैलेड ऐसी पद्य-शैली का नाम है, जिसका रचयिता अज्ञात हो, जिसमें साधारण आख्यान हो और जो सरल मौखिक परम्परा के लिए उपयुक्त तथा ललित कला की सूक्ष्मताओं से रहित हो।"

– अंग्रेजी विश्वकोष (Encyclopedia Britanica)

"लोक गाथा वे प्रबन्धात्मक लोक गीत है जो आकार में किसी महाकाव्य को चुनौती दे सकते हैं और जिनमें प्रधान तत्त्व कथा है।"

– डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय

"लोक गाथा का स्वरूप विशिष्ट है। लोक गाथा में द्रुतगति, शब्द-विन्यास की सादगी, विश्वजनीन मर्मस्पर्शी, प्राकृतिक तथा आदिम मनोरागों की अभिव्यक्ति, वर्णनात्मक होते हुए भी प्रभावी चरित्र-चित्रण, साहित्यिक कृत्रिमताओं की न्यूनतम स्थिति अथवा सर्वथा अभाव इत्यादि तत्त्व अनिवार्य हैं।"

– श्री यदुनाथ सरकार

सारांशतः कहा जा सकता है कि लोक गाथा कथात्मक, छन्दोबद्ध, गेय और लोककण्ठ पर अवस्थित काव्य है जिसका रचयिता अज्ञात होता है। यह सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति होती है। यह एक ऐसी मनोरंजक, आह्लादक और प्रेरक लोक विधा है जो लोक मानस को लोक हितकारी चरित्रों को जानने का सौभाग्य प्रदान करती है।

3.2.03 लोक गाथा की विशेषताएँ

भारतीय लोक-गाथाओं को ध्यानपूर्वक देखने पर ज्ञात होता है कि सभी प्रदेशों की लोक-गाथाओं की विशेषताएँ प्रायः समान हैं। इतना ही नहीं, विश्व की समस्त लोक-कथाओं में भी ये विशेषताएँ समान रूप से पाई जाती हैं। लोक-गाथाओं की ये विशेषताएँ उन्हें अलंकृत काव्य से पृथक् करती हैं। इन लोक-गाथाओं की प्रधान विशेषताएँ इस प्रकार हैं –

01. अज्ञात रचयिता और रचनाकाल :

लोक-गाथाओं की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इनका रचयिता अज्ञात होता है। भारत में ढोला-मारू, लैला-मजनूँ, बगड़ावत, वीर तेजाजी आदि लोक गाथाएँ विभिन्न प्रदेशों में समान रूप से प्रचलित और प्रसिद्ध हैं किन्तु इनकी रचना किस काल में, किस कवि द्वारा की गई ! यह तथ्य अज्ञात है। इन लोक गाथाओं के सृजनहार की स्थिति उस बूँद के समान है, जो सागर में जाकर सहज ही विलीन हो जाती है। मौखिक परम्परा से प्राप्त होने के कारण इनका रूप-आकार घटता-बढ़ता और सुधरता रहता है। इनके रूप-परिवर्तन में कब, किसने, कितना योगदान दिया ! यह बता पाना असम्भव है। किन्तु इस परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रक्रिया में यह रचना वैयक्तिक न रहकर समस्त समुदाय की कृति बन जाती है। रचनाकार की भाँति ही इनका रचनाकाल भी अज्ञात है, क्योंकि इनमें वर्णित प्राचीन समाज का चित्रण इनकी प्राचीनता तो प्रकट करता है किन्तु रचनाकाल की निश्चित अवधि का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है।

02. प्रामाणिक मूल पाठ का अभाव :

लोक-गाथाएँ मौखिक परम्परा से प्राप्त ऐसा साहित्य है जिसमें समय-समय पर रूप-परिवर्तन होता रहता है। जो गाथा जितनी लोकप्रिय होती है उसमें परिवर्तन की संभावना उतनी ही अधिक रहती है। अतः इनके प्रामाणिक मूलपाठ का सर्वथा अभाव पाया जाता है। कुछ विद्वानों ने लोक-गाथाओं को उस विशाल नदी के समान बताया है जो अपने उद्‌गम स्थल से पतली जलधारा के रूप में निकली है और निरन्तर आगे बढ़ते हुए विशाल नदी का रूप धारण कर लेती है। लोक-कण्ठ पर चलायमान लोक गाथाओं के रूप-आकार में युगों से परिवर्तन होते रहे हैं, परिणामस्वरूप उनके मौलिक स्वरूप का पता नहीं चल पाता है। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि लोक-गाथाओं की प्रामाणिकता उसके मूल पाठ के निर्धारण से नहीं, वरन् उसके लोक-कण्ठ में विराजने से सिद्ध होती है।

03. गीत-संगीत और नृत्य का सुन्दर समन्वय :

लोक गाथा गीतात्मक कथा होती है, जिसका वाचन नहीं, गायन होता है। गायन के साथ संगीत सदैव वांछनीय होता है। अतः लोक गाथा का गायक गाथा-गायन के दौरान ढोलक, सारंगी, चिकाड़ा आदि वाद्यों का प्रयोग कर अपने गायन को प्रभावी बनाता है। लोक गाथा के लिए अंग्रेजी में 'बैलेड' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ है, 'नाचना'। गाथाकार की विविध भाव-भंगिमाएँ, पद-संचालन नृत्य का ही रूप हैं। इस प्रकार गाथाकार गीत-संगीत-नृत्य का सुन्दर समन्वय कर गाथा को और अधिक रोचक और प्रभावी बना देता है। साथ ही, उसका यह प्रयास उसे लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

04. आंचलिक रंग:

लोक गाथा की प्रमुख विशेषता उसका आंचलिक रंग हैजो उसकी शाश्वत जीवन्तता का प्रमाण है। लोक गाथा चाहे जहाँ की भी हो किन्तु क्षेत्र-विशेष में पहुँचकर वहाँ की विशेषताओं को अपना लेती है। तब इनमें वहाँ के लोक-समुदाय का सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन प्रतिबिम्बित होने लगता है। इसके अतिरिक्त लोक गाथाओं में जन समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों और परम्पराओं का भी सहज वर्णन उपलब्ध होता है। लोकप्रचलित मुहावरे, कहावतों और भाषा-शैली का भी इसमें सुन्दर समावेश हो जाता है। इस प्रकार क्षेत्र-विशेष में पहुँचकर लोक गाथा वहाँ के आंचलिक रंग में पूरी तरह रंग जाती है और आंचलिकता का पुट उसे विशेष सौन्दर्य से परिपूर्ण बनाता है।

05. मौखिक परम्परा :

समग्र लोक-साहित्य मौखिक परम्परा से प्राप्त वह विरासत है, जो एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ पर चलायमान होती रहती है और इस प्रक्रिया में उसकी श्रीवृद्धि भी होती रहती है। लोक गाथा भी इसका अपवाद नहीं है। प्रो॰ गूमर ने मौखिक परम्परा को लोक-गीतों और लोक-गाथाओं की सच्ची कसौटी बतलाया है। डॉ॰ बैरियर एलविन के मतानुसार गीतों को लिपि की शृंखला में बाँधने पर उसका विकास नष्ट हो जाता है क्योंकि जब तक वह मौखिक परम्परा में रहती है तब तक वह लोक समाज की सम्पत्ति बनी रहती है किन्तु लिपिबद्ध होने पर वह साहित्य-सामग्री बन जाती है।

06. आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति :

लोक-गाथाएँ पाण्डित्यपूर्ण उपदेशात्मक कथनों के भार से विहीन और सहज भावाभिव्यक्ति के नैसर्गिक सौन्दर्य से युक्त होती हैं। इन लोक-गाथाओं में आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति का समावेश होता है। अतः गाथाकार अपनी गाथा के माध्यम से उपदेश नहीं देता वरन् वह आदर्श चरित्रों को श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत कर आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा अवश्य देता है। इस प्रकार लोक-गाथाओं में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव होते हुए भी नीति की अभिव्यंजना अवश्य होती है और इसके लिए गाथाकार अभिधा शक्ति के स्थान पर व्यंजना शक्ति का प्रयोग करता है । अतः गाथा से शिक्षा प्राप्त करना श्रोता की क्षमता पर निर्भर करता है।

07. अनलंकृत काव्य:

लोक-गाथाएँ लोक मानस का सहज हृदयोद्गार है इसलिए इनमें सायास लायी जाने वाली कलात्मकता अर्थात् काव्यशास्त्र में वर्णित छन्द-अलंकारों का अभाव रहता है, किन्तु इनमें रस-निष्पति की सर्वोच्च अनुभूति होती है। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने इसी विशेषता को अलंकृत काव्य और लोककाव्य का अन्तर बताते हुए स्पष्ट किया है – "ग्राम्य गीत और महाकाव्य की कविता में अन्तर है। ग्रामगीत हृदय का धन है और महाकाव्य मस्तिष्क का। ग्रामगीत में रस है, महाकाव्य में अलंकार। रस स्वाभाविक है और अलंकार मनुष्यनिर्मित। ... ग्राम

गीत प्रकृति के उद्‌गार हैं। इनमें अलंकार नहीं केवल रस है, छन्द नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य है।"

08. दीर्घ कथानक :

लोक-गाथाओं का कथानक अत्यन्त विस्तृत होता है। इसके दीर्घ स्वरूप के दो कारण माने जा सकते हैं – (i) अन्तर्कथाओं की बहुलता तथा (ii) सामाजिक सम्पत्ति होने का प्रभाव। लोक-गाथाओं को रोचक बनाने के लिए उनमें अनेक अन्तर्कथाओं का समावेश किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप लोक गाथाओं का कथानक दीर्घ स्वरूप प्राप्त कर लेता है। लोक-गाथाओं को लोक समाज अपनी सम्पत्ति मानते हुए समय-समय पर मनमाने ढंग से उसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन करता है जिससे वे वृहदाकार हो जाती हैं। अतएव जो लोक गाथा जितनी प्राचीन होगी उसका रूपाकार उतना ही बृहत् होगा।

09. टेक पदों की पुनरावृत्ति :

टेक पदों की पुनरावृत्ति को लोक गाथा की प्रमुख विशेषता माना जाता है, क्योंकि टेक पदों को दोहराने से गाथाकार और श्रोता के मध्य एक सुन्दर समायोजन हो जाता है। इसके अतिरिक्त संगीतात्मकता की वृद्धि होती है परिणामस्वरूप गाथाकार और श्रोतागण को विशेष आनन्द की अनुभूति होती है जिससे गाथा अधिक सरस और रोचक प्रतीत होने लगती है।

10. संदिग्ध ऐतिहासिकता :

अधिकांश लोक-गाथाओं की रचना ऐतिहासिक पात्रों को केन्द्र में रखकर की गई है किन्तु इनका कथानक ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्ध होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि लोक गाथा का रचनाकार इतिहास-विशेषज्ञ नहीं होता तथा वह गाथा की रचना लोकरंजन की दृष्टि से करता है। इसके साथ यह बात भी उल्लेख्य है कि मूल रचनाकार रचना के सृजन के दौरान इतिहास-तत्त्व की रक्षा करता भी है तो समय के साथ होने वाले परिवर्तन के कारण उसका मूल स्वरूप सुरक्षित नहीं रहता और उसमें अनेक काल्पनिक तत्त्वों का समावेश हो जाता है। इस कारण विभिन्न गाथाओं में चित्रित पात्रों के ऐतिहासिक होने पर भी उनमें वर्णित घटनाओं को संदिग्ध माना जाता है।

कह सकते हैं कि लोक गाथाएँ विभिन्न विशेषताओं को आत्मसात् कर जनमानस की वह रचना है, जो अपने लोक समाज को आत्मिक आनन्द की अनुभूति कराती है। इनमें लोक-विश्वास, लोक-संगीत, लोक-नृत्य का सुन्दर संगम हुआ है जो जनमानस की तृष्णा को शान्त कर जीवन में उल्लास का संचार करता है।

3.2.04 लोक गाथाओं की उत्पात्ति

समग्र लोक-साहित्य को आदिम साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। लोक गाथाएँ भी इसका अपवाद नहीं है। इनके सृजन में समग्र समाज का योगदान है। अतः व्यक्ति विशेष को इसका रचनाकार स्वीकार नहीं किया जाता है। यह तो युगों से चली आ रही सामुदायिक साधना से प्राप्त पुण्य है। अतः इनकी उत्पत्ति का स्रोत ढूँढ़ना जटिल कार्य है। इनकी उत्पत्ति के सन्दर्भ में विद्वानों ने विभिन्न सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : षोडश भाग' में इसके छह सिद्धान्तों का परिचय दिया गया है, जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

1. ग्रिम का सिद्धान्त : समुदायवाद

जर्मनी के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रवेत्ता विलियम ग्रिम ने लोक-गाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसे 'समुदायवाद' के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार लोक-गाथाओं की उत्पत्ति किसी एक व्यक्ति की काव्य-प्रतिभा का परिणाम नहीं है प्रत्युत इसके निर्माण का श्रेय एक समुदाय को प्राप्त है। ग्रिम के अनुसार जिस प्रकार इतिहास का निर्माण व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार महाकाव्य का निर्माण एक व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुरूप लोक गाथा को परिभाषित करते हुए ग्रिम में लिखा है – "लोक गाथा जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता की कविता है।"

2. श्लेगल का सिद्धान्त : व्यक्तिवाद

ग्रिम के सिद्धान्त का प्रबल तर्कों से खण्डन करते हुए ऑगस्ट विलहेम श्लेगल ने लोक गाथा की उत्पत्ति का जो सिद्धान्त दिया, उसे 'व्यक्तिवाद' नाम से जाना जाता है। श्लेगल का मत है कि लोक गाथा का रचनाकार कोई एक व्यक्ति ही होता है, जिसे लोकसमाज सहज ही अपना लेता है और अपनी भाव-सृष्टि को भी मिला देता है। जिस प्रकार एक भव्य महल के निर्माण में अनेक व्यक्तियों का सहयोग रहता है किन्तु उसमें विशेष कलाकार के व्यक्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसी प्रकार लोक गाथा के निर्माण में अनेक व्यक्तियों का सहयोग होते हुए भी वह मूलतः व्यक्ति विशेष की रचना होती है।

3. स्टेंथल का सिद्धान्त : जातिवाद

लोक गाथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अंग्रेज विद्वान् स्टेंथल द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त को 'जातिवाद' के नाम से जाना जाता है। स्टेंथल के मतानुसार "लोक गाथा न तो किसी व्यक्ति विशेष की रचना है और न ही किसी समुदाय की वरन् यह तो सम्पूर्ण जाति की भावनाओं का सृजनात्मक प्रतिफल है।" जातिवाद सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि किसी जाति-विशेष की रूढ़ियाँ, परम्परा, अनुभूति और चिन्तन की दिशाएँ समान होती हैं इसलिए संस्कारगत समानताओं के कारण एक जाति सहित रूप में लोक गाथा की सृष्टि करती है।

4. विशप पर्सी का सिद्धान्त : चारणवाद

इंग्लैंड के विशप पर्सी के सिद्धान्त के अनुसार लोक गाथा की रचना चारणों या भाटों द्वारा की गई थी। प्राचीनकाल में चारण और भाट अपने आश्रयदाताओं का यशोगान करते हुए काव्य की रचना करते थे। भारत में चारणों द्वारा रचित अनेक लोक-गाथाएँ उपलब्ध होती हैं। लोकप्रसिद्ध 'आल्हा' लोक गाथा के मूल लेखक जगनिक हैं जो चन्देलराजा परमर्दिदेव के दरबार में चारण थे। वहीं हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता चन्दवरदाई भी चारण ही थे।

5. प्रो॰ चाइल्ड का सिद्धान्त : व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद

अमेरिकी लोक-साहित्यविद् प्रो॰ चाइल्ड का मानना है कि लोक-गाथाओं की रचना व्यक्ति विशेष द्वारा ही होती है परन्तु उनमें रचनाकार के व्यक्तित्व का कुछ विशेष महत्त्व नहीं होता है। वर्तमान में उपलब्ध अनेक लोक गाथाओं के रचनाकारों के नाम नहीं मिलते। कुछ लोक-गाथाएँ रचनाकारों के नाम से भी प्रसिद्ध हैं किन्तु उनमें विभिन्न गायकों द्वारा इतना अधिक परिवर्तन कर दिया गया है कि उनके मूल रचनाकार के व्यक्तित्व का लोप हो गया है। इस प्रकार रचना व्यक्ति विशेष की होकर भी व्यक्तित्व से रहित होकर समाज की कृति बन जाती है परिणामस्वरूप कालान्तर में उसके मूल स्वरूप को प्राप्त करना असम्भव हो जाता है।

6. डॉ॰ उपाध्याय का सिद्धान्त : समन्वयवाद

डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय का मानना है कि पूर्व विवेचित सभी सिद्धान्तों में आंशिक सत्य है किन्तु किसी एक सिद्धान्त को पूर्णतया प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। हमें पाँचों सिद्धान्तों के अन्तर्गत रचित लोक-गाथाएँ उपलब्ध होती है। अतः कहा जा सकता है कि व्यक्ति, समुदाय, जाति, चारण आदि सभी लोक गाथा की उत्पत्ति में अपना योगदान करते आए हैं। इस प्रकार सभी सिद्धान्तों के सहयोग को स्वीकार करते हुए डॉ॰ उपाध्याय ने 'समन्वयवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार सभी पाँच सिद्धान्त मिलकर लोक गाथा की उत्पत्ति का कारण है, न कि पृथक्-पृथक्। लोक-गाथाओं की उत्पत्ति के सन्दर्भ में डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय का सिद्धान्त अधिक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि पृथक् सत्ता के रूप में कोई एक सिद्धान्त समस्त लोक-गाथाओं का कारक नहीं हो सकता है।

3.2.05 लोक गाथाओं का श्रेणी विभाजन

भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित लोक-गाथाओं की व्यापक और सुदीर्घ परम्परा है। लोक-गाथाओं को प्रमुख रूप से दो आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है – (1) आकार के आधार पर तथा (2) वर्ण्य-विषयवस्तु के आधार पर।

आकार के आधार पर विचार करने पर सम्पूर्ण लोक-गाथाओं को पुनः दो वर्गों में बाँट सकते हैं – (i) लघु-गाथाएँ तथा (ii) दीर्घ-गाथाएँ।

लघु-गाथाएँ आकार में छोटी होती हैं। इनमें कथा को संक्षेप में रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। गोपीचन्द, सरवर नीर, कुसुमादेवी आदि गाथाओं को लघु आकारीय गाथाओं में गिना जाता है। वहीं दीर्घ-गाथाएँ प्रबन्धात्मक काव्य के समान दीर्घ कलेवर को लिये होती हैं। इनमें मूलकथा के साथ जीवनोपयोगी अन्य प्रसंग जोड़ दिये जाते हैं तथा वस्तु-घटनाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार वस्तु-घटना के विस्तृत वर्णनों की प्रवृत्ति के कारण कथानक दीर्घ स्वरूप प्राप्त कर लेता है। हीर-राँझा, ढोला-मारू, बगड़ावत को दीर्घ गाथाओं की श्रेणी में रखा जाता है।

आकार के आधार पर किया गया वर्गीकरण मोटे तौर पर लघु-दीर्घ गाथाओं के मध्य विभाजन-रेखा तो अंकित करता है किन्तु इस विभाजन को वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। अतः वर्ण्य-विषय के आधार पर वर्गीकरण करना अधिक उचित प्रतीत होता है। कई भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने वर्ण्य-विषय के आधार पर लोक-गाथाओं का वर्गीकरण किया है। जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं –

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा किया गया वर्गीकरण –

1. <u>प्रेम कथात्मक गाथाएँ</u> :

प्रेमकथात्मक गाथाओं में प्रेम विषम परिस्थितियों में उत्पन्न होता है और विभिन्न संघर्षों के बाद नायक-नायिका को अपने अभीष्ट की प्राप्ति होती है। इनमें प्रणय की गाथाएँ भी है, जिनमें पति-पत्नी के प्रेम के दोनों पक्षों (संयोग-वियोग) का रोचक चित्रण होता है। ये गाथाएँ सुखान्त भी है और दुखान्त भी। ढोला-मारू, हीर-राँझा, भरथरी आदि को इसी वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

2. <u>वीरकथात्मक गाथाएँ</u> :

वीर कथात्मक गाथाओं में किसी लोकप्रसिद्ध शूरवीर के पराक्रम का वर्णन होता है। इन गाथाओं में वीरता और पराक्रम के साथ ही उदारता, मर्यादा-पालन, नारी के सम्मान की रक्षा, धर्म की प्रतिष्ठा आदि पुरुषोचित गुणों का प्रभावी अंकन होता है। इस श्रेणी की गाथाओं में 'आल्हा' का स्थान सर्वोपरि है।

3. <u>रोमांच कथात्मक गाथाएँ</u>:

रोमांच कथात्मक गाथाओं में अलौकिकता का समावेश होता है। ये गाथाएँ प्रायः नायिका प्रधान होती हैं। इनमें नायिका का जीवन रोमांचकारी घटनाओं से परिपूर्ण चित्रित किया जाता है। 'सोरठी' की गाथा इसी वर्ग में आती है।

प्रो० कीट्रीज का वर्गीकरण –

1. <u>चारण गाथाएँ</u> :

वे गाथाएँ जो चारणों द्वारा रची और गायी जाती हैं, उन्हें चारण गाथाएँ कहा जाता है।

2. <u>परम्परागत गाथाएँ</u> :

चिरकाल से चली आ रही वे गाथाएँ, जिनका प्रचार और प्रभाव आज भी विद्यमान है, उन्हें परम्परागत गाथाओं की श्रेणी में रखा जाता है।

प्रो० गूमर का वर्गीकरण –

1. <u>प्राचीनतम गाथाएँ</u> :

प्राचीनतम गाथाएँ प्रायः समस्यामूलक होती हैं जो धरती, आकाश आदि प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बद्ध प्रश्नोत्तरी शैली में रचित होती हैं।

2. <u>कौटुम्बिक गाथाएँ</u>:

कौटुम्बिक गाथाएँ परिवार से सम्बन्धित होती हैं जिनमें परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों और व्यवहार का अंकन होता है।

3. <u>अलौकिक गाथाएँ</u> :

अलौकिक गाथाओं में जादू, चमत्कार, परी-प्रसंग, भूत-प्रेत, अन्धविश्वास आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

4. <u>पौराणिक गाथाएँ</u> :

पौराणिक लोक-गाथाएँ प्रायः पुराणों, रामायण, महाभारत में वर्णित कथाओं से प्रेरित होती हैं।

5. <u>सीमान्त गाथाएँ</u> :

सीमान्त गाथाएँ प्रायः स्थानीय वीरों की महिमा से मण्डित होती है। जगदेव की वीरगाथा, कुँवरसिंह का पँवारा इसी प्रकार की लोक-गाथाएँ हैं। इन्हें ऐतिहासिक लोक गाथा भी कहा जा सकता है।

6. आरण्यक गाथाएँ :

आरण्यक-गाथा के अन्तर्गत लोक-हितैषी और कल्याणकारी डाकुओं, लुटेरों की गाथाएँ रखी जा सकती हैं। यहाँ विश्वप्रसिद्ध 'रॉबिनहुड' का उल्लेख करना भी उचित प्रतीत होता है जिसमें रॉबिनहुड को एक वीर, साहसी, दीन-दुखियों के सहायक के रूप में चित्रित किया गया है। भारत में इस प्रकार की अनेक गाथाएँ प्रचलित हैं जिनमें ब्रज की 'राधाचरन कौ ढोला' राजस्थान की 'जोरजी चांपावत' विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। इनमें नायक की वीरता, साहस, उदारता का वर्णन होता है अतः इन्हें साहसिक लोक-गाथाएँ भी कहा जा सकता है।

प्रो॰ गूमर ने अंग्रेजी लोक-गाथाओं के आधार पर उपर्युक्त वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। यह इतना विस्तृत और सांगोपांग है कि इसमें भारतीय लोक गाथाओं के सभी प्रकार समाहित किये जा सकते हैं।

3.2.06 लोक गाथाओं की भारतीय परम्परा

भारत में लोक-कथाओं की भाँति ही लोक-गाथाओं की परम्परा भी अत्यन्त प्राचीन है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि ऋग्वेद में 'गाथा' शब्द का प्रयोग पद्य या गीत के अर्थ में अनेक मंत्रों में मिलता है। साथ ही, प्राचीन आख्यान या कथा कहने वाले के लिए 'गाथिन' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। अतः गाथा का अर्थ कोई आख्यान या कथा भी माना जा सकता है। इसके साथ ही उस युग में शुभ अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों को भी गाथा ही कहा जाता था और वैदिक युग में लोकप्रिय राजा के सत्कार्यों के सम्बन्ध में जो गीत गाये जाते थे, उनके लिए भी 'गाथा' शब्द का प्रयोग मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक युग में यद्यपि 'गाथा' का स्वरूप स्पष्ट नहीं था किन्तु इस शब्द का प्रयोग उन आख्यानों या कथाओं के लिए होता था जिनमें गेयता का योग होता था। अतः कह सकते हैं कि ऋग्वेद में प्राप्त कुछ सूक्त और गाथाएँ लोक गाथा की भारतीय परम्परा में प्राप्त प्राचीनतम गाथाएँ हैं। वैदिक गाथाओं के उदाहरण आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। इस समय तक गाथाओं का स्वरूप निखर कर नहीं आया था और वे हमें बीज रूप में ही प्राप्त होती हैं किन्तु समय के साथ निरन्तर विकास की ओर अग्रसर लोक गाथाएँ साहित्य के पृथक् अंग के रूप में स्वीकार की जाने लगीं और प्राचीन आख्यान, उपाख्यान और गाथाओं के संकलन को पुराण के रूप में स्वीकार किया जाने लगा।

विकास-पथ पर अग्रसर गाथाएँ तथागत बुद्ध के युग तक पहुँचते-पहुँचते जनसाधारण में प्रचलित हो गईं और जन-समाज की सम्पत्ति बन गईं। इन्हीं लोकप्रचलित गाथाओं में से सात-सौ गाथाओं का संकलन सातवाहन ने 'गाथा सप्तशती' में किया। इसी प्रकार बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित कथाओं और गाथाओं का संकलन 'जातक' नामक पालि-ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। अपभ्रंश काल में लोक-तत्त्वों और लोक-जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ 'सन्देशरासक' प्राप्त होता है जिसे तत्कालीन लोक-गाथाओं के आधार पर ही निर्मित माना जाता है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि लोक-गाथाओं की भारतीय परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में बीज रूप में मिलने वाली गाथाएँ समय के साथ निरन्तर विकास पथ पर अग्रसर होकर आज विशाल वट-वृक्ष के रूप में

हमारे समक्ष हैं। भारत के विभिन्न प्रदेशों में इसकी जड़ें व्याप्त हैं और थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी अनेक गाथाएँ गायी और सुनी जाती हैं।

3.2.07 लोक गाथाओं का प्रस्तुतीकरण

लोक-गाथाओं के वाचन-श्रवण की परम्परा प्राचीन है। ये लोक-गाथाएँ प्रमुख रूप से लोकानुरंजन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रस्तुत की जाती हैं वहीं अप्रत्यक्ष रूप में ये गाथाएँ जनसाधारण को नैतिक शिक्षा प्रदान कर उन्नत जीवन जीने की प्रेरणा भी प्रदान करती हैं। लोक-गाथाओं में श्रोता की रुचि बनाए रखने में इनके प्रस्तुतीकरण की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है । गाथा का प्रस्तुतीकरण जितना प्रभावी होगा वह उतनी ही लोकप्रसिद्ध होगी। अतः इस प्रभाव को बनाए रखने के लिए गाथाकार विशेष परम्परा का निर्वाह करता है। गाथा-प्रस्तुतीकरण के लिए आवश्यक बिन्दुओं का विवरण इस प्रकार है –

1. <u>देशकाल</u> :

लोक-गाथाओं के वाचन में देशकाल का विचार किया जाता है। कई गाथाएँ समय विशेष या खास अवसर पर गायी जाती हैं, जैसे – 'आल्हा' का वाचन वर्षा ऋतु में किया जाता है तो विभिन्न धर्म-प्रधान गाथाओं का वाचन अलग-अलग धार्मिक अवसरों पर किया जाता है। नवरात्रि में शक्तिपूजा की परम्परा का निर्वाह करते हुए नौ दिनों तक अखण्ड ज्योति प्रज्वलित की जाती है और विभिन्न देवी-देवताओं की यशोपरक गाथाएँ गायी जाती हैं। श्रद्धा से परिपूर्ण भारतीय लोक समाज इच्छापूर्ति के लिए धर्मगाथा के वाचन की 'बोलवाँ' बोलता है और इच्छापूर्ण होने पर शुभ अवसर देख 'गाथा' बँचवाता है। गाथा-वाचन का मूल उद्देश्य लोकानुरंजन है। श्रोताओं की कामना के अनुरूप अवसरानुकूल 'गाथा' का वाचन किया जाता है।

2. <u>जनमानस की उत्सुकता</u> :

जनसाधारण में लोक-गाथाओं के प्रति विशेष उत्सुकता और अनुराग होता है। सरल हृदय लोक प्रेम, वीरता, भक्ति से परिपूर्ण लोक-गाथाओं को तल्लीनता के साथ सुनता है और आनन्द-सागर में गोते लगाता है। श्रोतागण की उत्सुकता को बनाए रखने में गाथाकार की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण होती है। वह गाथा को जितना रोचकपूर्ण ढंग से सुनाता है, श्रोता उतना ही आनन्द और उल्लास की अनुभूति करता है और गाथा के प्रति उसकी उत्सुकता-जिज्ञासा बनी रहती है।

3. <u>मंच</u> :

लोक-गाथाओं के वाचन की परम्परा प्राचीन है। पुराने समय से गाँवों में देवरों या चबूतरों पर ही इन गाथाओं का मंचन किया जाता रहा है। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम होने पर इन स्थानों की सफाई कर माँडणा-रंगोली से

सजाया जाता है। कनातों का प्रयोग कर मंच को व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाता है। खुले आकाश के नीचे प्रकृति के साहचर्य से लोक-गाथाओं में नैसर्गिक सौन्दर्य की श्री-वृद्धि होती है।

4. वाद्य यंत्र :

लोक-गाथाओं में कथा के साथ गीत-संगीत की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। गीत का सौन्दर्य संगीत के प्रयोग से द्विगुणित हो जाता है। अतः गाथा की प्रस्तुति में वाद्य-यंत्रों के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है। लोक गाथा वाचन के दौरान प्रयुक्त वाद्यों में ढोल, चंग, मंजीरे, इकतारा, अलगोजा, खड़ताल आदि प्रमुख हैं। कहीं-कहीं थाली, मटकी (मिट्टी का छोटा घड़ा) का भी वाद्ययंत्र की भाँति प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार विविध वाद्य-यंत्रों का प्रयोग कर गाथाकार अपनी गाथा-प्रस्तुति को अधिक रुचिकर बना देता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोक-गाथाएँ भक्ति, शृंगार, नीति, कथा, गायन और संगीत का अनूठा संगम है। इस संगम का अद्भुत आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है जब गाथाकार अपनी विलक्षण बुद्धि, चातुर्य और परम्परागत शैली का समन्वय कर सुन्दर स्वरूप में लोक समाज के सक्षम अपनी गाथा का प्रस्तुतीकरण करे। सुन्दर-संतुलित प्रस्तुतीकरण गाथाकार की श्रीवृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

3.2.08 भारत की प्रसिद्ध लोक-गाथाओं का परिचय

लोक-गाथाओं की दृष्टि से भारत एक समृद्ध और सम्पन्न देश है। यहाँ के विविध प्रदेशों में विविध लोक गाथारूपी मणियाँ अपनी आभा बिखेर रही हैं। ये लोक-गाथाएँ भक्ति-नीति-शृंगार का अद्भुत महासागर है, जिसमें लोक समाज आनन्दमग्न हो गोते लगाता है। ये गाथाएँ भारतीय लोक संस्कृति और साहित्य की अनूठी निधि है जो यहाँ की परम्परा, रीति-रिवाज, मान्यताओं और विश्वास को अपने विस्तृत कलेवर में समेटे हुए है। भारत में प्रचलित प्रसिद्ध प्रमुख लोक-गाथाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

01. ढोला-मारू रा दूहा

'ढोला-मारू रा दूहा' राजस्थान का लोकप्रिय काव्य है। इसके सम्बन्ध में एक दोहा प्रचलित है –

सोरठ्यो दूहो भलो, भली मरवण री बात।
जोबन छाई धण भली, तारा छाई रात॥

यह राजा नल के पुत्र ढोला और राजा पिंगल की पुत्री मारवणी की प्रेमगाथा है। पूंगल में अकाल पड़ने पर राजा पिंगल परिवार सहित नरवर प्रान्त में जाता है। जहाँ मारवणी और ढोला का बालविवाह कर दिया जाता है। सुकाल होने पर राजा पिंगल अपने प्रान्त लौट जाता है। वयस्क होने पर ढोला का विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी से हो जाता है। ढोला अपने बालविवाह की बात से अनभिज्ञ रहता है किन्तु मालवणी को इसका ज्ञान हो जाता है। उधर मारवणी युवा होती है और स्वप्न में अपने प्रिय की छवि देखती है तब विरहाकुल होकर ढोला

के पास अपने प्रेम-सन्देश भेजती है। उसके सन्देश-वाहकों को मालवणी धोखे से मरवा देती है। अन्ततः मारवणी ढाढ़ियों (माँगणहार) के साथ अपना सन्देश भेजती है, जो सन्देश-सम्प्रेषण करने में सफल होते हैं। मारवणी का प्रेम-सन्देश सुनकर ढोला तत्काल उससे मिलने पहुँचता है और उसे लेकर नरवर लौटता है। मार्ग में उसकी भेंट प्रतिनायक उमर सूमरा से होती है। मारवणी की सूझबूझ से वे वहाँ से बच निकलते हैं। नरवर पहुँचकर वे आनन्द से जीवन व्ययतीत करते हैं।

02. भरथरी की गाथा

भरथरी की गाथा भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में प्रचलित है। भरथरी उज्जैन के राजा थे। इनके बारे में प्रचलित कहानियाँ अलग-अलग रूपों में मिलती है। एक कथा के अनुसार भरथरी की पत्नी पिंगला पर-पुरुष से प्रेम करती थी जिससे व्यथित होकर भरथरी वैरागी हो गए। वहीं दूसरी कथा में भरथरी मृग्या के लिए वन में जाते हैं और एक हिरण का शिकार करने पर मादा हिरण से शापित होते हैं। तब वे गुरु गोरखनाथ से हिरण को पुनर्जीवित करने की विनती करते हैं। गुरु के पुण्य-प्रभाव से हिरण जीवित हो जाता है। तब वे गुरु गोरखनाथ के शिष्य बन जाते हैं। आगे की कथा में उनका गुरु-आज्ञा से पिंगला से शिक्षा लेने जाना, उसे माता कह कर पुकारना और पिंगला के विलाप का वर्णन मिलता है।

इसी गाथा के एक अन्य रूप में भरथरी पिंगला के सत् की परीक्षा लेने के लिए अपनी मृत्यु का सन्देश भेजते हैं जिसे सुनकर पिंगला देह त्याग देती है। तब वे गुरु गोरखनाथ सेपिंगला के लिए जीवन-दान माँगते हैं और स्वयं राजपाठ छोड़कर उनके शिष्य बन जाते हैं।

03. लोरिकायन

लोरिकायन भोजपुरी की सर्वाधिक प्रसिद्ध लोक गाथा है। इसका नायक लोरिक है, उसी के नाम पर इस गाथा को 'लोरिकायन' कहा जाता है जिसमें वीर लोरिक के जीवन-प्रसंगों का चित्रण किया गया है। अगोरी नामक राज्य में मेहरा नाम का अहीर रहता था जिसकी सातवीं संतान मंजरी थी। मंजरी अत्यन्त रूपवती थी। अगोरी के राजा मोलागत की उस पर बुरी नजर पड़ती है। वह उसे अपने महल में ले जाने का दबाव डालता है। इस दौरान मेहरा मंजरी का विवाह लोरिक नामक बहादुर, बलशाली वीर अहीर के साथ तय कर देता है। लोरिक बरात लेकर आता है तब राजा मोलागत विशाल सेना के साथ उसे रोकने का प्रयास करता है। भयंकर युद्ध के बाद लोरिक विजयी होता है। इस युद्ध के प्रतीक-चिह्न आज भी अगोरी किले के आस-पास मौजूद हैं। विजयी लोरिक मंजरी को विदा कर ले जाता है तब मंजरी कहती है कि वह कुछ ऐसा करे कि लोग उनके प्यार को सदैव याद रखें। तब मंजरी के कहने पर ही लोरिक अपनी तलवार से विशाल शिलाखण्ड को एक वार में दो भागों में विभक्त कर देता है। उनके प्रेम का प्रतीक यह शिलाखण्ड आज भी राबर्ट्सगंज से शक्तिनगर मुख्य मार्ग पर छह किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

04. नल-दमयन्ती

नल-दमयन्ती की कथा सर्वप्रथम महाभारत में उपलब्ध होती है जो आगे चलकर लोकवाणी में अपना स्थान बनाकर अलग-अलग प्रदेशों में थोड़े-बहुत अन्तर के साथ मिलती है। इसका कथानक इस प्रकार है – राजा नल एक सदाचारी और प्रतापी राजा थे। एक बार दुर्भाग्यवश कलि ने उनमें प्रवेश कर लिया परिणामस्वरूप उनकी मति भ्रष्ट हो गई। उन्होंने अपने भाई पुष्कर के साथ जुआ खेला और अपना राज-पाट हार गए। तब उन्होंने अपनी पत्नी के साथ वन की ओर प्रस्थान किया। एक रात आत्म-ग्लानि के कारण वे दमयन्ती को सोयी हुई छोड़कर चले जाते हैं। प्रातः नल को न पाकर दमयन्ती विलाप करती है और विकट परिस्थितियों का सामना करते हुए अपने पिता विदर्भ-नरेश भीम के पास पहुँचती है। दूसरी तरफ नल अग्नि से घिरे नाग की रक्षा करता है जिससे नाग उसे डस कर अपने विष के प्रभाव से कलि का नाश कर देता है। विविध घटनाक्रमों के साथ कथा आगे बढ़ती है और नल-दमयन्ती का पुनर्मिलन होता है। नल अपने भाई के साथ पुनः जुआ खेलता है और विजयी हो अपना राज-पाट पुनः प्राप्त कर लेता है।

05. लैला-मझनूँ

फ़ारसी की अत्यन्त लोकप्रिय कथा को आधार बना कर रची गई यह गाथा फ़ारसी में दुखान्त रूप में मिलती है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित यह गाथा दुखान्त-सुखान्त दोनों रूपों में उपलब्ध होती है। उनमें युग-परिवेश और धार्मिक मान्यताओं के प्रभावस्वरूप कतिपय परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं।

अरब के राजा का पुत्र कैस और नगर-व्यापारी की पुत्री लैला एक ही मदरसे में पढ़ते हैं। साहचर्य से उन्हें परस्पर प्रेम हो जाता है। उनकी प्रेम कहानी पूरे नगर की चर्चा का विषय बन जाती है तब लैला की पढ़ाई बन्द करवा दी जाती है। विरह में व्याकुल कैस विक्षिप्त हो जाता है और लोग उसे मजनूँ कहकर चिढ़ाते हैं। उसका पिता नगर सेठ के पास लैला के लिए विवाह-प्रस्ताव भेजता है जिसे नगर सेठ ठुकरा देता है। एक दिन लैला स्वप्न में मजनूँ की मृत्यु देखकर अपनी माता से विनती करती है कि उसे एक बार मजनूँ से मिलने दें। उसकी दारुण दशा से माँ का हृदय पसीज जाता है। वह मजनूँ को बुलवाती है। उसके आने से पहले ही लैला काल का ग्रास बन जाती है। उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर मजनूँ भी प्राण त्याग देता है।

06. हीर-राँझा

पंजाब की सुप्रसिद्धलोक गाथा 'हीर-राँझा' भारत के विभिन्न प्रदेशों में उतने ही चाव से कही-सुनी जाती है जितनी कि पंजाब में। यह गाथा सुखान्त और दुखान्त दोनों रूपों में उपलब्ध होती है। चिनाब नदी के किनारे बसे नगर के चौधरी मौजम के चार पुत्र थे जिनमें राँझा सबसे छोटा, तेजस्वी और रूपवान् था। वह अपने पिता का चहेता था किन्तु उनकी मृत्यु के बाद भाई-भाभी के दुर्व्यवहार से दुखी होकर वह घर छोड़कर चला जाता है। पंच पीरों के प्रभाव से वह हीर के घर पहुँचता है। वहाँ चरवाहे की नौकरी करता है। हीर-राँझा परस्पर प्रेम करने लगते हैं तो हीर का पिता चूचक उसका विवाह शाहबाज ख़ाँ से करवा देता है। विदाई के समय हीर की जिद मानकर

दहेज के साथ राँझा को भी उसके साथ भेज देता है। जहाँ हीर की ननद के सहयोग से वह हीर को लेकर भाग जाता है किन्तु पकड़े जाने पर काजी उसे दण्डित करने के लिए कोड़े लगवाता है तभी वहाँ भीषण आग लग जाती है जिसे लोग सच्चे प्रेमियों पर किये गए अन्याय के कारण दैवीय प्रकोप मानते हैं। तब राँझा प्रार्थना करता है। अग्नि शान्त होती है और काजी राँझा को हीर सौंप देता है। इस प्रकार दोनों प्रेमियों का मिलन होता है।

07. सोहनी-महीवाल

सिन्ध और पंजाब की अत्यन्त प्रसिद्ध दुखान्त लोक गाथा का कथानक इस प्रकार है – सिन्धु नदी के किनारे पर तुला नाम का एक कुम्हार रहता था जिसकी बेटी सोहनी बर्तनों पर सुन्दर चित्रकारी करती थी। एक दिन उजबेकिस्तान का धनी व्यापारी इज्जत बेग वहाँ आता है और सोहनी पर आसक्त हो जाता है। वह महीवाल नाम से उसके घर भैंस चराने की नौकरी करने लगता है। दोनों के प्रेम-सम्बन्धों का पता चलने पर तुला सोहनी का विवाह कर देता है। सोहनी के विवाहोपरान्त भी महीवाल रोजाना नदी पार कर सोहनी से मिलने जाता है। एक बार महीवाल के बीमार होने पर सोहनी पक्के घड़े की मदद से नदी पार कर उससे मिलने जाने लगती है। उसकी ननद पक्के घड़े के स्थान पर कच्चा घड़ा रख देती है जिससे सोहनी नदी में डूबने लगती है। महीवाल उसे बचाने के लिए नदी में कूद पड़ता है लेकिन वह उसे बचा नहीं पाता और दोनों प्रेमियों की डूबने से मृत्यु हो जाती है।

08. बगड़ावत

राजस्थान में प्रचलित लोक-गाथाओं में बगड़ावत का विशिष्ट स्थान है। इसमें मूल कथानक के साथ अनेक चमत्कारी-अलौकिक अन्तर्कथाओं का समावेश है जिससे गाथा का कलेवर बहुत बृहत् हो गया है। इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है – लीलाखेड़ी गाँव में नरभक्षी बाघ का आतंक था जिसे वीर क्षत्रिय हरिसिंह ने मार गिराया। प्रमाणस्वरूप वह बाघ का सिर लेकर गाँव लौट रहा था तभी उसे प्यास लगती है। वह तालाब पर जाता है जहाँ उसकी नजर स्नान कर रही ब्राह्मण कन्या पर पड़ती है। उसकी दृष्टि के प्रभाव से वह गर्भवती हो जाती है और उचित समय आने पर पुत्र को जन्म देती है। नवजात शिशु का धड़ मनुष्य का और सिर बाघ का होता है अतः उसका नाम बाघा रखा जाता है। उसके विचित्र रूप के कारण परिवार के लोग उसे अशुभ मानकर वन में छोड़ आते हैं। एक बार गाँव की 24 कन्याएँ वहाँ झूला-झूलने आती हैं, तब बाघा उन्हें अपनी परिक्रमा लगाने की शर्त पर झूला झूलने देता है। युवा होने पर उन कन्याओं का विवाह नहीं हो पाता तब उनके द्वारा ली गई बाघा की परिक्रमा का सच उजागर होता है। परिणामस्वरूप इन कन्याओं का विवाह बाघा से कर दिया जाता है और उन्हीं से 24 बगड़ावतों का जन्म होता है।

बगड़ावतों में प्रमुख भाइयों के नाम – सवाई, भोज, तेजा आदि हैं। ये अपनी आजीविका के लिए गाय चराते हैं। एक दिन भोज ने देखा कि एक गाय रोजाना उसकी गायों के साथ चरने आ जाती है। तब वह चराई लेने के लिए उस गाय के पीछे जाता है। वह गाय एक योगी की होती है। योगी उसे उबलते तेल के कड़ाह के चक्कर लगाने को कहता है। भोज योगी की बुरी मंशा को जानकर चतुराई से योगी को ही कड़ाह में डाल देता है। उसके

बुद्धि-चातुर्य से प्रसन्न होकर शिवजी उसे 'बारह बरस काया, बारह बरस माया' का वर देते हैं। शिव-कृपा से बगड़ावत श्रीसम्पन्न हो जाते हैं। यौवन, शक्ति और सम्पत्ति से सम्पन्न होने से वे विवेकहीन हो जाते हैं। उनके कुकृत्यों से देवता कुपित होते हैं और देवी उनके अन्त का बीड़ा उठाती है। विभिन्न नाटकीय प्रसंगों के बाद बगड़ावत युद्ध में शहीद हो जाते हैं।

09. आल्हा

मूलतः बुंदेली की वीरगाथा आल्हा सम्पूर्ण उत्तरभारत में अत्यन्त लोकप्रिय है। यह 12वीं शती के चन्देल शासक परमाल के वीर सामन्त आल्हा-ऊदल की कथा है। आल्हा-ऊदल के पिता दसराज की वीरगति होने पर राजा परमाल और रानी मल्हना आल्हा-ऊदल का पालन-पोषण करते हैं। दोनों भाई अपने शौर्य-पराक्रम से परमाल के साम्राज्य-विस्तार में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं और अपनी वीरता से चर्चित हो जाते हैं। उनकी प्रशंसा से उरई नरेश माहिल को ईर्ष्या होती है। वह परमाल से झूठी शिकायत कर उन्हें देश-निकाला दिलवा देता है। तब आल्हा-ऊदल गहरवार में जयचन्द के यहाँ आश्रय लेते हैं। इतने पर भी माहिल को संतुष्टि नहीं होती और वह दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान को महोबा पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करता है। पृथ्वीराज महोबा पर आक्रमण करता है तो रानी मल्हना कवि जगनिक को आल्हा को लौटने का सन्देश देकर भेजती है। माँ देवल के दबाव और कवि जगनिक के वाक्चातुर्य से वे कन्नौज लौटते हैं जहाँ पृथ्वीराज से युद्ध करते हुए ऊदल की मृत्यु हो जाती है। आल्हा गुरु गोरखनाथ की प्रेरणा से पृथ्वीराज को प्राणदान देकर तपस्या के लिए वन को चला जाता है। बुंदेलखंड में घनघोर वर्षा के दिनों में आल्हा का गायन किया जाता है –

भरी दुपहरी सरवन गाइये, सोरठ गाइये आधी रात।
आल्हा पवाड़ा वा दिन गाइये, जा दिन झड़ी लगे दिन रात॥

10. हरदौल

हरदौल की गाथा एक ऐतिहासिक गाथा है। जिसमें देवर-भाभी के पवित्र प्रेम की अद्‌भुत झलक मिलती है। इस गाथा का सम्बन्ध मध्यप्रदेश के ओरछा राज्य से है किन्तु यह अन्य प्रदेशों में भी विशेषकर उत्तरप्रदेश में बड़े मान-सम्मान के साथ गायी जाती है। ओरछा के राजा वीरसिंह की मृत्यु के बाद बड़ा बेटा जुझारसिंह राजा बना और उसका विवाह चम्पावती से हुआ। छोटे बेटे हरदौल ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। उसका अपनी भाभी से विशेष लगाव था। वह उन्हें माँ के समान मानता था और भाभी भी उससे पुत्रवत् स्नेह करती थी। एक बार शाहजहाँ ने जुझारसिंह को दिल्ली आमन्त्रित किया और उसके दिल्ली आने पर मुगल सेना ने ओरछा पर आक्रमण कर दिया। हरदौल ने वीरता के साथ उसका सामना किया और विजयश्री प्राप्त की। हार से बौखलाया शाहजहाँ जुझारसिंह को रानी चम्पावती और हरदौल के स्नेह-सम्बन्धों के बारे में गलत ढंग से भड़काता है। जुझारसिंह रानी चम्पावती को अपने सत् की परीक्षा देने के लिए हरदौल के भोजन में विष मिलाने का आदेश देता

है। रानी भोजन में विष मिलाती है और हरदौल को भी बताती है। भाभी का सत् रखने के लिए हरदौल विषयुक्त भोजन ग्रहण कर अपने प्राण त्याग देता है।

11. पाबूजी री पड़

'पाबूजी री पड़' वीर और धर्मरक्षक पाबूजी की गाथा है। राजस्थान में इनका बहुत आदर किया जाता है। इसका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है – पाबूजी राठौड़ कोल्हुगढ़ के रहने वाले थे। उनकी धर्मबहन देवल चारण के पास अत्यन्त सुन्दर और सर्वगुणसम्पन्न 'केसर कालवी' नाम की घोड़ी थी। देवल केसर की सहायता से अपने गौ-धन की रक्षा करती थी। पाबूजी का विवाह अमरकोट की सोढ़ी राजकुमारी के साथ तय होता है तब वे वर-यात्रा के लिए देवल से केसर को माँगते हैं। इस पर देवल चिन्तित हो जाती है कि केसर के बिना वह अपनी गायों की रक्षा कैसे करेगी ? इस पर पाबूजी उसे वचन देते हैं कि यदि तुम्हारी गायों पर संकट आया तो मैं स्वयं आकर उनकी रक्षा करूँगा। देवल अपनी घोड़ी पाबूजी को दे देती है। पाबूजी को फेरों के बीच सन्देश मिलता है कि देवल की गायों को जिंद राव खींची घेर कर ले जा रहा है। पाबूजी फेरे बीच में ही छोड़ जिंद राव खींची के समक्ष जा पहुँचते हैं और दोनों के मध्य भयंकर युद्ध होता है। गायों की रक्षा करते हुए पाबूजी शहीद हो जाते हैं और उनकी अर्द्धविवाहिता सोढ़ी भी उनके साथ सती हो जाती है।

12. वीर तेजा

वीर तेजाजी को राजस्थानी लोक समाज देवता रूप में स्वीकार करता है। आज भी भाद्रपद की शुक्ल दशमी को उनकी पूजा की जाती है। खरनाल गाँव में तेजा नाम का युवा जाट किसान रहता था जो कठोर परिश्रमी, उदारहृदय और धर्मपरायण था। तेजा का विवाह बाल्यकाल में हो जाता है किन्तु गौना नहीं होता। युवा होने पर भाभी के तानों से व्यथित होकर वह अपनी पत्नी सुन्दर को लेने ससुराल जाता है। जहाँ अज्ञानतावश उनकी सास कटु शब्द कह देती है जिससे आहत होकर वह पुनः लौटने लगता है। जब ससुराल पक्ष को उनके जाने की सूचना मिलती है तो वे उन्हें मनाने जाते हैं। स्वाभिमानी तेजा ससुराल में रहने से मना कर देता है और लाँछा गूजरी के यहाँ ठहरता है। रात्रि में कुछ डाकू लाँछा की गायों को घेर कर ले जाते हैं। गूजरी का करुण क्रन्दन सुन तेजाजी उन्हें वापस लाने जाते हैं। मार्ग में अग्नि में जलते साँप की रक्षा करते हैं किन्तु साँप उन्हें डसना चाहता है। वे उसे कहते हैं कि अभी मैं गायों की रक्षार्थ जा रहा हूँ, लौटने पर मुझे डस लेना। तेजाजी और डाकुओं में भयंकर मुठभेड़ होती है जिससे तेजाजी का शरीर लहूलुहान हो जाता है। गायें गूजरी को लौटाकर वे साँप के पास जाते हैं तो वह कहता है कि तुम्हारी सम्पूर्ण देह रक्त-रंजित है, मैं कहाँ डसूँ ? तेजाजी उसे अपनी जिह्वा पर डसने के लिए कहते हैं। साँप तेजाजी की जिह्वा पर डस लेता है और तेजाजी की मृत्यु हो जाती है। उनकी पत्नी भी उनके साथ सती हो जाती है।

3.2.09 पाठ-सार

लोक गाथा लोक-साहित्य की अत्यन्त प्रसिद्ध विधा है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में इसे विभिन्न नामों, यथा – कथा गीत, गीत कथा, पवाड़ा आदि के नाम से जाना जाता है। लोक गाथा में लोक तत्त्व, गेयता और कथात्मकता समाहित होती है। वीरता, धार्मिकता, प्रेम की भावनाओं से युक्त ये गाथाएँ लोक समाज को विविध रसों का आस्वादन कराती हैं। ये लोक-गाथाएँ अज्ञात रचयिता और रचनाकाल, प्रामाणिक मूल पाठ का अभाव, गीत-संगीत और नृत्य का सुन्दर समन्वय, आंचलिकता, मौखिक परम्परा, आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति, संदिग्ध ऐतिहासिकता जैसी अनेक विशेषताओं से युक्त होती हैं। ये लोक समाज को आनन्द की अनुभूति कराती हैं और जीवन में उल्लास का संचार करती हैं।

लोक-गाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु सभी सिद्धान्तों को समेकित कर डॉ० उपाध्याय ने समन्वयवाद का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, वह सर्वमान्य माना जा सकता है। भारत में लोक-गाथाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है। ये गाथाएँ निरन्तर विकसित होती रहीं। प्रत्येक प्रदेश में लोक-प्रसिद्ध गाथाओं का समृद्ध भण्डार उपलब्ध है। लोक गाथाओं के वाचन-श्रवण की परम्परा प्राचीन है। इनके प्रस्तुतीकरण के लिए देशकाल, जनमानस की उत्सुकता, मंच, वाद्य-यंत्र आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है। गाथाकार अपनी विलक्षण बुद्धि, चातुर्य और परम्परागत शैली में सुन्दर तालमेल रखते हुए गाथा प्रस्तुत करता है तब दर्शकों-श्रोताओं को अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती है।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित गाथाएँ भक्ति-नीति-शृंगार के भावों को लेकर चलती हैं। यहाँ प्रचलित गाथाएँ सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब हैं। यह एक ऐसी मनोरंजक, आह्लादक, प्रेरक लोकविधा है जो लोक मानस को लोक-हितकारी चरित्रों के विषय में जानने का सौभाग्य प्रदान करती हैं। एक ही गाथा एक से अधिक प्रदेशों में कही-सुनी जाती है किन्तु क्षेत्र-विशेष में पहुँचकर वह गाथा वहाँ के आंचलिक रंग में रंग जाती है। ये गाथाएँ श्रोताओं के समक्ष आदर्श चरित्रों का चित्रण करती हैं और इस प्रकार लोक समाज को आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करती हैं। ये लोक-गाथाएँ सुखान्त और दुखान्त दोनों रूपों में उपलब्ध होती हैं। कहा जा सकता है कि लोक-गाथाओं की दृष्टि से भारत एक अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न देश है। यहाँ के विविध प्रदेशों में विविध लोक गाथारूपी मणियाँ अपनी आभा बिखेर रही हैं।

3.2.10 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गाथा शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसे परिभाषित कीजिए।
2. लोक गाथा में 'आंचलिक रंग' से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
3. प्रो० गूमर द्वारा प्रस्तुत गाथा का श्रेणी-विभाजन बताइए।

4. लोक समाज में प्रचलित किन्हीं पाँच गाथाओं के नाम लिखिए।
5. गाथा के प्रस्तुतीकरण में वाद्य-यंत्रों की महत्ता को स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोक गाथा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. लोक गाथा की प्रस्तुति में आवश्यक तत्त्वों को विस्तार से समझाइए।
3. लोक गाथा की उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हुए बताइए कि आप किस सिद्धान्त से सहमत हैं और क्यों ?
4. आपके प्रदेश में प्रचलित लोक-गाथाओं के नाम बताइए और किसी एक गाथा के कथानक और विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

3.2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. कल्ला, नन्दलाल (2014), हिन्दीं का प्रादेशिक लोक-साहित्य शास्त्र, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थागार, ISBN : 978-81-86103-04-3.
2. सोलंकी, सुषमा (2011), लोक-साहित्य में मरु-गुर्जर प्रदेश के प्रेमाख्यान, जोधपुर, राजस्थानी ग्रन्थागार, ISBN : 978-81-86103-48-7.
3. शर्मा, श्री राम (1981), लोक-साहित्य : सिद्धान्त और प्रयोग, आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर।
4. सांकृत्यायन, राहुल एवं उपाध्याय, डॉ॰ कृष्णदेव (सं.) (सं. 2017 वि.), हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : षोडश भाग, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 2

इकाई – 3 : प्रकीर्ण साहित्य : लोकोक्ति – परम्परा, उद्भव और विकास, लक्षण, परिभाषा एवं वर्गीकरण, मुहावरे – मुहावरों और लोकोक्तियों का अन्तर, मुहावरों के प्रकार, लोकोक्तियों और मुहावरों में लोक संस्कृति का प्रतिबिम्ब, पहेलियाँ – उद्भव और विकास, परम्परा, वर्गीकरण, लघुगीत

इकाई की रूपरेखा

3.3.0 उद्देश्य कथन
3.3.1 प्रस्तावना
3.3.2 लोकोक्ति
3.3.2.1 लोकोक्तियों की परम्परा
3.3.2.2 लोकोक्तियों का उद्भव और विकास
3.3.2.3 लोकोक्ति के लक्षण
3.3.2.4 लोकोक्ति की परिभाषा
3.3.2.5 लोकोक्तियों का वर्गीकरण
3.3.3 मुहावरे
3.3.3.1 मुहावरों और लोकोक्तियों का अन्तर
3.3.3.2 मुहावरों के प्रकार
3.3.3.3 लोकोक्तियों और मुहावरों में लोक संस्कृति का प्रतिबिम्ब
3.3.4 पहेलियाँ
3.3.4.1 पहेलियों का उद्भव और विकास
3.3.4.2 पहेलियों की परम्परा
3.3.4.3 पहेलियों का वर्गीकरण
3.3.5 लघुगीत
3.3.6 पाठ-सार
3.3.7 बोध प्रश्न
3.3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.3.0 उद्देश्य कथन

लोक कथा, लोक गाथा, लोक गीत महत्त्वपूर्ण विधाएँ हैं किन्तु लोक-साहित्य में उपलब्ध लघुरूप विधाओं का महत्त्व भी नकारा नहीं जा सकता है । प्रस्तुत पाठ लोक-साहित्य में प्रचलित प्रकीर्ण साहित्य पर केन्द्रित है । इस पाठ में आप इन्हीं विधाओं का परिचय प्राप्त करेंगे । प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. लोकोक्ति की परम्परा, उद्भव और विकास, लक्षण, परिभाषा और वर्गीकरण को जान सकेंगे ।
ii. मुहावरे-लोकोक्ति का अन्तर, मुहावरों के प्रकार और इनमें प्रतिबिम्बित लोक-संस्कृति को समझ सकेंगे।
iii. पहेली के उद्भव, विकास, परम्पररा और वर्गीकरण को जान सकेंगे।
iv. लोक समाज में प्रचलित लघुगीतों से अवगत हो सकेंगे।

3.3.1 प्रस्तावना

पूर्व पाठों के अध्ययन से स्पष्ट है कि लोक समाज में वाचिक परम्परा से प्राप्त लोक कथा, गाथा, गीत, नाट्य आदि प्रमुख विधाओं के माध्यम से लोक-संस्कृति का निरन्तर संचार होता है। इन विधाओं में लोकजीवन का हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, आशा-विश्वास, श्रद्धा-भक्ति आदि भावों का सहज समावेश होता है। इन विधाओं के अतिरिक्त वाचिक परम्परा में लोकोक्ति, मुहावरे, पहेलियाँ, लोरियाँ, खेलगीत आदि लघुरूप विधाएँ भी विद्यमान हैं। प्रस्तुत पाठ में आप इन विधाओं का अध्ययन प्रकीर्ण साहित्य के अन्तर्गत करेंगे। डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय ने 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : षोडश भाग' में इन विधाओं को लोक सुभाषित की संज्ञा दी है। उन्होंने इस नामकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है – "संस्कृत में सुन्दर तथा काव्यमयी उक्तियों को सुभाषित कहते हैं। अतः जिस उक्ति में कुछ चमत्कार हो वह सुभाषित के अन्तर्गत आ सकती है। साधारण जनता अपने दैनिक व्यवहार में कहावतों और मुहावरों का प्रयोग करती है। मनोरंजन के लिए पहेलियाँ भी बुझाई जाती हैं। माताएँ अपने बच्चों को सुलाते हुए गीत और लोरियाँ गाती हैं। वहीं बच्चे खेलते समय खेलगीत गाते हैं। ये सभी विधाएँ अपने लघु आकार के आधार पर लोक सुभाषित के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं।"

3.3.2 लोकोक्ति

सामान्यतः लोकोक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'लोक + उक्ति' से मानी जा सकती है। इसके अनुसार लोक की उक्ति ही लोकोक्ति है। इस शब्द के व्यापक अर्थ को ग्रहण करने पर लोक (जनसाधारण) के चमत्कारपूर्ण प्रत्येक कथन को लोकोक्ति कहा जा सकता है किन्तु प्रकीर्ण साहित्य के अन्तर्गत लोकोक्ति शब्द कहावतों के अर्थ में रूढ़ हो गया है। लोकोक्तियों का प्रचलन संसार की सभी सभ्यताओं में मिलता है। ये लोक-साहित्य की सशक्त विधा है जिसमें लोकाभिव्यक्ति के लिए अभिव्यंजना कौशल, उक्ति-वैचित्र्य और सूत्र शैली का प्रयोग किया जाता है। ये प्रायः अभिधात्मक न होकर लक्षणात्मक और व्यंजनात्मक होती हैं। अतः इनमें 'गागर में सागर' नहीं वरन् 'बिन्दु में सिन्धु' की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इन लोकोक्तियों के लघु आकार में चिरसंचित अनुभवजन्य ज्ञान-राशि के साथ ही संस्कृति के तत्त्व, पौराणिक कथाओं के स्वरूप और ऐतिहासिक घटनाओं का भी समावेश रहता है। इस प्रकार लोकोक्ति अपने लघु आकार में भी एक विशाल राष्ट्र, सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप को प्रतिबिम्बित करने की अद्भुत क्षमता रखती है।

3.3.2.1 लोकोक्तियों की परम्परा

लोकोक्तियों की परम्परा लोक कथा और लोक गाथा की ही भाँति अत्यन्त प्राचीन है। इनके प्रारम्भ के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जब मनुष्य ने अपनी बात को क्षीण होते देखा होगा तभी किसी कहावती वाक्य या उक्ति को पुष्टि के लिए कहा होगा। इस प्रकार अपनी बात की पुष्टि के लिए लोकोक्तियों के प्रयोग की परम्परा का विकास हुआ होगा। भारत के प्राचीनतम लिखित साहित्य वेदों में लोकोक्तियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे –

"सत्यस्य नाव: सुकृतमयी परन।"

अर्थात् धर्मात्मा को सत्य की नाव पार लगाती है।

*　　*　　*

"माता भूमि: पुत्रोहम् पृथिव्या।"

अर्थात् भूमि मेरी माता है, मैं उस भूमि का पुत्र हूँ।

*　　*　　*

"चक्षुवे सत्यम्।"

अर्थात् आँखों देखा ही सत्य होता है।

इसी प्रकार पुराणों और उपनिषदों में भी अनेक लोकोक्तियों का प्रयोग किया गया है जो तत्कालीन समाज के ज्ञान और रीति-नीति पर प्रकाश डालती है। रामायण और महाभारत में भी लोकोक्तियों की प्रचुरता पाई जाती है। वहीं पंचतंत्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थों में नीति-सम्बन्धी विचारों की पुष्टि के लिए इनका प्रयोग किया गया है। 'प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता' लिखने वाले महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में भी कहावतों को पर्याप्त स्थान मिला है। कवि माघ, श्रीहर्ष आदि ने अपने काव्य में लोकोक्ति का प्रयोग प्रचुरता से किया है। हिन्दी के कवियों कबीर, सूर, बिहारी, रहीम आदि ने अपने काव्य में लोकोक्तियों का प्रयोग कर लोकोक्ति-साहित्य की श्री-वृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में लोकोक्ति परम्परा अत्यन्त प्राचीन है किन्तु इनकी मौखिक परम्परा उससे भी अधिक प्राचीन कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में कहें तो मानव के सोचने-समझने की क्षमता के उदय के साथ ही लोकोक्तियों का भी जन्म हुआ होगा जो वर्तमान में भी निरन्तर प्रचारित और प्रसारित हो रही है।

3.3.2.2 लोकोक्तियों का उद्‌भव और विकास

लोकोक्तियों की रचना जीवन की वास्तविक घटनाओं और मनुष्य की निरीक्षण क्षमता पर आधारित होती है। इनकी उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुई ? इस सन्दर्भ में कुछ भी निश्चित तौर पर कह पाना कठिन है। डॉ॰ कन्हैयालाल के शब्दों में कहा जा सकता है कि "लोकोक्तियाँ जन-समुद्र के बिखरे हुए रत्न हैं। किसने ये रत्न बिखेरे ! इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु बहुत सम्भव है कि कहावतों का प्रथम उत्स मनुष्य के मन में तभी उत्सारित हुआ होगा जब उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति अपने सरस वेग के साथ सहज भाषा में निस्सृत हुई होगी।" लोकोक्ति-कोश में लोकोक्ति के उद्‌भव के तीन प्रमुख कारण वर्णित किये गए हैं – "कुछ लोकोक्तियाँ घटना-विशेष से उत्पन्न होती हैं, कुछ इतिहास-विशेष के संस्कार से निकलती हैं और कुछ नित्य के व्यवहार से।" उक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने 'प्राज्ञ वचन' को भी लोकोक्ति की उत्पत्ति के कारणों में स्वीकार किया है। घटना-विशेष से उत्पन्न लोकोक्तियों के उदाहरण इस प्रकार हैं –

मन चंगा तो कठौती में गंगा।

* * *

करम को लेख नाय मिटे।

* * *

पर तिरिया की प्रीति, और सूली कौ चढ़िबौं।

* * *

जान अजाई जाति ऐ, औ बेकर कौ मरिबौ।

उक्त लोकोक्तियों के मूल में अवश्य ही कोई घटना या कथा रही है किन्तु समय बीतने के साथ कहानी या घटना विस्मृत हो गई जबकि सम्बन्धित लोकोक्ति लोकप्रसिद्ध होकर आज भी समान अवसरों पर लोकव्यवहार में प्रयुक्त की जाती है। इतिहास-विशेष के संस्कार से उत्पन्न लोकोक्तियों में ऐतिहासिक घटना पर आधारित उक्तियाँ इस प्रकार हैं –

अंग्रेजी राज, पहिरबे कूँ कपड़ा न खाइबे कूँ अनाज।

* * *

मालै मारै गोरिदा, भूखे मरै किसान।

उक्त लोकोक्तियाँ अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय जनता की दुर्दशा को प्रकट करती हैं। लोकोक्ति की उत्पत्ति का मूल आधार दैनिक अनुभव ही है। एक ही अनुभव बार-बार देखने को मिलता है तब लोक-कण्ठ से किसी उक्ति का जन्म स्वाभाविक है। यही उक्ति लोकप्रसिद्ध हो लोकोक्ति बन जाती है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

अधजल गगरी छलकत जाय।

* * *

सौ दवा की एक दवा प्रातै घूमै और खावै हवा।

'प्राज्ञ वचन' से तात्पर्य किसी विद्वान् के द्वारा प्रयुक्त उस सूक्ति से है, जो जनसाधारण में प्रिय और प्रसिद्ध होकर लोकोक्ति रूप धारण कर लेती है। उदाहरणार्थ –

होइ है सोई जो राम रचि राखा।

* * *

पर उपदेश कुशल बहुतेरे।

समग्रतः कहा जा सकता है कि लोकोक्ति का निर्माण किसी व्यक्ति-विशेष ने एकान्त में बैठकर नहीं किया। यह तो जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों का ज्ञान है जो सूक्ष्म निरीक्षण और सामान्य बुद्धि के योग से संक्षिप्त और लयात्मक उक्ति के रूप में अभिव्यक्त हो गया है। समय के साथ उक्ति-निर्माता का व्यक्तित्व इतना लोकमय हो गया कि व्यक्ति-उक्ति लोकोक्ति हो गई।

3.3.2.3 लोकोक्ति के लक्षण

लोकोक्ति लोकसमाज के वाक्-चातुर्य का सशक्त प्रमाण है। इसके माध्यम से हमें लोक के अभिव्यंजना-कौशल, उक्ति-वैचित्र्य और सूत्र-शैली का सहज ही ज्ञान हो जाता है। लोकोक्तियाँ जीवन के अनुभव से उत्पन्न वह ज्ञान है जो जनसाधारण को पथ-दर्शन कराती हैं। इससे स्पष्ट है कि लोकोक्तियों का स्वरूप अत्यन्त विशद् और व्यापक है। इसके लक्षणों को विद्वज्जनों ने अपने-अपने विवेकानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है –

डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय ने 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : षोडश भाग' की प्रस्तावना में समास शैली, अनुभूति और निरीक्षण तथा सरलता को लोकोक्ति की प्रमुख विशेषताओं के रूप में स्वीकार किया है।

डॉ॰ शंकरलाल यादव ने हरियाणा प्रदेश की लोकोक्तियों के सन्दर्भ में निम्नलिखित लक्षणों का उल्लेख किया है – लाघव, सच्चाई एवं अनुभव का सत्य, घरेलू भाषा, अनाम रचयिता, लोकप्रियता एवं लोक प्रचलन।

डॉ० कृष्ण लाल हंस ने तीन लक्षणों पर प्रकाश डाला है – संक्षिप्तता, सारगर्भिता, सप्राणता।

डॉ० दक्षिणामूर्ति ने लोकोक्तियों के निम्नलिखित लक्षणों का विवेचन किया है – लघुत्व, लय या गति, तुक या अनुप्रास, निरीक्षण और अनुभूति की व्यंजना, प्रभावशीलता और लोक-रंजकता, सरल शैली।

डॉ० दक्षिणामूर्ति द्वारा प्रस्तुत लक्षणों के आधार पर लोकोक्तियों के लक्षणों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है –

1. लघुत्व :

आकारगत लघुता लोकोक्ति का प्रमुख गुण है। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने इसके लिए 'समास शैली' शब्द का प्रयोग किया है। लोकोक्ति लघु आकार होने पर भी विशाल अर्थ को समाहित किये हुए होती है। लघुता का अर्थ यह नहीं है कि सभी लोकोक्तियाँ लघु-आकार ही होती हैं। वस्तुतः इसका तात्पर्य यह है कि लोकोक्ति में कम-से-कम शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। उसमें कोई अनावश्यक शब्द नहीं होना चाहिए। इस प्रकार व्यर्थ शब्दों की अनुपस्थिति ही उनकी संक्षिप्तता का सूचक है। लोकोक्ति अपने लघुत्व के कारण ही सहज स्मरणीय बन जाती है और लोक-कण्ठ पर विराजित होती है। उदाहरणार्थ –

ऊँट के मुँह में जीरा।

* * *

करैगौ सो भरैगौ।

* * *

पहिले पेट पूजा, फिर काम दूजा।

2. लय या गति :

लोकाक्ति में प्रायः लयात्मक अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है। अपनी लय और गति के कारण ही इन्हें काव्य रूप में गठित लघु आकारीय विधा माना जाता है। लय के प्रभाव से इनमें सरसता आती है और यह सहज स्मरणीय बन जाती है। लयात्मकता से युक्त लोकोक्तियों के उदाहरण इस प्रकार हैं –

आलस नींद किसानयै खोबै, चोरयै खोबै खाँसी।
टका ब्याज वैरागीयै खोबै, राँडयै खोबै हाँसी॥

* * *

प्रेम न जानै जाति कुजाति, भूख न जानै खट्टौ भात।
नींद न जानै टूटी खाट, प्यास न जानै धोबी कौ घाट॥

3. तुक या अनुप्रास :

लोकोक्ति में लय या गति का ध्यान रखने के लिए तुक और अनुप्रास का विशेष ध्यान रखा जाता है। इससे लोकोक्ति में मात्र गेयता का गुण ही नहीं आता वरन् उसकी प्रभावक्षमता की भी वृद्धि होती है। लोकोक्ति में प्रयुक्त तुक और अनुप्रास को प्रस्तुत उदाहरणों में देखा जा सकता है –

साँच कू आँच न।

* * *

काने तै कानो कहै, कानो जायगौ रूठि।
धीरे-धीरे पूछिलै, तेरी कैसे गई है फूटि॥

4. निरीक्षण और अनुभूति की अभिव्यंजना :

लोकोक्ति मानव जीवन के गहन निरीक्षण और सूक्ष्म अनुभूति पर आधारित होती है। जनसाधारण ने जीवन के अनुभवों से जो ज्ञान प्राप्त किया उसे सूत्र रूप में अभिव्यक्त किया। ये ज्ञान-सूत्र ही लोकोक्ति हैं जो विभिन्न परिस्थितियों में पूर्व अनुभवों के आधार पर मनुष्य का मार्गदर्शन कर उसे पथ पर अग्रसर होने में सहायक होती है। गहन निरीक्षण और अनुभव पर आधारित लोकोक्तियाँ इस प्रकार हैं –

खेती, पाती, बीनती और घोड़े का संग।
अपने हाथ संभारिए, चाहे लाख लोग हो संग॥

* * *

राँड, साँड, सीढ़ी, संन्यासी।
इनसे बचे तो सेबै कासी॥

5. प्रभावशीलता और लोक-रंजकता :

अधिकांश लोकोक्तियाँ लोकरंजकता के साथ प्रभावशीलता से परिपूर्ण होती है। रंजकता से युक्त होने मात्र से वे लोकप्रिय नहीं बनती वरन् उसमें निहित अर्थ प्रभावपूर्ण होने पर ही जनमानस उसे स्वीकार करता है। इन लोकोक्तियों के उदाहरण इस प्रकार हैं –

धोबी कौ कुत्ता घर कौ न घाट कौ।

*   *   *

परदेस गए की आस नई, पत्थर ऊपर घास नई।

6. <u>सरल शैली</u> :

लोकोक्ति अत्यन्त सरल भाषा में निबद्ध होती है। इनमें जटिल तथ्यों और गूढ़ रहस्यों को सरलता और सहजता से प्रस्तुत करने की विशेष क्षमता होती है जिससे ये श्रोता के मन पर सहज ही अपना प्रभाव छोड़ती हैं। जनसाधारण की कृति होने के कारण सरलता इसकी अनूठी विशेषता होती है। यह शीघ्र ही बोधगम्य होती है। कतिपय लोकोक्तियाँ उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य हैं –

अरहर की टटिया गुजराती तारौ।

*   *   *

बारह ब्राह्मण बारह राय, बारह खाती एक ई राय।

डॉ॰ दक्षिणामूर्ति द्वारा विवेचित उक्त लक्षणों के अतिरिक्त भी लोकोक्तियों के निम्नलिखित लक्षण महत्त्वपूर्ण हैं – अनाम रचयिता, सार्वकालिक सत्य का होना, घरेलू भाषा, उपयोगिता, सर्वव्यापकता आदि। समग्रतः कहा जा सकता है कि लोकोक्तियाँ विविध लक्षणों से परिपूर्ण लोक-विरासत हैं जो जन-जन की प्रिय हैं और इसी कारण जन-जीवन में इनका प्रयोग सहज भाव से किया जाता है। इनमें ज्ञान, दर्शन और नीति की त्रिवेणी प्रवाहित होती है अतः इन्हें लोक समाज का ज्ञानकोश कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।

3.3.2.4 लोकोक्ति की परिभाषा

लोकोक्ति को विभिन्न विद्वानों ने अपने मतानुसार परिभाषित करने का प्रयास किया है। इन परिभाषाओं में लोकोक्ति की विशेषताओं को समाहित किया गया है। लोकोक्ति के स्वरूप और विशेषताओं को प्रकट करने वाली परिभाषाएँ इस प्रकार हैं –

"जीवन में व्यवहृत प्राचीनकाल के छोटे कथन।"

– जॉनसन

"जनता की भाषा में किसी सर्वमान्य सत्य को थोड़े शब्दों में प्रकट करने वाले लोक प्रचलित कथन।"

– बोरकार्ट

"अनेक का चातुर्य और एक की बुद्धि का चमत्कार। एक की सूझ जिसमें अनेक का चातुर्य सन्निहित है।"

– रसैल

"जीवन के विस्तृत प्रांगण में भिन्न-भिन्न अनुभव सर्वसाधारण जन-मानस को प्रभावित करके उसकी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित अंग को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। ये अनुभव ही लोकोक्तियाँ या कहावतें हैं।"

– डॉ॰ श्याम परमार

"लोकोक्तियाँ अनुभवसिद्ध ज्ञान की निधि हैं। मानव ने युगों-युगों में जिन तथ्यों का साक्षात्कार किया है, उनका प्रकाशन इनके माध्यम से होता है। ये चिरकालीन अनुभूत ज्ञान के सूत्र हैं।"

– डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय

"लोकोक्तियाँ मानवीय ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। जिस प्रकार अनन्तकाल तक धातुओं को तपाकर सूर्य-राशि नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती है, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है, उसी प्रकार लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है।"

– डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल

"कहावत सामान्यतः संक्षिप्त, सारगर्भित और प्रभावशाली उक्ति है, जिसमें जीवन की अनुभूतियाँ स्पष्टतः झलकती हैं और जो परिस्थिति की अनुकूलता को दृष्टि में रखकर प्रयोग में लाई जाती हैं।"

– डॉ॰ दक्षिणामूर्ति

उक्त परिभाषाएँ लोकोक्ति के स्वरूप और विशेषताओं पर प्रकाश डालती हैं। कहा जा सकता है कि लोकोक्ति का स्वरूप विशद् और व्यापक है, उसे कुछ शब्दों में समाहित करना सरल कार्य नहीं है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लोकोक्ति जनता की उक्ति है। उसमें मानव जीवन का अनुभव संचित होने के कारण उसे अनुभव की दुहिता कहा जाता है जो सर्वथा उचित है।

3.3.2.5 लोकोक्तियों का वर्गीकरण

लोकोक्तियाँ मानव जीवन के अनुभूत सत्य पर आधारित होती हैं। ये लोकजीवन के प्रत्येक पहलू को अपने में समाहित किये हुए वे संक्षिप्त कथन हैं जो अलग-अलग उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं। कहीं इनका उद्देश्य प्रयोगकर्त्ता के कथन की पुष्टि होता है तो कहीं नैतिक शिक्षा या लोक-व्यवहार

की शिक्षा देने के लिए इनका प्रयोग किया जाता है। कहीं इनका प्रयोग कटाक्ष के लिए किया जाता है तो कहीं श्रोता को सचेत करने के लिए। लोकोक्तियों के विषय, उद्देश्यादि को महत्त्व देते हुए विद्वानों ने इन्हें वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। प्रमुख विद्वानों द्वारा किये गए लोकोक्तियों के वर्गीकरण इस प्रकार हैं –

डॉ॰ कन्हैयालाल सहल का वर्गीकरण –

1. ऐतिहासिक कहावतें
2. स्थान सम्बन्धी कहावतें
3. समाज-चित्रण सम्बन्धी कहावतें
4. शिक्षा-ज्ञान और साहित्यिक कहावतें
5. धर्म और जीवन-दर्शन सम्बन्धी कहावतें
6. कृषि सम्बन्धी कहावतें
7. वर्षा सम्बन्धी कहावतें
8. प्रकीर्ण कहावतें

डॉ॰ शंकरलाल यादव का वर्गीकरण –

1. जातिपरक
2. देश या स्थानपरक
3. इतिहासपरक
4. कृषिपरक
5. नीतिगर्भित
6. व्यंग्यात्मक

डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय का वर्गीकरण –

1. स्थान सम्बन्धी लोकोक्तियाँ
2. जाति सम्बन्धी लोकोक्तियाँ
3. प्रकृति तथा कृषि सम्बन्धी लोकोक्तियाँ
4. पशु-पक्षी सम्बन्धी लोकोक्तियाँ
5. प्रकीर्ण लोकोक्तियाँ

यद्यपि विद्वानों ने लोकोक्तियों का वर्गीकृत करने का प्रयास किया है किन्तु यह वर्गीकरण वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित नहीं है। एक ही लोकोक्ति में एक से अधिक सम्बद्ध विषय या उद्देश्य पाए जा सकते हैं तब वह

लोकोक्ति वर्ग-विशेष में नहीं वरन् एक से अधिक वर्गों में स्वीकार्य होगी। इस प्रकार लोकोक्ति का वर्गीकरण उसे वर्ग के बाँटने के लिए नहीं वरन् उनके अध्ययन को सुगम बनाने का प्रयास भर है।

3.3.3 मुहावरे

मुहावरे का शाब्दिक अर्थ है, 'मुँह पर चढ़ा हुआ' अर्थात् मौखिक परम्परा में प्रचलित। यह मूलतः अरबी का शब्द है जिसका अर्थ है, बातचीत करना और उत्तर देना। परन्तु आजकल भाषा में प्रयुक्त होने वाले कथन-बंध को मुहावरा कहा जाता है। संस्कृत में इसका कोई समानार्थक शब्द नहीं पाया जाता है। कुछ विद्वानों ने इसके लिए वाक्-रीति, वाग्धारा, रूढ़ि-प्रयुक्तता, वाक्-पद्धति, वाक्-सम्प्रदाय आदि शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु प्रयोग के आधार पर मुहावरा शब्द ही अधिक प्रचलित है। मुहावरों का प्रयोग भाषा को रोचक और प्रभावशाली बनाने के लिए किया जाता है। ये किसी भाषा में प्रयुक्त होने वाले वाक्य-खण्ड अथवा वाक्यांश हैं जिनके प्रयोग से भाषा सुदृढ़, गतिशील और रोचक बन जाती है। ये वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही अपना अर्थ प्रकट करते हैं, स्वतन्त्र रूप में इनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इनका प्रयोग मूल रूप में ही किया जाता है, शब्द-परिवर्तन कर देने पर इनका अर्थ-सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। जैसे – 'आँख चुराना' के स्थान पर 'नेत्र चुराना' अथवा 'नयन चुराना' का प्रयोग करें तो इसका कोई अर्थ नहीं रहेगा। मुहावरे के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए अनेक विद्वानों ने इसे परिभाषित किया है, कुछ परिभाषाएँ द्रष्टव्य हैं –

"हिन्दी-उर्दू में लक्षणा अथवा व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य को ही मुहावरा कहते हैं।"

– डॉ॰ उदय नारायण तिवारी

"मुहावरा किसी भाषा अथवा बोली में प्रयुक्त होने वाला वह वाक्य-खण्ड है जो अपनी उपस्थिति से समस्त वाक्य को सबल, सतेज, रोचक और चुस्त बना देता है। संसार में मनुष्य ने अपने लोक-व्यवहार में जिन-जिन वस्तुओं और विचारों को बड़े कौतूहल से देखा है, समझा है तथा बार-बार उनका अनुभव किया है, उनको उसने शब्दों में बाँध दिया है। वे ही मुहावरे कहलाते हैं।"

– पण्डित रामनरेश त्रिपाठी

"प्रायः शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों और कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुकरण या आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देने वाले किसी भाषा के गढ़े हुए रूढ़वाक्य, वाक्यांश या शब्द-समूह को मुहावरा कहते हैं।"

– डॉ॰ ओमप्रकाश गुप्त

"लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य या प्रयोग जो किसी एक ही भाषा में प्रचलित हो और उसका अर्थ प्रत्यक्ष (अभिधेय) अर्थ से विलक्षण हो।"

– हिन्दी शब्द-सागर

उक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि मुहावरे वे सुगठित शब्द-समूह हैं जिनसे कभी लक्षणाजन्य तो कभी व्यंजनाजन्य विशिष्ट अर्थ निकलते हैं। ये भाषा को सबल और प्रभावी बनाते हैं। इनका प्रयोग भाषा के अनावश्यक विस्तार को दूर करने तथा भाषा में हास्य, व्यंग्य और चमत्कार लाने के लिए किया जाता है। मुहावरों का इतिहास भाषा के इतिहास जितना प्राचीन है। संस्कृत साहित्य में मुहावरों का प्रयोग विपुलता से हुआ है। भारतीय लोक-साहित्य भी इस दृष्टि से सम्पन्न है। यहाँ लोकजीवन में अनेक मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। युगों से बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होने के कारण ये भाषा का अभिन्न अंग बन गए हैं। इनमें कहीं अनुभवजन्य ज्ञान भरा है तो कहीं व्यंग्यपूर्ण चुटीले बाण हैं। कहीं जीवन की पथ-प्रदर्शक व्यावहारिक शिक्षा उपलब्ध है तो कहीं ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित ज्ञान विद्यमान है।

3.3.3.1 मुहावरों और लोकोक्तियों का अन्तर

लोकोक्ति और मुहावरे दोनों का ही प्रयोग भाषा में रोचकता और अभिव्यक्ति में संक्षिप्तता लाने के लिए किया जाता है। दोनों में वक्ता की बात को प्रभावी बनाने की क्षमता है किन्तु इनमें पर्याप्त असमानताएँ हैं जो इस प्रकार हैं –

1. मुहावरा वाक्यांश है और इसका स्वतन्त्र रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता है। लोकोक्ति सम्पूर्ण वाक्य है। इसका स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किया जा सकता है।
2. मुहावरे गद्यात्मक होते हैं जबकि लोकोक्तियाँ गद्य और पद्य दोनों रूपों में उपलब्ध होती हैं।
3. मुहावरों का प्रयोग लाक्षणिक होता है जबकि लोकोक्ति का प्रयोग अन्योक्ति या अप्रस्तुत व्यंजना के लिए होता है।
4. मुहावरों के अन्त में 'ना' प्रत्यय रहता है। जैसे, घी के दिये जलाना, ईद का चाँद होना आदि। जबकि लोकोक्ति में इस प्रकार का लक्षण नहीं होता है।
5. मुहावरे शब्द-शक्तियों के अन्तर्गत आते हैं जबकि लोकोक्तियाँ अलंकार-शास्त्र के अन्तर्गत आती हैं।
6. मुहावरों में कार्य-व्यापार होता है जबकि लोकोक्तियों में अनुभूतिजन्य कथन या नैतिक वाक्य होता है।
7. मुहावरे और लोकोक्तियाँ दोनों लघुरूप होते हैं तथापि मुहावरे लघुत्तर होते हैं।
8. मुहावरे को दूसरी भाषा में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता क्योंकि इससे उसके अर्थ-सौन्दर्य की हानि होती है जबकि लोकोक्ति को अन्य भाषा में रूपान्तरित किया जा सकता है। इससे अभिव्यंजनात्मक भिन्नता भले ही आ जाती है किन्तु सार्वकालिक सत्य और मौलिक भाव एक ही रहता है।

3.3.3.2 मुहावरों के प्रकार

मुहावरों का प्रयोग अत्यन्त व्यापक है। दैनिक जीवन में विविध रूपों में इनका प्रयोग किया जाता है। भारतीय लोक-साहित्य में इनका अक्षय भण्डार उपलब्ध होता है। इनके अर्थ, भाषाई स्रोत, दैनिक जीवन से सम्बन्धित क्रियाओं के आधार पर इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है –

1. अर्थ की दृष्टि से : मुहावरे में निहित अर्थ के आधार पर मुहावरों को पुनः चार वर्गों में बाँटा जा सकता है –

i. अश्लील मुहावरे। उदाहरणार्थ – धूल चटाना, कीड़े पड़ना।
ii. श्लील मुहावरे। उदाहरणार्थ – पेट में चूहे कूदना।
iii. विलोमार्थी मुहावरे। उदाहरणार्थ – गुल खिलाना (कोई बखेड़ा खड़ा करना)।
iv. समानार्थक मुहावरे। उदाहरणार्थ – अक्ल का दुश्मन होना (मूर्ख)।

2. भाषाई स्रोत की दृष्टि से : भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित मुहावरे विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं से आकर लोक में इस प्रकार सम्मिलित हो गए हैं कि आज वे अपनी ही सम्पत्ति प्रतीत होते हैं। इन मुहावरों को हम संस्कृत, अरबी-फ़ारसी और अंग्रेजी भाषा से सम्बन्धित मुहावरों के वर्ग में बाँट सकते हैं–

i. संस्कृत के मुहावरे। उदाहरणार्थ – सूचिमेद्यं तमः (अत्यधिक अन्धकार होना)।
ii. अरबी-फ़ारसी मुहावरे। उदाहरणार्थ – ईद का चाँद होना (बहुत कम दिखाई देना)।
iii. अंग्रेजी मुहावरे। उदाहरणार्थ– जीभ का फिसलना (स्लिप ऑफ टंग)।

3. प्रकार की दृष्टि से : दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों और शारीरिक-मानसिक क्रियाओं पर आधारित मुहावरों को पुनः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है –

i. शरीराश्रित मुहावरे। उदाहरणार्थ – काया-कल्प होना, बदन में आग लगना।
ii. दैनिक जीवन सम्बन्धी मुहावरे। उदाहरणार्थ – नमक-मिर्च लगाना, घास काटना।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त मुहावरों के कुछ और प्रकार भी हैं, जैसे –

1. ऐतिहासिक-पौराणिक घटनाओं पर आधारित मुहावरे। उदाहरणार्थ – राजा हरिश्चन्द्र होना, कुम्भकरण होना।
2. जाति आधारित मुहावरे। उदाहरणार्थ – धोबी का कुत्ता होना, बछिया का ताऊ होना।
3. संस्कार-प्रथाओं पर आधारित मुहावरे। उदाहरणार्थ – हल्दी लगाना, क्रियाकर्म करना।

3.3.3.3 लोकोक्तियों और मुहावरों में लोक संस्कृति का प्रतिबिम्ब

लोकोक्ति और मुहावरे लोक समाज में विशेष महत्त्व रखते हैं। लोक अपनी बात को प्रभावी, रोचक और प्रमाणित बनाने के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग करता है। ये मुहावरे और लोकोक्तियाँ लोक समाज की संस्कृति और अनुभूति को आत्मसात् किये हुए हैं। लोक समाज का दैनिक व्यवहार, आस्था, संस्कार और जीवनशैली का स्पष्ट चित्रण इन मुहावरों और लोकोक्तियों में चित्रित है। दूसरे शब्दों में कहें तो मुहावरे और लोकोक्ति वह आरसी है जिसमें लोक-संस्कृति का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

1. संस्कारों का प्रतिबिम्ब :

मुहावरों और लोकोक्तियों में जन समाज में प्रचलित विविध संस्कारों का उल्लेख मिलता है। जैसे – 'थाली बजाना', 'हल्दी लगाना', 'भाँवर डालना', 'चट मंगनी पट ब्याह', 'जिसे पिया चाहे वही सुहागिन' आदि मुहावरों और लोकोक्तियों में विविध संस्कारों का उल्लेख मिलता है।

2. पौराणिक विश्वास और कथाओं की झलक :

भारतीय समाज धर्मानुरागी है। पुराणों में उल्लिखित पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, कर्मभोग आदि में उसकी गहरी आस्था है। ये आस्था-विश्वास और पुराणों में वर्णित कथाओं के सूत्र यहाँ प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों में सहज सुलभ हैं। जैसे – 'पाप धोना', 'माया रचना', 'हंस उड़ जाना', 'होई है सोई जो राम रचि राखा', 'घर का भेदी लंका ढाए' में पौराणिक विश्वास और कथाओं के दर्शन होते हैं।

3. ऐतिहासिकता का प्रतिबिम्ब :

लोक समाज इतिहास से सबक सीखता है और उसे वर्तमान में याद रखता है। साथ ही इतिहास की घटनाओं को भी वह विविध रूपों में स्मरणीय बनाता है। इस कार्य में मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इतिहासप्रसिद्ध घटनाओं को अपने में समेटे लोकोक्तियाँ और मुहावरे द्रष्टव्य हैं – 'सती होना', 'जयचन्द होना', 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र होना', 'अंग्रेजी राज में पहनने को कपड़ा न खाने को अनाज' आदि।

4. जातिवाद का प्रतिबिम्ब :

लोक प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों में हमें भारत में विद्यमान जाति-व्यवस्था का सहज बोध होता है। अनेक मुहावरे और लोकोक्तियाँ जाति-विशेष के गुणों, व्यवहार को दर्शाते हैं। जैसे – 'सौ सुनार की एक लुहार की', 'ठग मारे अनजान बनिया मारे जान', 'हजामत बनाना' आदि। इनमें कहीं जाति-विशेष के गुणों का बखान होता है तो कहीं उन पर कटाक्ष भी देखने को मिलता है।

5. नैतिकता का प्रतिबिम्ब :

लोक समाज में प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियाँ नैतिकता को भी प्रतिबिम्बित करते हैं। जैसे – 'जैसा देश वैसा वेष', 'अधजल गगरी छलकत जाय', 'धूप में बाल सफेद न होना', 'ठेस लगे बुद्धि बढ़े' आदि से समाज की नीतियों का ज्ञान होता है।

6. आर्थिक स्थिति का प्रतिबिम्ब :

लोकोक्तियाँ और मुहावरे समाज की आर्थिक स्थिति को भी स्पष्ट करते हैं। अर्थ के महत्त्व को दर्शाते अनेक मुहावरे और लोकोक्तियाँ उपलब्ध हैं। जैसे – 'टका हो जिसके हाथ में वह है बड़ा जात में', 'घर में नहीं दाने अम्मा चली भुनाने', 'आटे-दाल का भाव मालूम होना', 'छप्पर फाड़ कर देना' आदि।

3.3.4 पहेलियाँ

लोक-साहित्य की प्रकीर्ण विधाओं में मनोरंजन की दृष्टि से पहेली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह लोक मानस की पुरातन अभिव्यक्ति है जिसमें मनोरंजन के साथ-साथ बुद्धि-विलास के भी पर्याप्त अवसर होते हैं। इसके अन्तर्गत चिर-परिचित वस्तुओं के सम्बन्ध में रहस्यात्मक, लयात्मक प्रश्न पूछा जाता है जबकि अन्य व्यक्ति को उसका उत्तर देना होता है। इस प्रकार व्यक्ति की बुद्धि की परीक्षा लेने के लिए जो भ्रामक प्रश्न पूछे जाते हैं, उन्हें 'पहेली' कहा जा सकता है। संस्कृत में इसे 'प्रहेलिका' कहा जाता है तो आम बोलचाल की भाषा में 'बुझौवल' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। 'पहेली बुझाना' एक मुहावरा है जिसका अर्थ है, 'अपनी बात इस प्रकार कहना कि श्रोता को सहज ही समझ न आ सके।' पहेली के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कुछ विद्वानों के कथन द्रष्टव्य हैं –

"पहेली किसी की बुद्धि या समझ की परीक्षा लेने के लिए एक प्रकार का प्रश्न, वाक्य या वर्णन है, जिसमें किसी वस्तु का भ्रामक या टेढ़ा-मेढ़ा लक्षण देकर उसे बूझने या अभीष्ट वस्तु का नाम बताने को कहा जाता है।"

– बृहत् हिन्दी कोश

"पहेलियाँ मनोरंजन का उत्कृष्ट साधन हैं। बुद्धिमान भी कभी-कभी इनके कौतूहल मिश्रित अर्थगौरव के सामने सिर झुका देते हैं। अस्पष्ट संकेत देकर सामने वाले से वस्तु का नाम पूछना वस्तुतः बुद्धि-परीक्षा के समान ही व्यापार है।"

– डॉ॰ त्रिलोचन पाण्डेय

"परस्पर मानसिक स्तर तथा बौद्धिक विकास को परखने के लिए पहेलियाँ पूछने की लम्बी परम्परा रही है। अतः मौखिक साहित्य में इनका निजी स्थान है। ये मनोरंजन का बहुत बड़ा साधन हैं। पहेली में किसी

साधारण बात को इस ढंग से पूछा जाता है कि श्रोता के मस्तिष्क पर दबाव पड़ता है और वह गणित के प्रश्न की तरह उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा में खो जाता है।"

– डॉ० उर्बादत्त उपाध्याय

3.3.4.1 पहेलियों का उद्भव और विकास

पहेलियाँ लोक मानस की पुरातन अभिव्यक्ति स्वीकार की जाती हैं किन्तु इन्हें लोक गीत या लोक कथा जितना पुराना नहीं मान सकते। इसका कारण यह है कि लोक गीत या लोक कथा हृदय के सहज-सरल उद्गार होते हैं जबकि पहेली में बुद्धि का जटिल प्रयोग होता है। अतः मानव में बुद्धि के विकास के साथ ही पहेली का प्रचलन हुआ होगा। फ्रेजर का कथन है – "पहेली का उदय उस समय हुआ होगा जब किन्हीं कारणों से वक्ता को किसी बात को स्पष्ट शब्दों में कहने में किसी प्रकार की अड़चन हुई होगी। अतः अपने ज्ञान को रहस्यात्मक रूप में कह कर उसने दूसरों की बुद्धि-परीक्षा की होगी और उसके साथ ही मनोरंजन भी हुआ होगा।"

पहेलियों में हमें आदिम मानव की विकास-यात्रा सहज ही दिखाई देती है। इनमें मनुष्य के चातुर्य, रहस्य-भावना और दृष्टि-सौन्दर्य का अद्भुत समन्वय दिखाई पड़ता है। प्रकृति और जीवन के विविध रहस्यों ने मनुष्य को प्रभावित किया और उसकी जिज्ञासु-प्रवृत्ति ने उन्हें पहेली रूप दे दिया। अतः कहा जा सकता है कि पहेली में छोटी-छोटी समस्याओं को प्रस्तुत कर मनुष्य को जीवन की कठिनाइयों से संघर्ष करने के लिए प्रेरित करने की अद्भुत क्षमता होती है। अपनी इसी विलक्षण क्षमता के कारण पहेली आज भी निरन्तर विकासोन्मुखी है। वर्तमान में गणित पहेली, वर्ग पहेली के रूप में इनका पर्याप्त महत्त्व है जबकि परम्परागत रूप में आज भी विशिष्ट अवसरों पर इनका प्रयोग एक प्रथा की तरह किया जाता है। जैसे भोजपुरी प्रदेश में विवाह के समय वैवाहिक विधि के बाद जब वर 'कोहिवर' में प्रवेश करता है तब घर की स्त्रियाँ उससे पहेली पूछती हैं जिसे 'छेंका' कहते हैं। पहेली के समाधान के बाद ही वर घर के भीतर प्रवेश कर पाता है अन्यथा नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि पहेलियाँ लोक-साहित्य ही नहीं वरन् लोक-परम्पराओं का भी अभिन्न अंग हैं।

3.3.4.2 पहेलियों की परम्परा

भारत में पहेलियों की परम्परा वैदिक काल से ही उपलब्ध हो जाती है जिसके आधार पर कह सकते हैं कि वैदिक युग से पूर्व भी पहेलियों की परम्परा रही होगी। वैदिक काल में 'पहेली' को 'अश्वमेध यज्ञ' के अवसर पर अनुष्ठान का आवश्यक अंग माना जाता था। अश्व की बलि देने से पूर्व 'होता' और ब्राह्मण पहेली पूछा करते थे जिसे 'ब्रह्मोदय' कहा जाता था। ऋग्वेद का प्रसिद्ध मंत्र, जिसे विद्वानों ने 'पहेली' स्वीकार किया है, इस प्रकार है –

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा: द्वे शीर्षे सप्तहस्ता सो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रो र वीति महादेवो मर्त्या आविशेश: ॥

अर्थात् जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, जो तीन जगहों से बँधा हुआ है, वह मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ वृषभ शब्द करता हुआ महादेव है। इसका गूढ़ार्थ यह है कि यह वृषभ जिसके चार सींग चारों वेद हैं, प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल तीन पैर हैं, उदय और अस्त दो सिर हैं, सात प्रकार के छन्द सात हाथ हैं। यह मंत्र, ब्राह्मण और कल्परूपी तीन बन्धनों से बँधा हुआ मनुष्य में प्रविष्ट है।

उपनिषदों में भी रहस्यात्मक भाषा प्राप्त होती है। महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर संवाद और गीता में कृष्ण द्वारा सृष्टि का वर्णन 'पहेली' की श्रेणी में ही आते हैं। संस्कृत साहित्य में भी प्रचुर मात्रा में पहेलियाँपाई जाती हैं। इनका एक संग्रह 'सुभाषितरत्नभाण्डागारम्' के नाम से मिलता है। संस्कृत की 'पहेली' का उदाहरण द्रष्टव्य है –

श्यामामुखी न मार्जारी द्विजिह्वा न सर्पिणी।
पंचभर्ता न पांचालीयो जानाति सः पण्डितः॥

अर्थात् काला मुँह है पर बिल्ली नहीं, दो जीभ हैं किन्तु सर्पिणी नहीं, पाँच पति हैं परन्तु पांचाली नहीं। इस वस्तु को जो जानता है, वह पण्डित है। इसका उत्तर है – 'कलम'। कलम का मुँह काला होता है, उसकी जीभ बीच में से विभाजित होती है और उसे पाँच उँगलियों से पकड़ कर लिखा जाता है।

जैन साहित्य में पहेली सदृश रचनाओं 'हीयाली' का पर्याप्त प्रचलन था। यही 'पहेली' आगे चलकर सिद्धों और नाथों की रचनाओं में उलटबांसियों के रूप में मिलती है। हिन्दी साहित्य में अमीर खुसरो की पहेलियाँ और मुकरियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं। यथा –

एक थाल मोती से भरा,
सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर थाल वह फिरे,
मोती उससे एक न गिरे॥

(आकाश)

हिन्दी की क्षेत्रीय बोलियों में पर्याप्त मात्रा में पहेलियाँ उपलब्ध होती हैं। मुकरियाँ भी 'पहेली' का ही अन्य रूप हैं। इसमें 'पहेली' प्रश्नोत्तर रूप में दी जाती है। जैसे – ऐ सखि साजन, ना सखि ...। इस प्रकार प्रदत्त उत्तर से मुकर कर (ना सखि) उत्तर दिया जाता है। इसी कारण इन्हें मुकरी कहा जाता है।

3.3.4.3 पहेलियों का वर्गीकरण

विभिन्न लोक विधाओं की भाँति पहेलियों को भी विद्वानों ने अध्ययन की सुविधा के लिए वर्गीकृत किया है। डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय ने इन्हें प्रमुख रूप से सात श्रेणियों में विभक्त किया है –

1. खेती सम्बन्धी (कुआँ, मक्के का भुट्टा)
2. भोज्य पदार्थ सम्बन्धी (रोटी, मिर्ची)
3. घरेलू वस्तु सम्बन्धी (सुई, लोटा)
4. जीव सम्बन्धी (ऊँट, गधा)
5. प्रकृति सम्बन्धी (आकाश, दिवस)
6. शरीर सम्बन्धी (केश, दाँत)
7. प्रकीर्ण (विविध)

स्पष्ट है कि भारतीय लोक-साहित्य में विभिन्न प्रकार की पहेलियाँ उपलब्ध होती हैं। कुछ पहेलियाँ सीधी-सरल तो कुछ गूढ़ार्थक होती हैं। कुछ गद्यात्मक रूप में, कुछ पद्यात्मक रूप में, तो कुछ दोनों के मिश्रित रूप में मिलती हैं। इन पहेलियों से हमें जनसाधारण के बुद्धि-विस्तार का ज्ञान होता है। साथ ही लोक व्यवहार और जीवन-शैली की झलक भी देखने को मिलती है।

3.3.5 लघुगीत

लोक-साहित्य की विविध विधाओं में लोक गीत अग्रगण्य हैं। लोक समाज में प्रचलित विविध गीतों का अध्ययन आपने लोक गीत से सम्बन्धित पाठ में किया होगा। लघुगीत को उसके रूपाकार के कारण प्रकीर्ण साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। लघुगीत को हम मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं –

1. <u>शिशुगीत</u> :

शिशुगीत से तात्पर्य उन गीतों से है जो नन्हें बच्चों को सुलाने, खिलाने और खेलाने के लिए उनकी माता, धाय अथवा स्वजनों द्वारा गाये जाते हैं। शिशु को सुलाने के दौरान गाये जाने वाले गीत को 'लोरी' भी कहते हैं। ये गीत संगीतात्मकता से परिपूर्ण होते हैं जिनके श्रवण से शिशु शीघ्र ही निद्रा की आगोश में चले जाते हैं। इन लोरियों में माता के हृदय का वात्सल्य भाव सहज ही दृष्टिगोचर होता है। राजस्थान में प्रचलित 'लोरी' इस प्रकार है –

> सो जावौ नंदजी रा लाल, गाऊँ थानै हालरियौ।
> सो जावौ जसोदा रा लाल, गाऊँ थानै हालरियौ।
> पीपळ तळै बाँधू पालणो, नीचे बिछाऊँ म्हारो चीर, श्यामजी ने हालरियौ।
> चंदा के रो बण्यो पालणौ, रेशम री लम्बी डोर, श्यामजी ने हालरियौ।

उपर्युक्त लोरी में माँ अपने शिशु में कृष्ण की छवि देखती है और स्वयं को यशोदा मान उससे सोने का आग्रह करती है। लोरियाँ जहाँ एक ओर माता के मातृत्व को तृप्त करती हैं वहीं दूसरी ओर मधुर स्वरों के कारण

शिशु के मन-मस्तिष्क पर सकारात्मक प्रभाव डालती हैं। ये लोरियाँ लघु आकार होने पर भी पूरे कुटुम्ब से शिशु का साक्षात्कार कराने की अद्भुत क्षमता से युक्त होती हैं। जैसे –

हालर हूलर लल्ला ने गावाँ,
दूध बताशा लल्ला ने खिलावाँ,
ऐंटी-चूटी बाटकी (कटोरी) भइया ने चटावाँ।
भइया नहीं चाटै तो दीदी ने चटावाँ।

इस प्रकार परिवार के समस्त सदस्यों के नाम लिये जाते हैं। ये गीत शिशु को परिवार की पहचान कराने का काम ही नहीं करते वरन् प्रकृति के साथ जोड़ने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। चाँद को प्रायः प्रत्येक प्रदेश की माँ ने मामा के रूप में इंगित किया है। चाँद से सम्बद्ध गीत इस प्रकार है –

चंदा मामा दूर के, पुए पकाए पूर के।
आप खाए थाली में, मुन्ने को दे प्याली में।
प्याली गई टूट, मुन्ना गया रूठ।
बजा-बजा के तालियाँ, मुन्ने को मनाएँगे।
दूध बताशा खाएँगे।

शिशु-गीतों में स्वर, लय और ध्वनि के चमत्कार को महत्त्व दिया जाता है और नाद-सौन्दर्य के लिए वर्णों की पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन गीतों से शिशु का मनोरंजन मात्र ही नहीं होता वरन् उन्हें गीत की प्रतिक्रियास्वरूप कुछ करने की प्रेरणा भी मिलती है जिससे उनके शारीरिक-मानसिक विकास पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ – "ताली-ताली नन्दा, भज गोविन्दा।" इस पंक्ति को गाते हुए जब ताली बजायी जाती है तो उससे आकर्षित और उत्साहित होकर शिशु भी प्रतिक्रियास्वरूप ताली बजाता है। इन गीतों में धार्मिक भावना के भी सहज दर्शन होते हैं। इस प्रकार शिशु को सुलाने, खिलाने और खेलाने के गीत जो शिशुगीत कहलाते हैं, रूपाकार में छोटे होकर भी कानों को सुहाने वाले होते हैं। ये गीत माता और शिशु के मध्य एक सुन्दर, सुमधुर रिश्ते को कायम करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

2. खेलगीत :

खेल बाल्यावस्था की वह महत्त्वपूर्ण गतिविधि है जो बालकों के शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक विकास और सामाजिकता के लक्षणों का विकास करती है। बालवृन्द विविध खेल खेलते हुए जो गीत गाते हैं, उन्हें खेल-गीत कहते हैं। इन गीतों में नृत्य, अभिनय, बुद्धि-परीक्षा, वाक्-चातुर्य, लोक-व्यवहार, मनोरंजन, शिक्षा आदि का समावेश पाया जाता है। खेल के दौरान इन गीतों को गाने से बालकों का उत्साह दुगुना हो जाता है। विविध खेलों के दौरान गाये जाने वाले गीत इस प्रकार हैं –

अक्कड़-बक्कड़ बम्बे बो,
अस्सी नब्बे पूरे सौ।
सौ में लगा धागा,
चोर निकल कर भागा।

और भी,

कोड़ा जमालशाही, पीछे देखे मार खाई।

बाल्यावस्था चंचलता और चपलता से युक्त होती है। इस अवस्था में बालक विभिन्न परिस्थितियों में हास्य के अवसर ढूँढ़ते हैं। वर-यात्रा को देखकर बाल-मन हास्य के लिए बोल पड़ता है –

बींद राजा खावै खाजा,
खाजा में पड़गी माखी,
बींद राजा डाकी।

(बींद = दूल्हा, माखी = मक्खी, डाकी = पेटू)

इन लघुगीतों में लोकप्रचलित मान्यताओं और त्योहारों का भी स्वाभाविक चित्रण मिलता है। उदाहरण के लिए राजस्थान में बाल-विवाह की परम्परा रही है। अक्षय तृतीया को विवाह का अबूझ श्रेष्ठ मुहूर्त माना जाता है। इस दिन कई नन्हें-मुन्ने बालक-बालिका विवाह-बन्धन में बाँध दिए जाते थे। वर्तमान में इस प्रथा का चलन नहीं है तथापि बालक-बालिकाएँ दूल्हा-दुल्हन का वेश धारण कर घर-घर जाते हैं और त्योहारी प्राप्त करते हैं। इस दौरान वे ये गीत गाते हैं –

आखा तीज, बांडा बीज।
गळवाणी रो, गळयो खीच।
आयी म्हारी आखातीज॥

वर्षा ऋतु में बारिश में भीगते, उछलते-कूदते बालकों की टोलियाँ बादलों को सम्बोधित करते हुए गाती हैं –

मेह बाबा आ जा, घी ने रोटी खा जा।
आयो बाबो परदेसी, अबै जमानो कर देसी।
ढाँकणी में ढोकळो, मेह बाबो मोकळो॥

इस प्रकार विविध प्रकार के खेल, त्योहार और ऋतुओं से सम्बन्धित लघुगीत प्रायः प्रत्येक प्रदेश में थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध हो जाते हैं। ये खेलगीत, शिशुगीत यद्यपि अर्थ-चमत्कार से युक्त नहीं होते हैं किन्तु इनमें विद्यमान सरलता और माधुर्य सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करने की विशेष क्षमता रखते हैं। अतः कहा जा

सकता है कि ये लघु गीत रूपाकार में छोटे होकर भी बालमन के असंख्य मनोभावों और माताओं के वात्सल्य को अपने में आत्मसात् किये हुए हैं।

3.3.6 पाठ-सार

प्रकीर्ण साहित्य शीर्षक प्रस्तुत पाठ के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि लोक समाज में प्रचलित विभिन्न लघु रूप विधाएँ, जैसे लोकोक्ति, मुहावरा, पहेली, लघुगीत आदि भी अपनी अलग पहचान और महत्त्व रखते हैं। इन्हीं विधाओं में से एक 'लोकोक्ति' लोक समाज के वाक्-चातुर्य का सशक्त माध्यम है। इसमें अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यंजना कौशल, उक्ति-वैचित्र्य और सूत्र शैली का प्रयोग किया जाता है। लोकोक्तियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वेदों, पुराणों, उपनिषदों में पाई जाने वाली लोकोक्तियाँ लोक समाज के कण्ठ पर अवस्थित होकर निरन्तर प्रचारित और प्रसारित हो रही हैं। लोकोक्तियों की उत्पत्ति के चार कारण स्वीकार किये जाते हैं – घटना-विशेष, इतिहास-विशेष, दैनिक अनुभव और प्राज्ञ वचन। लोकोक्तियों के विशद् और व्यापक स्वरूप को उसके लक्षणों – लघुत्व, लय या गति, तुक या अनुप्रास, निरीक्षण और अनुभूति की अभिव्यंजना, प्रभावशीलता और लोक-रंजकता, सरस शैली आदि के द्वारा सहज ही समझा जा सकता है। इनमें मानव जीवन का अनुभव संचित होता है अतः इन्हें अनुभव की दुहिता भी कहा जाता है। लोकोक्ति और मुहावरे में पर्याप्त अन्तर विद्यमान है किन्तु एक बड़ी समानता यह भी है कि दोनों ही लोक समाज की संस्कृति और अनुभूति को आत्मसात् किये हुए हैं।

प्रकीर्ण विधाओं में 'पहेली' मनोरंजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है जिसमें बुद्धि-विलास के पर्याप्त अवसर होते हैं। पहेली की परम्परा भी प्राचीनकाल से प्राप्त होती है। लोक समाज में तो यह एक सामाजिक प्रथा के रूप में भी स्वीकार की जाती है। इस प्रकार पहेली लोक-साहित्य की विधा ही नहीं वरन् लोक समाज की परम्परा भी कही जा सकती है। 'लघु-गीतों' को प्रकीर्ण विधा की प्रमुख शाखा माना जा सकता है। लघु-गीत वे सुमधुर गीत हैं जो लोक गीत में स्थान नहीं पा सके किन्तु लोक समाज में इनका महत्त्व और माधुर्य सर्वमान्य है। ये गीत माता और शिशु के वात्सल्य रस से पगे हुए हैं। इनमें बालसुलभ चंचलता और सरलता का सुन्दर चित्रण मिलता है। ये गीत लघु-आकार के होकर भी माता के अथाह प्रेम और बालकों के असंख्य चंचल भावों को अपने में समेटे हुए लोक-साहित्य की जीवन्त विधा हैं।

3.3.7 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लोकोक्ति शब्द को स्पष्ट करते हुए इसकी विशेषताएँ बताइए।
2. मुहावरा किसे कहते हैं? स्पष्ट कीजिए।
3. भाषाई स्रोत के आधार पर मुहावरों को वर्गीकृत कीजिए।
4. मुकरियाँ किसे कहते हैं? संक्षेप में समझाइए।
5. लघुगीत में किस प्रकार के गीतों को सम्मिलित किया जा सकता है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोकोक्ति की परम्परा को बताते हुए उसके लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
2. "लोकोक्तियाँ और मुहावरे लोक-संस्कृति का प्रतिबिम्ब हैं।" उक्त कथन की मीमांसा कीजिए।
3. पहेली के उद्भव-विकास और परम्परा का विस्तृत वर्णन कीजिए।
4. लघु गीत का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
5. प्रकीर्ण साहित्य में स्वीकार्य विविध विधाओं में आपको कौन-सी विधा सर्वाधिक प्रिय है ? कारण सहित विवेचना कीजिए।

3.3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. साहनी, दी (2014), माँ की लोरियाँ और संस्कार गीत, दिल्ली, प्रभात प्रकाशन, ISBN : 978-93-5048-542-2.
2. प्रसाद, दिनेश्वर (1989), लोक-साहित्य और संस्कृति, इलाहाबाद, जयभारती प्रकाशन
3. सांकृत्यायन, राहुल एवं उपाध्याय, डॉ० कृष्णदेव (सं.) (सं. 2017 वि.), हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : षोडश भाग, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : लोक-साहित्य के प्रमुख रूप : 2

इकाई – 4 : लोक कलाएँ : प्रतिपाद्य एवं महत्त्व, रूपात्मक परिचय, लोक-कलाओं का शिल्प, विशेषताएँ, वर्गीकरण, भारत की प्रसिद्ध लोक-कलाओं यथा – माँडणा, मेहँदी, पातचित्र, भित्तिचित्र आदि का परिचय

इकाई की रूपरेखा

3.4.0 उद्देश्य कथन
3.4.1 प्रस्तावना
3.4.2 लोक कला का प्रतिपाद्य एवं महत्त्व
 3.4.2.1 कला का अर्थ
 3.4.2.2 कला की परिभाषाएँ
 3.4.2.3 लोक कला
 3.4.2.4 लोक कला का महत्त्व
3.4.3 लोक कला की शिल्प कलाएँ
3.4.4 लोक-कलाओं की विशेषताएँ
3.4.5 लोक-कलाओं का वर्गीकरण
3.4.6 भारत की प्रसिद्ध लोक-कलाओं का परिचय
3.4.7 पाठ-सार
3.4.8 बोध प्रश्न
3.4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

3.4.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ लोक-साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा 'लोक कला' पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. लोक कला के प्रतिपाद्य को समझ सकेंगे।
ii. लोक कला के महत्त्व को रेखांकित कर सकेंगे।
iii. लोक कला की विविध शिल्प-कलाओं को जान सकेंगे।
iv. लोक कला की विशेषताओं और वर्गीकरण को समझ सकेंगे।
v. भारत में प्रचलित विविध लोक-कलाओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
vi. लोक-कलाओं में निहित सौन्दर्य और मांगलिक भावनाओं को समझ सकेंगे।

3.4.1 प्रस्तावना

पूर्व पठित पाठों में आप लोक कथा, लोक गाथा, प्रकीर्ण साहित्य के अन्तर्गत – लोकोक्ति, मुहावरे, पहेली, लघुगीत आदि का अध्ययन कर चुके हैं। लोक-साहित्य की विविध विधाओं में लोक कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत पाठ में आप इसी विधा का विस्तृत अध्ययन करने हेतु प्रवृत्त हो रहे हैं।

आदिकाल में जब मनुष्य जीवन-निर्वाह के लिए अपनी स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति तथा विपरीत परिस्थितियों में स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए प्रयासरत रहता था, तब भी वह प्रकृति के सौन्दर्य से अभिभूत और अभिप्रेरित होकर अपने आस-पास के वातावरण को सुन्दर बनाने का प्रयास करता था। उसके इन्हीं प्रयासों को कला कहा जा सकता है, अतः कलाओं का उदय आदिम काल से ही स्वीकार किया जा सकता है। अनुभूति की अभिव्यक्ति की यह विकास-यात्रा सम्पूर्ण मानव-जाति की कला की विकास-यात्रा है। कला जीवन की सुरुचिपूर्ण अभिव्यिक्त का सशक्त माध्यम है। काव्य, चित्रकला, नृत्य, संगीत, मूर्तिकला, वास्तुकला आदि रूपों में मानव जीवन की रागात्मक अनुभूतियों और संवेगों का सुन्दर, सुरुचिपूर्ण चित्रण इस कथन को चरितार्थ करता है कि कला मानव जीवन के रोम-रोम में बसी हुई है।

मानव-समाज में लोक-कलाओं और हस्तशिल्प की समृद्ध परम्परा रही है। देश के विविध प्रदेशों की अपनी विशेष परम्पराएँ, विश्वास और मान्यताएँ हैं जो वहाँ प्रचलित लोक कला के विविध रूपों में दिखाई पड़ती हैं। ये लोक-कलाएँ मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों से उपजती हैं, लोक मानस से प्रेरणा और पोषण प्राप्त करती हैं तथा लोक आस्था-विश्वास का आश्रय प्राप्त कर निरन्तर पलती-बढ़ती हैं। इन लोक-कलाओं का ज्ञान स्कूली शिक्षा से प्राप्त नहीं किया जा सकता वरन् ये तो परम्परा से प्राप्त होकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में निरन्तर आगे बढ़ती रहती हैं। प्रस्तुत पाठ में विभिन्न लोक-कलाओं पर चर्चा करने से पूर्व लोक कला के प्रतिपाद्य, महत्त्व, विशेषताओं, वर्गीकरण आदि का संक्षिप्त विवेचन करना उचित होगा।

3.4.2 लोक कला का प्रतिपाद्य एवं महत्त्व

कला मनुष्य की सौन्दर्य कल्पना को साकार करने का माध्यम है। यह मानवीय मनोभावों की सहज अभिव्यक्ति है। सौन्दर्यपूर्ण कल्पनाभिव्यक्ति के लिए जिस किसी भी माध्यम को अपनाया जाता है उसे कला के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। कला का ज्ञान मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास कर उसे पशुत्व से ऊपर उठाता है अतः कहा जा सकता है कि कला मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है।

3.4.2.1 कला का अर्थ

कला शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'कल्' धातु में अच् तथा टाप् प्रत्यय लगने से हुई है। संस्कृत कोष में इस शब्द के विविध अर्थ प्राप्त होते हैं – चन्द्रमा का सोलहवाँ अंश, अलंकरण, कुशलता, मेधाविता आदि। वहीं कला को अंग्रेजी में आर्ट (ART) कहा जाता है जो लैटिन भाषा के आर्स (ARS) से बना है, जिसका ग्रीक

रूपान्तरण तैकने (TEXVEN) है । इस शब्द का अर्थ शिल्प (CRAFT) या नैपुण्य विशेष है। कुछ विद्वानों के अनुसार कला शब्द दो शब्दों से बना है – क + ला। यहाँ 'क' का अर्थ है, 'कामदेव' अर्थात् सौन्दर्य और आनन्द तथा 'ला' का अर्थ है, 'देना'। इस प्रकार सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का सुख प्रदान करने वाली वस्तु को कला कहते हैं।

3.4.2.2 कला की परिभाषाएँ

कला शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। इस शब्द को विद्वानों ने अलग-अलग रूपों में परिभाषित किया है। प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

"जो सत् है, जो सुन्दर है, वही कला है।"

– रवीन्द्रनाथ टैगोर

"कला अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति है।"

– मैथिलीशरण गुप्त

"जिस अभिव्यंजना में आन्तरिक भावों का प्रकाशन और कल्पना का योग रहता है, वही कला है।"

– डॉ॰ श्यामसुन्दरदास

"कला कल्पना की अभिव्यंजना है।"

– कवि शैले

"कला सत्य की अनुकृति की अनुभूति है।"

– प्लेटो

"कला अनुकरणीय है ।"

– अरस्तु

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि कला शब्द स्वयं में विस्तृत अर्थ को समाहित किये हुए है अतः इसको परिभाषित करना सरल नहीं है। यही कारण है कि इसकी एक सर्वमान्य परिभाषा अनुपलब्ध है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिन क्रियाओं के सम्पादन में कौशल अपेक्षित हो, वह कला है।

3.4.2.3 लोक कला

डॉ॰ सत्येन्द्र ने 'लोक-साहित्य विज्ञान' में 'लोक' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है – "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।" ऐसे लोक की सहज अभिव्यक्ति का एक स्वरूप लोक कला है। लोक कला समाज और संस्कृति का दर्पण है जिसमें समाज में प्रचलित मान्यताओं, परम्पराओं और रीति-रिवाजों का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है। सरलता और स्वाभाविकता ही इसके प्राण हैं। इसमें कहीं भी शास्त्रीय चिन्तन नहीं दिखाई पड़ता है। लोक-कलाएँ लोक मानस की वृत्तियों का चित्रण ही नहीं करतीं वरन् युगों-युगों से मानव-समाज में होने वाले बदलावों और मानव मन पर पड़ने वाले उनके प्रभावों को भी दर्शाती हैं। अतः कह सकते हैं कि लोक कला लोक मन में झाँकने का एक सुगम झरोखा है।

3.4.2.4 लोक कला का महत्त्व

कला मानव जीवन की चिरसंगिनी है। आदिम काल से वर्तमान वैज्ञानिक युग तक मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में कला के योगदान और महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है। कला के महत्त्व को दर्शाते हुए भर्तृहरि ने अपने 'नीतिशतक' में लिखा है –

साहित्य संगीत कला विहीनः।
साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः॥

अर्थात् साहित्य, संगीत और कला से विहीन मनुष्य पूँछ और सींग रहित साक्षात् पशु के समान है।

अपने व्यापक स्वरूप में लोक कला के अन्तर्गत लोक नृत्य, लोक गीत, लोक कथा, लोक गाथा तथा लोक नाट्य समाहित हैं जिनका विश्लेषण विगत इकाइयों में किया जा चुका है। लोक कला के व्यापक स्वरूप को स्वीकारते हुए इसके महत्त्व को प्रस्तुत विवरण के आधार पर समझा जा सकता है –

1. लोक-कलाएँ ऐतिहासिक कलेवर को आत्मसात् करते हुए निरन्तर गतिमान रहती हैं अतः इनके माध्यम से अतीत में घटित घटनाओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अधिकांशतः इतिहास-लेखन के दौरान बड़े घटनाक्रमों में स्थानीय तथा छोटी घटनाएँ महत्त्व प्राप्त नहीं कर पाती है तब लोक कलाकार इन घटनाओं को अपनी कला के माध्यम से प्रस्तुत कर उन घटनाओं को प्रकाश में लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।
2. लोक-कलाएँ लोक संस्कृति के चित्रण में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। जन जीवन का जितना सच्चा, सरल चित्रण इन कलाओं में प्राप्त होता है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। लोक कलाकार समाज में वर्तमान रीति-रिवाज, परम्पराओं, क्रिया-कलापों को उसी प्रकार चित्रित करता है, जैसा कि वह अनुभूत करता है।

इससे लोक कला देश-प्रदेश की संस्कृति का दर्पण बन सांस्कृतिक दशा और विकास को प्रकट करने में सक्षम हो जाती है।

3. मनुष्य प्रकृति की श्रेष्ठतम कृति है। उसके जीवन में प्रकृति का अन्यतम स्थान है। लोक कलाओं में प्रकृति के विविध चित्र उपलब्ध होते हैं। पशु-पक्षी, नदी-तालाब, पेड़-पौधों के सुन्दर चित्र और उनके महत्त्व को लोक कला के विविध रूपों में पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है, जो पाठक और श्रोता के मानस में प्रकृति के प्रति लगाव को जाग्रत् कर, प्रकृति संरक्षण का सन्देश देने में पूर्णतया सक्षम जान पड़ते हैं।
4. लोक-कलाएँ नीरसता में सरसता का संचार करती हैं। जीवन के कठोर संघर्ष से तप्त लोक जब निराशा के गर्त की ओर उन्मुख हो जाता है तब ये कलाएँ विभिन्न प्रकार से उसका अनुरंजन कर नई चेतना का संचार करती हैं। कल्पना के विविध रंगों में रंगी लोक-कलाएँ हृदय में नए रंग, नए स्वप्न को जगाती हैं और नव संघर्ष के लिए प्रेरित करती हैं।
5. लोक कलाकार को आर्थिक सम्बल प्रदान करने में भी लोक-कलाओं के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है। वर्तमान में सम्पूर्ण विश्व में विविध लोक-कलाओं के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ा है। परिणामस्वरूप लोक कलाकारों को आजीविका के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ रहा है। वे अपनी कला के बल पर न सिर्फ आर्थिक रूप से सक्षम हो रहे हैं वरन् अपनी क्षेत्रीय सीमाओं को लाँघकर विश्व-पटल पर अपनी पहचान बनाने में भी समर्थ हो गए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लोक-कलाएँ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के मूल मंत्र से युक्तहोकर जन-समाज के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं। ये मनुष्य के आन्तरिक भावों को उद्धृत कर उसे नई चेतना-शक्ति से युक्त करती हैं जिससे वह अपने लक्ष्य की ओर निर्बाध गति से बढ़ पाता है। ये नीरसता में सरसता का संचार कर जीवन को रस-आनन्द से परिपूर्ण बनाती हैं। लोक-कलाओं को व्यक्तिगत कृति नहीं वरन् सामाजिक कृति के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार समाज का प्रत्येक सदस्य उसमें अपने अस्तित्व को अनुभूत करता है परिणामस्वरूप लोक-कलाएँ मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठने और सामाजिकता का पाठ पढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं।

3.4.3 लोक कला की शिल्प कलाएँ

भारतीय लोक-कलाओं में शिल्प कला का विशेष महत्त्व है। शिल्प से तात्पर्य ऐसे कलात्मक कार्य से है जो दैनिक व्यवहार में उपयोगी होने के साथ ही साज-सज्जा के काम भी आता है। ये कलाएँ धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व रखती हैं। भारत के विभिन्न प्रदेशों में हस्तशिल्प कलाओं का अकूत खजाना विद्यमान है। यहाँ के शिल्पकार अपने हाथों के कौशल और साधारण औजारों से ऐसी अनेक कलात्मक वस्तुओं का सृजन करते हैं जो दैनिक जीवन में उपयोगी होने के साथ ही हमारी सौन्दर्य-पिपासा को भी तृप्त करती हैं। भारत में प्रचलित विभिन्न शिल्प-कलाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

1. मृदा शिल्प

भारत में मृदा शिल्प की परम्परा प्राचीन है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में सिन्धुघाटीकालीन मिट्टी के बर्तन और खिलौने प्राप्त हुए हैं जो सुन्दर नक्काशी से युक्त हैं। ये तत्कालीन कला-प्रेम और शिल्प-कौशल को दर्शाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले जनसाधारण के लिए मृदा शिल्प आजीविका का पारम्परिक साधन है। विरासत से प्राप्त इस कला का प्रयोग कुम्हार जाति के लोग दैनिक उपयोग की वस्तुओं के साथ ही कलात्मक शिल्प के निर्माण में भी करते हैं। उत्तरप्रदेश में खुर्जा परम्परागत मिट्टी के बर्तनों का प्रसिद्ध केन्द्र है, वहीं जयपुर के नीली मिट्टी के बर्तन विश्व प्रसिद्ध हैं।

2. पाषाण शिल्प

पाषाण शिल्प के अन्तर्गत पत्थर से बनी विविध उपयोगी वस्तुएँ, मूर्तियाँ और भवन आदि की गणना की जा सकती है। इस कला का विकास प्रागैतिहासिक काल में ही हो गया था। पाषाण शिल्प में आम उपयोग की वस्तुएँ, जैसे पत्थर की कूँडी, चकला, सिलबट्टा, घट्टी, ओखली आदि बनाए जाते हैं। वहीं धार्मिक आस्था के रंग में डूबा लोक शिवलिंग, देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को भी बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकारता है। विविध प्रकार के पत्थरों का प्रयोग आभूषणों में भी किया जाता है। पत्थरों पर नक्काशी कर सुन्दर भवन-निर्माण की परम्परा भी प्राचीन है। विभिन्न प्राचीन मन्दिर और महल इस कला के सुन्दर उदाहरण हैं।

3. काष्ठ शिल्प

भारत में उन्नत किस्म की लकड़ी यथा सागौन, रोजवुड, शीशम, चीड़ आदि बहुतायत में मिलती है। इस लकड़ी का प्रयोग करते हुए काष्ठ-शिल्पकार विविध प्रकार की कलात्मक मूर्तियाँ, खिलौने, आभूषण आदि का निर्माण करते हैं। दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले सामान जैसे, दरवाजे, सन्दूक, अलमारी, मेज आदि को काष्ठ-शिल्पकार अपनी कलात्मक सोच और कौशल से उत्कृष्ट सौन्दर्य प्रदान करते हैं। भारत में बनी विविध काष्ठ-शिल्प कलाकृतियों की विदेशों में बहुत माँग रहती है।

4. लाख शिल्प

लाख एक प्राकृतिक राल है। लाख शिल्पकार इसे पिघलाकर इसमें रंग मिलाते हैं और फिर उसे साँचों में ढालकर विविध उपयोगी और सुन्दर वस्तुएँ बनायी जाती हैं। उन पर काँच-मोती द्वारा सजावट की जाती है। चूड़ी बनाने के लिए लाख को तपाकर रस्सी की तरह डोर बनायी जाती है और फिर उसे चूड़े का आकार दिया जाता है। शिल्पकार साधारण उपकरणों और अपने विशिष्ट कौशल का समन्वय कर सुन्दर चूड़े बनाता है। लाख का शिल्पी लखारा कहलाता है।

5. जूट शिल्प

विविध लोक-कलाओं और शिल्प की यह प्रमुख विशेषता है कि वे सहज उपलब्ध साधनों से निर्मित होते हैं। इस श्रेणी में जूट शिल्प भी आता है। जूट शिल्प के कारीगर जूट द्वारा विविध कलात्मक वस्तुओं का निर्माण करते हैं। जूट द्वारा निर्मित बैग, दीवार पर लगाई जाने वाली कलात्मक आकृतियाँ विशेष रूप से लोकप्रिय हैं। ग्रामीण परिवेश में सोने और बैठने के लिए चारपाई का प्रयोग किया जाता है जिसमें जूट की बुनाई की जाती है। इस कार्य को भी शिल्पकार अत्यन्त कुशलता से करते हुए बुनाई में सुन्दर कलाकृतियाँ बना कर साधारण-सी चारपाई को अद्भुत कलाकृति में बदल देता है।

6. शैल शिल्प

समुद्री किनारों पर रहने वाले लोक समाज ने वहाँ से नित्यप्रति प्राप्त होने वाली सीपियों, शैलों का प्रयोग कर शैल-शिल्प का मार्ग प्रशस्त किया। शैल-शिल्पी इन शैल-सीपियों को कलात्मक आभूषण, झालर (पर्दे) आदि विविध आकृतियाँ बनाने में प्रयुक्त करते हैं। समय की माँग को देखते हुए शिल्पकारों ने अपनी कला और सोच में पर्याप्त बदलाव किये परिणामस्वरूप आज शैल के प्रयोग से विविध सजावट की वस्तुओं का निर्माण किया जा रहा है ।

7. बँधेज

यह राजस्थान की शिल्प कला है। बँधेज का अर्थ है, 'कपड़े को विविध आकृतियों के अनुरूप बाँधकर या गाँठ लगाकर रंगना।' इस प्रक्रिया में साधारण-सा वस्त्र भी सुन्दर आकृतियों और रंगों से युक्त हो जाता है। राजस्थान की यह कला भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व में विख्यात है। बँधेज सौन्दर्य के साथ सौभाग्य का प्रतीक भी माना जाता है। अतः राजस्थान की प्रत्येक नारी के पास बँधेज के वस्त्रों की शृंखला मिल जाती है। विभिन्न त्योहारों और अवसरों के अनुकूल अलग-अलग बँधेज का प्रचलन है।

प्रस्तुत हस्तशिल्प कलाएँ तो एक संकेत मात्र हैं। वास्तव में भारत के विभिन्न प्रदेशों में हस्तशिल्प कला के इतने रूप प्रचलित हैं कि उनकी गणना करना दुष्कर है। लोक समाज की प्रत्येक गतिविधि किसी-न-किसी रूप में कला को सहेजती है। इस प्रकार लोक समाज विविध कलाओं को संरक्षण देता है और अप्रत्यक्ष रूप में अपनी संस्कृति और परम्परा को सहेजता है। ये कलाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। इस प्रकार ये कलाएँ कल-आज-कल को जोड़ने वाली बेहतरीन कड़ियाँ हैं जो परिवार-समाज-देश को एकता के सूत्र में पिरोती हैं।

3.4.4 लोक-कलाओं की विशेषताएँ

लोक-कलाओं का विकास जनसाधारण के घर-आँगन में छोटी-छोटी मान्यताओं और विश्वास के साये में होता है। ये माँगलिक अवसरों पर पुष्पित-पल्लवित होती हैं। लोक-कलाओं में जहाँ एक ओर जनमानस की

विस्तृत-व्यापक अभिव्यक्ति होती है, वहीं इनकी अपनी मौलिक विशेषताएँ भी हैं जो इन्हें अलग पहचान प्रदान करती हैं। भारत की लोक-कलाओं की प्रमुख विशेषताओं को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है –

1. प्राचीनता :

आदिमानव विभिन्न चित्राकृतियों के माध्यम से अपने मनोभावों को दर्शाता था जो इस बात का साक्ष्य है कि कला की उत्पत्ति भाषा से भी पूर्व हो गई थी। भारतीय कलाओं का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। मध्यप्रदेश में भीमबेटका नामक गुफाओं में की गई चित्रकारी 5500 ई.पू. से भी अधिक प्राचीन मानी जाती है। ये चित्र गेरू मिट्टी, चूना और तेल (बीजों से निकला हुआ अथवा जानवरों की चर्बी) को मिला कर टहनियों और उँगलियों की सहायता से बनाये गए हैं। इन चित्रों को हम माँडणा, अल्पना का प्रारम्भिक रूप मान सकते हैं।

2. धार्मिकता :

भारतीय लोक मानस धर्मानुरागी है। इसका प्रत्येक क्रियाकलाप धर्म से प्रेरित और लोक-कल्याण की भावना से परिपूर्ण होता है। यहाँ प्रचलित लोक-कलाएँ भी इस पहलू से अछूती नहीं है। विविध कलाओं में धार्मिक कथाओं तथा उनके पात्रों का चित्रण किया गया है। कला का यह पहलू मानव-हृदय को आस्था से पूरित कर मंगल की कामना से युक्त करता है। इस प्रकार धर्म को भारतीय लोक-कला का प्राण कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।

3. पारम्परिकता :

भारतीय जनसमाज परम्पराओं के प्रति विशेष आस्थावान् है। यहाँ की लोक-कलाओं में भी सर्वत्र परम्पराओं का सम्मान हुआ है। इस भाव के प्रति एक विशेष धारणा अन्तर्निहित है कि हमें परम्पराएँ पूर्वजों से प्राप्त होती हैं। अतः अपने पूर्वजों के प्रति सम्मान को व्यक्त करने के लिए कला के परम्परागत स्वरूप को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया जाता है। लेकिन यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि परम्परा का निर्वाह इन कलाकृतियों का सशक्त पक्ष है क्योंकि इनमें अन्धानुकरण को प्रश्रय नहीं मिलता है वरन् परम्परा और यर्थाथ के बीच संतुलन बनाकर इन कृतियों का निर्माण किया जाता है।

4. प्रतीकात्मकता :

भारतीय लोक-कलाओं में प्रतीकात्मकता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से सूक्ष्म धार्मिक और दार्शनिक भावों अथवा अनुभूतियों को स्थूल रूप प्रदान करके जनसाधारण के लिए सरस, सरल और ग्राह्य बनाया गया है। इन प्रतीकों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'स्वास्तिक' है जिसकी चार आडी-खड़ी रेखाएँ चार

दिशाओं, चार लोकों तथा सृष्टि-निर्माता 'चतुर्भुज ब्रह्म' की प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त पशु-पक्षी, पेड़ आदि के प्रतीक भी शुभ-मंगल के सूचक होते हैं। साथ ही, प्रकृति के महत्त्व को भी प्रकट करते हैं।

5. अनामता :

अनामता लोक कला की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि लोक कलाकृति व्यक्ति-विशेष की नहीं वरन् जातीय रचना के रूप में स्वीकार की जाती है। जातीय रचना में अनेक व्यक्तियों का योगदान रहता है अतः उसे व्यक्ति-विशेष की रचना बताना व्यवहारिक रूप से उचित नहीं है। इन कलाओं के रचनाकारों के हृदय में कला के प्रति पूर्ण समर्पण भाव सहज ही द्रष्टव्य है। वहाँ आत्म-प्रसिद्धि भाव का सर्वथा लोप ही है। विविध कलाओं में व्यक्ति-विशेष की छाप के बिना लोकमंगल का भाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

6. समन्वयवादिता :

भारतीय संस्कृति अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण सम्पूर्ण विश्व में अलग पहचान बनाए हुए है। यही प्रवृति यहाँ की लोक-कलाओं की विशेषता हो तो यह अस्वाभाविक नहीं है। भारतीय लोक-कलाओं में कल्पना के साथ यथार्थ, आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता, सुकुमारता के साथ गम्भीरता और प्राचीनता के साथ नूतनता का सुन्दर, संतुलित समन्वय देखने को मिलता है।

7. संस्कृति की संवाहिका:

भारतीय लोक कला भारतीय संस्कृति की संवाहिका है। विविध लोककलाओं में भारतीय आचार-विचार, परम्पराओं, विश्वास-मान्यताओं और जीवन-शैली का चित्रण मिलता है जो यहाँ की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करता है। इन लोक-कलाओं में भारतीय समाज में प्रचलित लोक-व्यवहार, धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं को पर्याप्त महत्त्व मिला है जो इनके सांस्कृतिक महत्त्व को बढ़ाने में विशेष रूप से कारगर है।

कहा जा सकता है कि भारतीय लोक-कलाएँ विविध विशेषताओं से परिपूर्ण जनमानस की अभिव्यक्ति हैं जो सर्वमंगल की कामना से युक्त हैं। ये कलाएँ प्राचीनकाल से मानवसमाज को परम आनन्द की अनुभूति करवा रही हैं और उसकी चेतना के गुणात्मक विकास में अपनी भागीदारी निभा रही हैं।

3.4.5 लोक-कलाओं का वर्गीकरण

कला का उद्‌गम प्रागैतिहासिक काल से स्वीकार किया जाता है जो समय के साथ निरन्तर विकास की ओर अग्रसर होती रही है। मानव-समाज के विकास के साथ ही कला के भी विविध रूप विकसित होते गए। भारतीय परम्परा के अनुसार वे समस्त क्रियाएँ जिन्हें करने में कौशल की आवश्यकता होती है, उन्हें कला कहा

जाता है। भारतीय विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में कलाओं का वर्णन किया है। इनमें 'कामसूत्र' में वर्णित 64 कलाओं की सूची इस प्रकार है –

01. गीतम्	:	गाना
02. वाद्यम्	:	बाजा बजाना
03. नृत्यम्	:	नाचना
04. आलेख्यम्	:	चित्रकारी
05. विशेषकच्छेद्यम्	:	भोजन के पत्तों को तिलक के आकार में काटना।
06. ताण्डुलकुसुमवलिविकारा:	:	पूजन के लिए चावल तथा रंग-बिरंगे फूलों को सजाना।
07. पुष्पास्तरणम्	:	घर अथवा कमरों को फूलों से सजाना।
08. दशनवसनाङ्गराग:	:	दाँतों, कपड़ों और शरीर पर रंग चढ़ाना।
09. मणिभूमिका कर्म	:	फर्श पर मणियों को बिछाना।
10. शयनकचनम्	:	शैया की रचना।
11. उदकावाद्यम्	:	पानी को इस प्रकार बजाना कि उससे मुरजनाग के बाजे की ध्वनि निकले।
12. उदकाघात	:	जल क्रीड़ा करते समय कलात्मक ढंग से छींटे मारना।
13. चित्रयोगा	:	अनेक औषधियों, तंत्रों तथा मंत्रोंका प्रयोग करना
14. माल्यग्रथनविकल्पा	:	विभिन्न प्रकार से मालाएँ गूँथना।
15. शेखर कापीड योजनम्	:	आपीठकं तथा शेखरक नाम के सिर के आभूषणों को शरीर के सही अंगों पर धारण करना।
16. नेपथ्यप्रयोगा:	:	स्वयं को या दूसरे को सुन्दर कपड़े पहनाना।
17. कर्णपत्रभंग:	:	शंख तथा हाथीदाँत से विभिन्न आभूषणों को बनाना।
18. गन्धयुक्ति:	:	विभिन्न द्रव्यों को मिलाकर सुगन्ध तैयार करना।
19. भूषणयोजनम्	:	आभूषणों में मणियाँ जड़ना।
20. ऐन्द्रजालायोग:	:	इन्द्रजाल की क्रीड़ाएँ करना।
21. कौचुमारश्च योगा:	:	कुचुमार तंत्र में बताये गए बाजीकरण प्रयोग, सौन्दर्य वृद्धि के प्रयोग।
22. हस्तलाघवम्	:	हाथ की सफाई।
23. विचित्रशाकयूषक्ष्यविकारक्रिया	:	विभिन्न प्रकार की साग-सब्जियाँ तथा भोजन बनाने की कला।

24. पानकरसरागासवयोजनम्	:	पेय पदार्थों को बनाने का गुण।
25. सूचीवानकर्माणि	:	जाली बुनना, पिरोना और सीना।
26. सूत्रक्रीड़ा	:	मकानों, पशु-पक्षियों तथा मन्दिरों के चित्र हाथ के सूत से बनाना।
27. वीणाडमरूवाद्यानि	:	वीणा, डमरू तथा अन्य बाजे बजाना।
28. प्रहेलिका	:	पहेलियों को बूझना।
29. प्रतिमाला	:	अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता का कौशल।
30. दुर्वाचकयोग	:	ऐसे श्लोक कहना जिनके उच्चारण तथा अर्थ दोनों कठिन हो।
31. पुस्तकवाचनम्	:	किताब पढ़ने की कला।
32. नाटकाख्यायिकादर्शनम्	:	नाटकों तथा ऐतिहासिक कथाओं के बारे में जानकारी।
33. काव्यसमस्यापूरणम्	:	कविताओं के द्वारा समस्यापूर्ति।
34. पट्टिकावाननेत्रविकल्पा:	:	बैंत और सरकंडे आदि की वस्तुएँ बनाना।
35. तक्षकर्माणि	:	सोने-चाँदी के गहनों तथा बर्तनों पर विभिन्न प्रकार की नक्काशी।
36. तक्षणम्	:	बढ़ईगीरी।
37. वास्तुविद्या	:	घर का निर्माण करना।
38. रूप्यपरीक्षा	:	मणियों तथा रत्नों की परीक्षा।
39. धातुवाद	:	धातुओं को मिलाना तथा उनका शोधन करना।
40. मणिरागाकरज्ञानम्	:	मणियों को रँगना तथा उन्हें खानों से निकालना।
41. वृक्षायुर्वेदयोगा	:	पेड़ों तथा लताओं की चिकित्सा, उन्हें छोटा और बड़ा बनाने की कला।
42. मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि:	:	भेड़, मुर्गा तथा लावकों को लड़ाना।
43. सुकसारिकाप्रलापनम्	:	तोता-मैना को पढ़ाना।
44. उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्	:	शरीर तथा सिर की मालिश करने की कला।
45. अक्षरमुष्टिकाकथनम्	:	सांकेतिक अक्षरों के अर्थ की जानकारी प्राप्त कर लेना।
46. म्लेच्छितविकल्पा	:	गुप्तभाषा विज्ञान।
47. देशभाषाविज्ञानम्	:	विभिन्न देशों की भाषाओं की जानकारी।
48. पुष्प शकटिका	:	फूलों से रथ, गाड़ी आदि बनवाना।
49. निमित्तज्ञानम्	:	शकुन-विचार।
50. यंत्रमातृका	:	स्वचालित यंत्रों को बनाना।

51. धारणमातृका	:	स्मरण-शक्ति बढ़ाने की कला।
52. सम्पाठ्यम्	:	किसी सुने हुए अथवा पढ़े हुए श्लोक को ज्यों का त्यों दोहराना।
53. मानसी काव्यक्रिया	:	विक्षिप्त अक्षरों से श्लोक बनाना।
54. अधिधानकोश	:	शब्द-कोषों की जानकारी।
55. छन्दोज्ञानम्	:	छन्दों के बारे में जानकारी।
56. क्रियाकल्प	:	काव्यालंकार की जानकारी।
57. छलितकयोगा	:	बहुरूपियापन।
58. वस्त्रगोपनानि	:	छोटे कपड़े इस प्रकार पहने कि वह बड़ा दिखाई दे तथा बड़े कपड़े इस प्रकार पहने कि वह छोटा दिखाई दे।
59. द्यूतविशेष:	:	विभिन्न प्रकार की द्यूत क्रियाओं की कला।
60. आकर्षक्रीड़ा	:	पासा खेलना।
61. बालक्रीडनकानि:	:	बच्चों के विभिन्न खेलों की जानकारी।
62. वैनयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	:	विनयपूर्वक शिष्टाचार सिखाने वाली विद्याएँ तथा आचार-शास्त्र।
63. वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्	:	विजय दिलाने वाली विद्याएँ तथा शस्त्र-विद्या।
64. व्यायामिकीना विद्यानां ज्ञानम्	:	व्यायाम के बारे में जानकारी।

उपर्युक्त 64 कलाएँ आचार्य वात्स्यायन के कला के प्रति विस्तृत दृष्टिकोण से अवगत कराती हैं। यह वर्णन कला की गणना है जो मनुष्य के प्रत्येक क्रिया-कलाप में कला के दर्शन कराता है।

लोक कला जीवन का अविच्छिन्न अंग है जो मानव के सरल हृदय से उत्पन्न होती है। मनुष्य जब सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर भावविभोर होता है तब बिना शास्त्रीय बन्धन के निश्छल भाव से अपने आन्तरिक उल्लास को प्रकट करता है। यह सरलता, सहजता और निश्छलता का भाव ही लोक कला का प्रमुख गुण स्वीकार किया जाता है।

लोक कला का सृजन जिन उद्देश्यों को लक्ष्य कर किया जाता है, उसके आधार पर लोक कला का चार भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है – (i) धर्मानुप्राणित, (ii) उपयोगितावादी, (iii) व्यक्तिवादी तथा (iv) मनोविनोदार्थ।

1. धर्मानुप्राणित लोक कला :

लोक कला धर्मप्रधान होती है । कला के विविध रूपों में हमें लोक-प्रचलित धार्मिक मान्यताएँ और विश्वास उपलब्ध होते हैं जो लोक मानस की धर्मनिष्ठा को उद्धृत करते हैं । लोक कला के विविध रूपों में हमें इस धार्मिक भावना के उदाहरण मिलते हैं । जैसे माँडणा, अल्पना में विविध दैवीय प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है । वहीं पट चित्र और लोक-गाथाओं में ईश्वरीय गुणों से युक्त पात्रों की कथा का चित्रांकन उन्हें धार्मिक भावना से परिपूर्ण बना देता है । वर्ष-पर्यन्त आयोजित अनेक त्योहारों पर बनायी जाने वाली मूर्तियाँ भी लोक मानस की श्रद्धा को आश्रय प्रदान करती हैं । इस प्रकार अधिकांश लोक-कलाएँ इस वर्ग में सम्मिलित की जा सकती हैं जिनका उद्देश्य धार्मिक मान्यताओं को उद्धृत करना होता है ।

2. उपयोगितावादी लोक कला :

मनुष्य ने आदिकाल से वर्तमान वैज्ञानिक युग तक निरन्तर प्रगति की है । उसने अपनी मानसिक और शारीरिक क्षमताओं का प्रयोग कर अपने जीवन को सुगम बनाया है । उसने पत्थर के हथियारों के निर्माण से शुरुआत की और आज अत्याधुनिक उपकरणों के निर्माण के बाद भी निरन्तर नयी सुविधाएँ जुटाने के लिए प्रयासरत है । उसके द्वारा किया गया विविध वस्तुओं का निर्माण भी कला की श्रेणी में ही आता है । वास्तु, वस्त्र, बर्तन, हथियार आदि उपयोगी वस्तुओं के निर्माण की कला को इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

3. मनोविनोदार्थ लोक कला :

कला का एक उद्देश्य जनमानस का मनोरंजन करना भी है । श्रमसाध्य जन-समुदाय के जीवन में मनोविनोद नए उत्साह और स्फूर्ति का संचार करता है । लोक नृत्य, लोक गीत आदि के माध्यम से लोक मानस इसी आनन्द को प्राप्त करता है । इन कलाओं के माध्यम से किसी अन्य उद्देश्य को लक्षित नहीं किया जाता है वरन् इनका एक मात्र उद्देश्य जनमानस को सहज आनन्द की अनुभूति प्रदान करना होता है ।

4. व्यक्तिवादी लोक कला :

लोक कला को समग्र समाज की कृति माना जाता है । वह सम्पूर्ण समाज की भावनाओं को समाहित कर चलती है किन्तु इनमें व्यक्तिवादी भावनाओं को सर्वथा नकारा नहीं गया है । अतः कला का वह रूप, जो मनुष्य की व्यक्तिगत भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है तथा जिससे उसकी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, इस वर्ग के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है ।

लोक कला विविध उद्देश्यों को लक्ष्य कर मानव जीवन को सौन्दर्य और कल्याण की भावना से परिपूर्ण करती है । यह मनुष्य के जीवन को आनन्द और उल्लास से परिपूर्ण कर जीवन को नया लक्ष्य और दृष्टिकोण प्रदान करती है । अतः कहा जा सकता है कि लोक कला मनुष्य जीवन का अविभाज्य अंग है ।

3.4.6 भारत की प्रसिद्ध लोक-कलाओं का परिचय

लोक-कलाएँ लोक समाज की सहज अभिव्यक्ति का सुन्दर स्वरूप हैं । ये कलाएँ युगों से चली आ रही वह परम्परा है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होती है । ये कलाएँ लोक समाज की धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं, आस्थाओं और विश्वास के साथ पली-बढ़ी हैं । इनमें सौन्दर्य तत्त्व ही नहीं वरन् जन समाज में प्रचलित धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्व भी निहित होते हैं । भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रसिद्ध और प्रचलित लोक-कलाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

1. माँडणा

लोक-कलाओं में भूमि अलंकरण का विशेष महत्त्व है । विभिन्न माँगलिक अवसरों पर विविध प्रकार के सुन्दर चित्र भूमि पर बनाए जाते हैं जिसके लिए सहज उपलब्ध वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है । अलग-अलग प्रदेशों में भूमि अलंकरण के लिए अलग-अलग शैलियों का प्रयोग किया जाता है । जैसे – दक्षिण भारत और महाराष्ट्र में रंगोली, बिहार में अरिचन, बंगाल में अल्पना, राजस्थान में माँडणा आदि ।

भूमि अलंकरण कलाओं में माँडणा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । माँडणा शब्द मंडन से बना है, जिसका अर्थ है, 'सजाना', 'सज्जा' । गैरिक पृष्ठभूमि पर बनाए जाने वाले माँडणों का राजस्थानी लोक समाज में विशेष महत्त्व है । माँडणे मन के उत्साह, प्रसन्नता और माँगलिक भावनाओं को व्यक्त करने का श्रेष्ठ माध्यम हैं । इन्हें शुभ-मंगल का प्रतीक माना जाता है । विविध उत्सवों, त्योहारों, जन्मोत्सव, विवाह, यज्ञ-हवन आदि माँगलिक अनुष्ठानों पर माँडणे बनाए जाते हैं । इन्हें बनाने के लिए गेरू मिट्टी, सफेद खड़िया और पांडु (पीली मिट्टी) का प्रयोग किया जाता है । ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ कच्चे घर होते हैं, वहाँ गोबर से आँगन को लीपा जाता है जबकि पक्के घरों में फर्श को गेरू मिट्टी से लीपा जाता है । ये माँडणे की पृष्ठभूमि होती है और इसके सूखने पर खड़िया तथा पांडु का प्रयोग करते हुए विविध आकृतियाँ बनाई जाती हैं ।

माँडणे की पारम्परिक आकृतियों में चतुर्भुज, त्रिभुज, षट्कोण, अष्टकोण, वृत्त आदि ज्यामितीय आकृतियाँ मुख्य हैं । इनके अतिरिक्त कमल, सूर्य, चाँद, सितारे, स्वास्तिक, कलश, पगलिया, शतरंज पट का आधार, आडी-सीधी रेखाएँ, तरंग की आकृति आदि का भी अंकन किया जाता है । ये आकृतियाँ सामाजिक तथा धार्मिक परम्पाराओं पर आधारित होती हैं जो वर्षों पुराने रीति-रिवाज और विभिन्न पर्वों पर लोक समाज विशेषकर नारी के दृष्टिकोण को प्रदर्शित करती हैं । इन आकृतियों में स्वास्तिक का चिह्न सर्वाधिक माँगलिक माना जाता है, यह विष्णु का प्रतीक है । इसी प्रकार दो त्रिभुजों को जोड़कर बनाया गया षट्कोण लक्ष्मी का प्रतीक माना जाता है । चतुष्कोण चारों दिशाओं का प्रतीक है तो त्रिकोण त्रिदेव (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) का, त्रिगुण सात्त्विक-राजसिक-तामसिक भावों का तथा त्रिशक्ति ज्ञान-इच्छा-क्रिया का प्रतीक है । सूर्य अग्नि का तो कुम्भ जल का प्रतीक है ।

राजस्थान में एक कहावत प्रचलित है कि 'आँगन कभी कुँवारा नहीं रहना चाहिए' अर्थात् आँगन में विविध प्रकार के माँडणे बनाकर उसे सुसज्जित करना चाहिए । विविध उत्सवों और माँगलिक अवसरों पर विविध

प्रकार के माँडणे जहाँ घर-आँगन के सौन्दर्य में श्रीवृद्धि करते हैं वहीं माँगलिक भावनाओं और कामनाओं की भी अभिव्यक्ति करते हैं। दीपावली के अवसर पर तो यह कला लोकप्रथा का रूप धारण कर लेती है। घर के मुख्य द्वार, अतिथि कक्ष, पूजा स्थल पर सुन्दर मनोहारी माँडणों का अंकन किया जाता है तथा उन्हें दीपों से सजाया जाता है। दीयों के प्रकाश में माँडणे का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। इसी प्रकार होली पर चंग, बाजोट, चौपड़ का मंडन किया जाता है। विवाह-अवसर पर स्वास्तिक, कलश, चौक आदि माँडे जाते हैं। धन-धान्य से सम्पन्न रहने की कामना के साथ इन माँडणों पर मूँग, चावल, गेहूँ अत्यल्प मात्रा में रखे जाते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि माँडणा चित्र मात्र नहीं है वरन् ये तो लोक समाज की आस्था, विश्वास और मंगलकामना का वह प्रतीक है जो युगों-युगों से परम्परा-पोषित लोक मानस को आत्मिक आनन्द और संतुष्टि प्रदान करता आ रहा है।

माँडणे के चित्र :

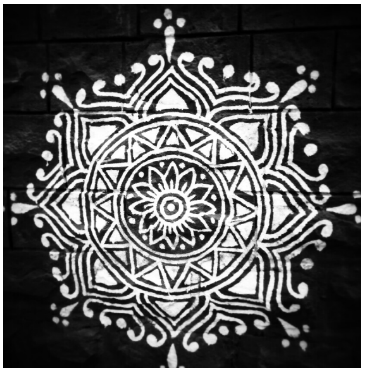

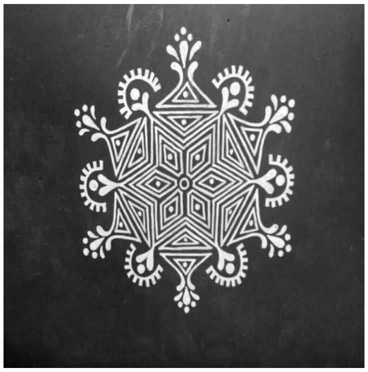

2. मेहँदी

लोक-कलाओं में विविध माध्यमों से अलंकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। अलंकरण की इसी भावना का प्रभाव देह-सौन्दर्य के लिए भी दृष्टिगोचर होता है। जन समाज भूमि और भित्ति अलंकरण के साथ देह अलंकरण के लिए भी विविध साधनों का प्रयोग करता है। शारीरिक सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए आकर्षक वस्त्र और आभूषणों के साथ ही देहांगों पर बनाए जाने वाले कलात्मक चित्रों का भी पर्याप्त महत्त्व होता है। शरीर के विविध अंगों पर गुदना, महावर और मेहँदी के द्वारा सुन्दर कलाकृतियाँ बनाई जाती हैं। गुदना स्थायी तौर पर रहता है, वहीं महावर कुछ सीमित समय तक ही अपना प्रभाव दिखाता है जबकि मेहँदी अपेक्षाकृत अधिक समय (पाँच से सात दिन) तक बनी रहती है। अतः मेहँदी के प्रति जन समाज में विशेष आकर्षण का भाव बना रहता है। मेहँदी शब्द संस्कृत के मेंधिका का अपभ्रंश है। इसके लिए हिना शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। वैदिक काल में मेहँदी का उल्लेख सूर्य के आन्तरिक और हल्दी का उल्लेख सूर्य के बाह्य भाग के प्रतीक के रूप में मिलता है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में मेहँदी को सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है। मेहँदी को स्त्रियों के सोलह शृंगार और चौंसठ कलाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विभिन्न त्योहारों, माँगलिक अवसरों पर स्त्रियाँ स्वयं को सँवारने और अपने उत्साह और उल्लास को प्रकट करने के लिए हाथों और पैरों पर मेहँदी लगाती हैं।

मेहँदी लगाने की तीन परम्परागत विधियाँ हैं – एक, मेहँदी के ताजा पत्तों को पीसकर उनका लेप हाथ-पैरों पर लगा लिया जाता है। दूसरा, मेहँदी के पत्तों को सुखाकर बारीक चूर्ण बनाकर उसमें पानी मिलाकर गाढ़ा घोल बना लिया जाता है और तूलिका या सींक से उठाकर हाथों-पैरों पर मनचाही आकृतियाँ बनाई जाती हैं। राजस्थानी समाज में एक और विधि का प्रयोग किया जाता है जिसमें मेहँदी के घोल में भिंडी का रस मिलाकर उसे चिपचिपा बना लिया जाता है और तर्जनी और अँगूठे के बीच थोड़ी-थोड़ी मेहँदी लेकर चेप बनाते हुए सुन्दर आकृतियाँ बनाई जाती हैं।

विवाहित स्त्रियाँ हाथ-पैरों पर मेहँदी लगाती हैं, वहीं कुँवारी कन्याएँ केवल अपने हाथों पर मेहँदी लगाती हैं। परम्परागत रूप में चाँद, सूरज, फूल-पत्ती, चक्र, लहतरिया, घेवर, पान, कैरी, कलश, मोर आदि आकृतियों का चित्रण किया जाता है, वहीं माँडणे में प्रयुक्त आकृतियों को भी बारीकी से बनाया जाता है। विवाह-अवसर पर मेहँदी की रस्म भी निभाई जाती है और मेहँदी से सम्बद्ध गीत गाये जाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि मेहँदी माँडने की परम्परा सौभाग्य और मंगल की प्रतीक है। भारत के लोक समाज में सभी मांगलिक अवसरों और त्योहारों पर इसे लगाया जाता है। मेहँदी के बिना नारी का शृंगार अधूरा है।

मेहँदी के चित्र :

3. पट चित्र

भारतीय लोक समाज में चित्रकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आदिकाल में गुफाओं की कठोर चट्टानों पर की जाने वाली चित्रकारी निरन्तर विकसित होती रही और आज इसकी अनेक शैलियाँ और उपशैलियाँ विकसित हो चुकी हैं। इन्हीं शैलियों में एक प्रमुख और प्रसिद्ध शैली है, 'पट चित्र'। पट चित्र कैनवास (चित्र फलक) पर बनाई जाने वाली चित्रकारी है। प्रायः चित्रकारी के लिए तीन प्रकार के चित्र फलकों का प्रयोग किया जाता है –

1. ताड़ के पत्तों से निर्मित चित्रफलक। इस शैली का प्रयोग उड़ीसा में अधिक लोकप्रिय है।
2. कपड़े से निर्मित चित्रफलक। इस शैली का प्रयोग राजस्थान में अधिक किया जाता है।

3. कागज द्वारा निर्मित चित्रफलक। कागज के चित्रफलक पर बनाए गए चित्रों का प्रयोग पोथियों में किया जाता है।

ताड़ के पत्तों से चित्रफलक बनाने के लिए ताड़ के पत्तों को जोड़कर चौकोर आकार दिया जाता है और फिर उस पर चित्रकारी की जाती है। कपड़े का चित्रफलक बनाने के लिए खादी के वस्त्र पर आटे या चावल का माँड लगाकर कपड़े की घुटाई की जाती है। इससे कपड़े की चमक और चिकनाई बढ़ जाती है और वह इतना सख्त हो जाता है कि चित्रकारी के दौरान रंगों के बहने का भय नहीं रहता। कपड़े का कैनवास बनाने के लिए उड़ीसा में अलग विधि का प्रयोग किया जाता है। इसके लिए शिल्पकार इमली के बीजों को भिगोकर पीस लेता है और उसे गर्म कर गाढ़ा घोल बनाता है। इस घोल से दो कपड़ों को चिपका दिया जाता है और उस पर मिट्टी का लेप किया जाता है। कपड़ा सूखने पर पक्का हो जाता है तब उस पर पॉलिश की जाती है। इस प्रक्रिया में कपड़ा चमड़े की तरह मजबूत और उसकी सतह नरम हो जाती है। इस प्रकार तैयार कैनवास पर विविध भाँति की चित्रकारी की जाती है।

पट चित्रों में प्रायः राजा-महाराजाओं के चित्र, देवी-देवताओं के चित्र, रामायण और भागवत कथा से सम्बद्ध चित्र, लोकप्रसिद्ध नायकों की कथा के चित्र आदि बनाए जाते हैं। इन पट चित्रों में सौन्दर्य की सृष्टि के लिए प्राकृतिक तत्त्वों यथा पशु-पक्षियों, फूलों-फलों, पेड़ों-लताओं का चित्रण भी किया जाता है। इसमें सौन्दर्य वृद्धि के लिए प्रायः बॉर्डर बनाए जाते हैं। इनमें चित्रित नायक-नायिका के नेत्रों का चित्रण विशिष्ट प्रकार से किया जाता है। नेत्र उठे हुए और कानों तक खिंचे हुए होते हैं। भौहों का फैलाव भी नेत्रों के समान ही होता है। नाक अनुपात से अधिक लम्बी और ठोड़ी बाहर की ओर उभरी हुई होती है। पट चित्रों में रंग-संयोजन का विशेष महत्त्व होता है। चित्रों में प्रयुक्त रंग प्राकृतिक होते हैं जो वर्षों तक फीके नहीं पड़ते। लोक चित्र शैलियों में चित्रित आकृतियों के भावों का प्रदर्शन ही इनका मूल उद्देश्य होता है किन्तु पट चित्र में भाव अंकन के साथ ही सुघड़ता को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है जिससे यह शास्त्रीय शैली के समीप दिखाई देती है।

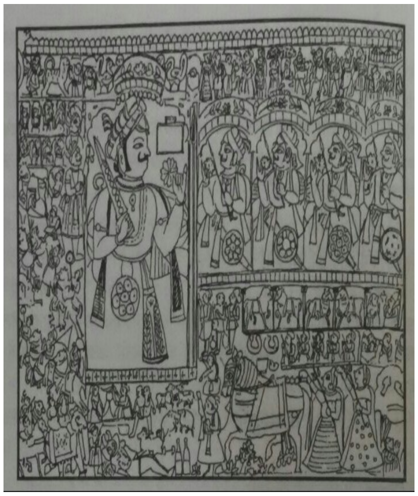

पाबूजी की पड़ का चित्र

शिव पार्वतीजी का चित्र

4. भित्ति चित्र

मनुष्य में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह अपने आस-पास के वातावरण और स्वयं को सुन्दर बनाने, अलंकृत करने के लिए विशेष प्रयास करता है। लोक समाज में अलंकरण के तीन रूप प्रचलित हैं – भूमि अलंकरण, भित्ति अलंकरण, देह अलंकरण। देह अलंकरण के द्वारा स्वयं के शरीर को सुसज्जित करने की भावना होती है वहीं भूमि और भित्ति अलंकरण अपने घर को अलंकृत करने की कलाएँ हैं। भूमि अलंकरण के अन्तर्गत माँडणा और देह अलंकरण के अन्तर्गत मेहँदी का वर्णन किया जा चुका है। भित्ति अलंकरण कला में दीवारों पर सुन्दर चित्र बनाकर उन्हें सौन्दर्य से युक्त बनाया जाता है वहीं इसके अन्तर्गत लोक समाज की धार्मिक भावनाओं को भी प्रश्रय मिला है।

भित्ति चित्र बनाने की परम्परा आदिम काल से चली आ रही है। भीमबेटका की गुफाओं मे प्राप्त भित्ति चित्र प्राचीनकाल के हैं। यही कला धीरे-धीरे विकसित होती गई और आज भित्ति चित्रण के लिए विविध शैलियों का प्रयोग किया जाता है। जैसे –

1. भूमि अलंकरण के लिए बनाए जाने वाले माँडणों का अंकन दीवारों को सुन्दर बनाने के लिए भी किया जाता है। इनकी रचना के लिए भूमि पर बनाए जाने वाली रचना-प्रक्रिया का ही निर्वाह किया जाता है। दीवारों पर बनाए जाने वाले माँडणों में धार्मिक आस्था के चिह्न, देवी-देवताओं के प्रतीक, स्वास्तिक आदि को प्राथमिकता दी जाती है। विभिन्न धार्मिक पर्वों, जैसे दीपावली, नागपंचमी, गणगौर पर अपने आराध्य के प्रतीकस्वरूप माँडणे दीवारों पर चित्रित किए जाते हैं और उनकी पूजा की जाती है। घर के प्रवेश द्वार के दोनों तरफ आकर्षक बेल-बूटे, कलश, स्वास्तिक आदि बनाकर उसे सुन्दर और आकर्षक बनाया जाता है।
2. भित्ति चित्र के लिए दीवार पर विविध रंगों का प्रयोग कर आकर्षक चित्र बनाने की परम्परा भी विद्यमान है। इसके अन्तर्गत प्रायः पशु-पक्षियों, लोक समाज की झाँकी, देवी-देवताओं सम्बन्धी प्रसंगों के चित्र बनाकर दीवारों को सजाया जाता है। विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर प्रवेश द्वार के दोनों तरफ बनाए जाने वाले हाथी का चित्र वैभव का प्रतीक है तो मोर का चित्र सौन्दर्य का, वहीं कलश लिये महिला का चित्र शुभता का सूचक माना जाता है। इन चित्रों को बनाने के लिए प्रायः चटक रंगों का प्रयोग किया जाता है।
3. भित्ति चित्र मात्र दीवारों के अलंकरण की कला ही नहीं है वरन् ये लोक समाज की आस्था, विश्वास का भी प्रतीक है। पारम्परिक भित्ति चित्र की एक शैली है, 'संजा'। इसमें दीवारों पर मिट्टी और गोबर को मिलाकर बनाए गए मिश्रण से कलात्मक दैवीय आकृतियाँ उकेरी जाती हैं और उन्हें फूलों-रंगों इत्यादि से सजाया जाता है। परम्परागत विधि-विधान से इनकी पूजा की जाती है। यह कला धार्मिक विश्वासों और सामाजिक मान्यताओं का सुन्दर संयोजन है।

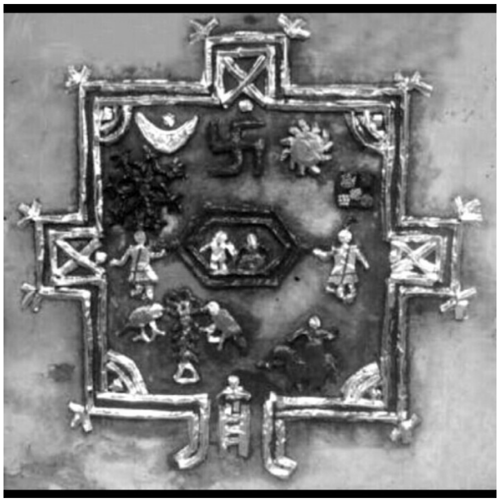

संजा का चित्र

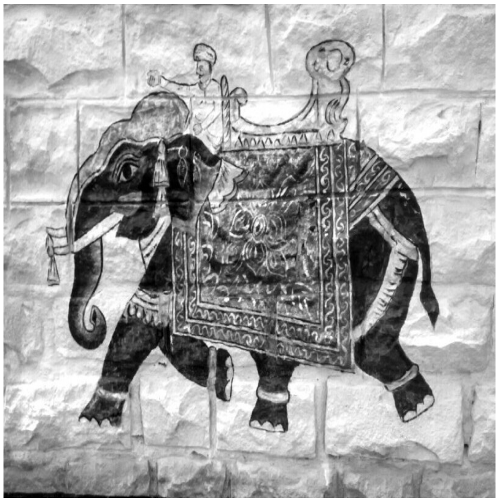

प्रवेश द्वार पर हाथी का चित्र

3.4.7 पाठ-सार

कला मनुष्य की सौन्दर्य कल्पना को साकार करने का माध्यम है। यह मनुष्य की मानसिक शक्तियों और व्यक्तित्व-विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। लोक कला लोक समाज की भावनाओं, परम्पराओं, रीति-रिवाजों का सुन्दर और सरल चित्र प्रस्तुत करती है। लोक-कलाओं का क्षेत्र विस्तृत है। इसके अन्तर्गत लोक गीत, लोक गाथा, लोक नृत्य को स्वीकार किया जाता है। वहीं हस्तशिल्प कलाओं को भी इसका एक अंग माना है तथा घर-आँगन और देह-सौन्दर्य को बढ़ाने वाली विधाओं की गणना भी इसके अन्तर्गत की जाती है।

लोक-कलाएँ प्राचीनता, धार्मिकता, पारम्परिकता, प्रतीकात्मकता, अनामता, समन्वयवादिता, संस्कृति की संवाहिका जैसी अनेक विशेषताओं से युक्त जनमानस की वह सुन्दर और सरल अभिव्यक्ति है जो सर्वमंगल की कामना से युक्त है। बृहत् अर्थ में वे समस्त क्रियाएँ, जिन्हें करने में कौशल की आवश्यकता होती है, कला कही जा सकती हैं। इसी बृहत् अर्थ को ग्रहण करते हुए वात्स्यायन ने कला के चौंसठ भेद बताए हैं। कला के उद्देश्यों को लक्ष्य कर उन्हें धर्मानुप्राणित, उपयोगितावादी, व्यक्तिवादी, मनोविनोदार्थ वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

लोक कलाओं में सौन्दर्यकरण की भावना के आधार पर कला को तीन वर्गों में बाँटा गया है – भित्ति अलंकरण, भूमि अलंकरण और देह अलंकरण। भित्ति अलंकरण में जहाँ विविध प्रकार के चित्रों को स्वीकार किया जाता है वहीं भूमि अलंकरण में माँडणा, रंगोली, अल्पना आदि मुख्य हैं। देह अलंकरण में मेहँदी विशेष रूप से उल्लेख्य है। ये सभी कलाएँ एक ओर सौन्दर्य-पिपासा को तृप्त करती हैं वहीं दूसरी ओर लोक समाज की मान्यताओं, विश्वास और परम्पराओं में भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। समग्रतः लोक-कलाएँ "सत्यं शिवं सुन्दरम्" के मूल मंत्र से युक्तहोकर जन-समाज के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती हैं।

3.4.8 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कला शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. लोक कला से आप क्या समझते हैं ?
3. "साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः ।" को स्पष्ट कीजिए।
4. भारत में प्रचलित प्रमुख हस्तशिल्प कलाओं का उल्लेख कीजिए।
5. धर्मानुप्राणित लोक कला से आप क्या समझते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कला के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
2. लोक कला की प्रमुख विशेषताओं को विस्तारपूर्वक समझाइए।
3. लोक समाज में हस्तशिल्प कला का महत्त्व बताते हुए विविध हस्तशिल्प कलाओं का परिचय दीजिए।
4. "मनुष्य के प्रत्येक क्रियाकलाप में कला के दर्शन होते है ।" – उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कला के भेद और वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।
5. आपके प्रदेश में प्रचलित लोक-कलाओं का परिचय देते हुए उनकी विशेषताओं को बताइए।

3.4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. कासलीवाल, मी. (2013), ललित कला के आधारभूत सिद्धान्त, जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ISBN : 978-93-5131-021-1.
2. गोस्वामी, प्रे. (1997), भारतीय कला के विविध रूप, जयपुर, पंचशील प्रकाशन, ISBN : 978-81-7056-132-9.
3. शर्मा, भ. (2011), लोक कला में माँडणे, निवाई, नवजीवन पब्लिकेशन, ISBN : 978-81-8268-044-1.
4. माथुर, क. (2010), पारम्परिक कला एवं लोक संस्कृति, जयपुर, साहित्यागार, ISBN : 978-81-7711-222-1.

❖❖❖

खण्ड – 4 : हिन्दी का लोक-साहित्य

इकाई – 1 : हिन्दी के लोक-साहित्य का इतिहास, विभिन्न जनपदीय बोलियाँ, यथा – राजस्थानी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेली, हरियाणवी, खड़ीबोली, कुमाऊँनी, गढ़वाली, छत्तीसगढ़ी, बघेली, मालवी, कन्नौजी और उनका लोक-साहित्य

इकाई की रूपरेखा

4.1.0 उद्देश्य कथन
4.1.1 प्रस्तावना
4.1.2 हिन्दी बोलियों की लोक-परम्परा
4.1.3 हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियाँ
4.1.3.01 राजस्थानी
4.1.3.02 ब्रजभाषा
4.1.3.03 कन्नौजी
4.1.3.04 मालवी
4.1.3.05 बुंदेली
4.1.3.06 बघेली
4.1.3.07 छत्तीसगढ़ी
4.1.3.08 अवधी
4.1.3.09 भोजपुरी
4.1.3.10 हरियाणवी (बाँगरू)
4.1.3.11 खड़ीबोली
4.1.3.12 कुमाऊँनी
4.1.3.13 गढ़वाली
4.1.4 पाठ-सार
4.1.5 बोध प्रश्न
4.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.1.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ में हिन्दी के लोक-साहित्य का इतिहास और विभिन्न जनपदीय बोलियाँ, यथा – राजस्थानी, भोजपुरी, ब्रज, अवधी, बुंदेली, हरियाणवी, कुमाऊँनी, गढ़वाली, छत्तीसगढ़ी, बघेली, मालवी, कन्नौजी आदि भाषाओं के लोक-साहित्य का अध्ययन किया जाएगा। इस पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. समझ सकेंगे कि लोक-साहित्य क्या है और उसका क्या महत्त्व है ?
ii. जान सकेंगे कि आज लोक-साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता क्यों है ?

iii. लोक-साहित्य के स्वरूप का सोदाहरण परिचय प्राप्त करेंगे।

iv. हिन्दी के लोक-साहित्य की शैली, शिल्प एवं प्रस्तुतीकरण के विषय में समझ विकसित कर सकेंगे।

v. हिन्दी लोक-साहित्य के विराट् फलक से अवगत हो सकेंगे।

vi. हिन्दी लोक-साहित्य की सम्प्रेषणीयता, संवेदना एवं अभिव्यक्ति क्षमता का मूल्यांकनकर सकेंगे।

4.1.1 प्रस्तावना

हिन्दी लोक-साहित्य गंगोत्री के समान आदिम उद्‌भावनाओं का उद्‌गम स्थल है। भारत मूलतः ग्रामीण संस्कृति वाला देश है। इस देश का प्राणतत्त्व लोक मानस एवं लोक प्रतिभा में विद्यमान है। लोक पर मुग्ध होने वाले महानुभावों में रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसा सुसंस्कृत व्यक्तित्व भी था। हमारी सभ्यता के महीन धागे इन्हीं लोक-साहित्यों में विद्यमान हैं। इसमें कोयल की कुहुक है तो हाथी की चिंघाड़ भी है और पपीहे की करुण पुकार भी है। मानवीय संवेदनाओं की मार्मिक परतें इन्हीं लोक-साहित्य में खुलती हैं। शिष्ट साहित्य में जहाँ कहीं-कहीं बाज़ारूपन है, वहीं इस गँवारू या ग्रामीण कहे जाने वाले लोक-साहित्य में मनुष्यता की प्रखर परिभाषा है। वस्तुतः लोक-साहित्य सहज प्रस्फुटित मानवीय पारिस्थितिकी की गरिमा गाथा है जो प्राकृतिक रूप से अन्तःसरस-सलिला-सी झर-झर बहती रहती है और सार्वकालिक रूप में मानव मन को अपनी ओर आकर्षित करती रहती है।

प्रकृति को न समझ पाने के कारण आदिम काल में यह मनुष्य के लिए रहस्यस्वरूपा थी इसलिए लोक-गीतों में देवों को मनाए जाने की परम्परा भी आई और भक्ति के गीत 'पचरा' (देवीगीत) आदि लोक-गीतों में परिणत हुए। ये गीत मंत्र की तरह प्रभावकारी एवं मनमुग्ध करने वाले हैं। हृदय की भावनाएँ जब शब्दों में फूटी होंगी और स्वर, लय, तुक अपने प्रवाह में बहे होंगे, प्रकृति और मनुष्य ने जब एक-दूसरे से तादात्म्य स्थापित किया होगा तब ऋतुगीतों की रचना हुई होगी। प्रकृति की उत्तेजक परिवर्तनशीलता, उसके क्रिया-कलाप और उसकी भावपरक आसक्ति भी लोक कलाओं को आविष्कृत करने में सहयोगी रही हैं। मनुष्य की अपनी परिवर्तनशीलता भी इसमें सहयोगी थी। यही कारण है, साहित्य जब स्वयं में शुष्क पड़ जाता है तो उसे भी रस लेने के लिए लोक जीवन के पास आना पड़ता है। जब तक लोक जीवन है तब तक साहित्य है।

लोक जीवन की बात करना लोक-साहित्य की बात करना ही है। जिन्दगी जब अपने संघर्षमय स्वरूप में सामने आकर खड़ी हो जाती है, उन्हीं क्षणों का अखण्ड और अविचलित आत्मबल ही लोक-गीतों का प्रमुख स्वर है। लोक-गीतों में नवागन्तुक का हृदय से स्वागत होता है चाहे वह मनुष्य हो या प्रकृति। लोक-गीतों का वर्ण्य-विषय रोचक, सजीव और मार्मिक होता है। मनुष्य जीवन में जो भी सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, अंतरंग और जीवनपूर्ण है उसे व्यक्त करने की क्षमता लोक-साहित्य में है। अतः लोक-साहित्य अपने काल के साथ सम्बद्ध होकर लोक-संवाद-संघर्ष और आपसी सम्बन्धों की उद्‌घोषणा है। जब सभ्यता पतनोन्मुखी हो रही हो तब भी लोकोन्मुख होकर प्राणवायु को ग्रहण किया जा सकता है बशर्ते लोकराग में भी सभ्यता का ड्रम न बजने लगा हो। हमारी जातीय-संस्कृति स्वयं को लोक-गीतों में ही सुरक्षित महसूस करती हैं। "लोक-गीतों की लय लोक-गीतों की भाषा संरचना, लोक-गीतों का कथ्य इन सबमें मानवीय चेतना के आदिम प्रसंगों को तलाशा जा सकता है। ये

उन्हीं मूल संवेदना से आज हमें जोड़ते हैं। हमारे संस्कारों के प्रारम्भिक परतों को स्पन्दित करने की शक्ति बारम्बार हमें उन्हीं अनुभवों में ले जाती है जहाँ से अनुभव की यात्रा प्रारम्भ हुई थी। ऐसे अनुभवों से जुड़ना जड़ की प्राणशक्ति से जुड़ना है। लोक-मन से उपजी जीवन की लय ही लोक-गीतों की लय है। चाहे वह श्रमिक मन से आयी हो, प्रकृति प्रेरित हो या मन की उमस से आकुल-व्याकुल होकर उपजी हो। समूह-जीवन की आन्तरिक धड़कनों को इसमें सुना जा सकता है।"[1]

4.1.2 हिन्दी बोलियों की लोक-परम्परा

भाषा के उद्‌भव में श्रम-परिहरण सिद्धान्त जितना सच है, उतना ही सच है श्रमिक लोगों के स्वतः स्फूर्त स्वरों द्वारा लोक-गीतों की रचना का होना। वस्तुतः श्रम को आनन्द की कोटि तक पहुँचाने की दिव्य-यात्रा ही लोक परम्परा है। अपने-अपने कार्य में जुटे लोगों के कण्ठ से ही लोक गीत का अति लघुरूप सर्वप्रथम फूटा होगा। वस्तुतः तो यह लोक उद्‌गार है जो लोक गीत, लोक गाथा, लोक नाट्य आदि विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित हुआ है। जब नगरीय सभ्यता से थके-हारे शिष्ट लोगों को इस लोक-साहित्य ने अपनी ओर आकर्षित किया होगा तभी से इसे लिपि-बद्ध करने का विचार जन-मन में आया होगा और लोककण्ठ से प्रस्फुटित मधुर स्वर ने लोक-साहित्य का रूप धारण किया होगा। यह इसलिए कि साहित्य शब्द आते ही लिखित परम्परा का रूप ही अर्थ का आकार ग्रहण करता है। गाँव जब शहरी सभ्यता के सम्पर्क में आया तो वह मजदूर (वर्कर) बन गया और उसके पसीने में ग्रीस लगकर यह सब तहस-नहस हो गया। अन्यथा जगत् विदित है कि इस लोक गीत परम्परा ने लोगों में जो रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा है वह जुड़ाव किसी प्रवचनकारी विद्वान् के द्वारा कभी सम्भव नहीं था।

लोक में यथार्थ का पुट रहता है। उसमें मानव हृदय की सभी भावनाएँ अभिव्यक्ति पाती हैं। उसे सुनने वाला श्रोता एक लघु समाज ही होता है। जहाँ दोनों के मध्य एक ही नाता रहता है, स्वर और आनन्द का। लोकसंगीत का ताना-बाना भी श्रम के अनुपात में श्वासों के आरोह-अवरोह द्वारा बुना जाता है। जाँता (चक्की) पीसती औरतों की लय गति, उसकी घर्र-घर्र और शारीरिक घुमाव भी इन लोक-गीतों में प्रयुक्त हैं जिसे 'जँतसार' कहते हैं। श्रम के अनुसार ही गीतों के विभिन्न भाव और रंग होते हैं। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का लगाव-जुड़ाव, प्रेम-वियोग, मन-मुटाव, मान, व्यंग्य, हँसी, परिहास सब कुछ कच्चे कोरे धागे के समान विद्यमान रहता है।

लोक-साहित्य के मुख्यतः दो रूप हैं – लोक गाथा तथा लोक गीत। लम्बे आख्यान वाले काव्य को लोक गाथा तथा मुक्तक काव्य को लोक गीत कहते हैं। जहाँ शिष्ट साहित्य का सम्बन्ध अभिजात्य वर्ग से है वहीं लोक-साहित्य का सीधा सम्बन्ध सामान्य जन से है इसीलिए इसकी भाषा लोकभाषा है। जनसामान्य के मनोरंजन, हास-विलास इसी लोकभाषा में होते हैं। लोकजीवन की अनभूतियों और संवेदनाओं को जिस रूप में व्यक्त किया गया है उसी को लोक-साहित्य कहा जाता है।

सर्वसामान्य लोग जो कुछ भी सोचते हैं, अनुभव करते हैं, चिन्तन-मनन करते हैं, उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति लोक-साहित्य में होती है। यह जीवन के विभिन्न संस्कारों और परिवर्तित ऋतुओं पर गीत गा-गाकर

अपने लोकजीवन का मनोरंजन करता है। समय-समय पर कही जाने वाली लोकोक्तियों में ग्रामीणजन के हृदयगत विचारों और भावाभिव्यक्तियों को देखा जा सकता है। सामान्य व सहज स्वभाव वाली जनता के रागात्मक अनुभूतियों का प्रकाशन ही लोक-साहित्य है। इसीलिए जब भिखारी ठाकुर को शेक्सपियर की उपाधि दी जाती है तो इसमें मान शेक्सपियर का ही बढ़ता है। लोक-साहित्य की प्रमुख पाँच विधाएँ हैं –

1. लोक गीत (मुक्तक रूप में)
2. लोक गाथा (प्रबन्धात्मक काव्य रूप में)
3. लोक कथा (मौखिक कथाएँ)
4. लोक नाट्य (नौटंकी आदि)
5. प्रकीर्ण साहित्य अथवा लोकसुभाषित (लोकोक्तियाँ, मुहावरे, पहेलियाँ, खेलगीत आदि)

लोक-साहित्य का अर्थ है, 'वह साहित्य जिसे लोक ने रचा।' ऋग्वेद में लोक के लिए 'जन' शब्द का प्रयोग हुआ है इसीलिए लोक-साहित्य सर्वसाधारण का साहित्य है। मनुष्य कितने भी विकसित समाज को गढ़ ले, उसका आदिम नाता लोक-साहित्य से होता ही है। वैसे लोक का व्यापक अर्थ भी है – 'तीन लोक चौदह भुवन' एक विशेष प्रकार के वायुमण्डल में रहने वाले समुदाय को भी लोक कहते हैं, जैसे 'धरतीलोक'। इसकी व्यापकता धरा के इस कोने से लेकर आखिरी छोर तक है। अतः यह 'लोक' अनेक प्रकार से विस्तृत है। हर वस्तु में इसकी व्याप्ति है। प्रकृति और मनुष्य का आदि इतिहास जो भी बनता होगा वही इस 'लोक' शब्द एवं लोक-साहित्य का इतिहास होगा। यह प्रत्युत्पन्नमति जैसा नहीं है। इसकी जड़ें बड़ी गहरी हैं। यह वस्तुतः मानव का ऐतिहासिक दस्तावेज है।

आज जब कि मानव-मूल्यों का ह्रास तीव्रता से हो रहा है, ऐसे में सम्भव है कि लोक-साहित्य के कच्चे धागे हमें मानवीय बन्धनों में पुनः बँधने के लिए विवश कर दे। यदि गम्भीरतापूर्वक क्षेत्रीय सर्वेक्षण अध्ययन द्वारा भारत की जनपदीय लोक-साहित्य की तुलना समूचे विश्व साहित्य से की जाएगी तो ज्ञात होगा हम सब एक ही आत्म-बन्धन में बँधे हुए हैं। यह लोक-साहित्य हमें षड्विकारों से दूर रखते हैं। ये हमारी मुक्ति का सहज मार्ग हैं। समाज की जिन समस्याओं से वैचारिकी मुठभेड़ करती हुई दिखाई देती है उन्हीं समस्याओं का बोधगम्य समाधान लोक-साहित्य में होता है। भाषा की शिष्टता को छोड़ दें तो हिन्दी साहित्य की छायावादी कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

भाषा बनने की प्रक्रिया में लोक-साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। पाणिनी ने भी 'लोक' की सत्ता को माना है। शब्दों की व्युत्पत्ति में वेद तथा लोक-व्यवहत स्वरूपों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। भरतमुनि ने तो नाटक की लोकधर्मी प्रवृत्ति का विस्तृत उल्लेख किया है। प्राचीन ग्रन्थों की रचना लोकधर्मी ही रही है चाहे महाभारत हो या गीता के उपदेश। तुलसी ने अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना 'मानस' लोक को ही सुपुर्द की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी रचनाओं में 'लोक' शब्द का व्यापक प्रयोग किया है। 'लोक' शब्द ही कालान्तर में लोग बना गया। साहित्य में लोक विशेषण रूप में प्रयुक्त हआ है। लोक की ऐतिहासिक यात्रा कुछ इस प्रकार है –

1. भारतीय साहित्य में 'लोक' शब्द प्राचीनकाल से ही प्रयुक्त होता रहा है। लोक का सर्वग्राह्य अर्थ है, 'सम्पूर्ण जनमानस'।
2. ऋग्वेद में लोक शब्द का प्रयोग जन के लिए हुआ है।
3. पुरुषसूक्त में लोक स्थान तथा प्राणियों के पर्याय के रूप में लिया गया है।
4. अथर्ववेद में यह 'लोक' दो रूपों में है – 'इहलोक' और 'परलोक'।
5. उपनिषदों में लोक का व्यापक अर्थ है। प्रत्येक वस्तु में निहित और प्रयास करने पर भी जो अप्राप्य हो उसे इस रूप में वर्णित किया गया है।
6. 'महाभारत' और 'भगवद्गीता' में भी 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है। हरिवंशराय बच्चन ने भी 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में लोकशील की बात कही है।

4.1.3 हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियाँ

भारत में अंग्रेज अधिकारी भले ही शासन करने की दृष्टि से आये थे लेकिन उनकी रुचि यहाँ की सांस्कृतिक धरोहर और सम्पदा में भी बढ़ने लगी। यह स्वाभाविक भी था। इसके पीछे दो कारण थे – (i) उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि (ii) इन अध्ययनों द्वारा यहाँ की जनता को समझना और उनसे निकटता स्थापित करने का प्रयास करना। वे यहाँ के मेलों, रीति-रिवाजों, शादी-ब्याह, मान्यता, विचित्र अन्धविश्वासों के प्रति आकर्षित हुए। अंग्रेजों ने ही लोक-धरोहर को लिपिबद्ध करवाया। अंग्रेज अध्ययनकर्त्ताओं के समानान्तर ही भारतीय विद्वानों ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। भारत में लोक-साहित्य का सर्वेक्षण, संकलन, संग्रह, अध्ययन, अनुसन्धान का शुभारम्भ विदेशी विद्वानों द्वारा किया गया। "सन् 1784 में (एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल) के द्वारा इसकी नींव पड़ी थी पर कर्नल टॉड द्वारा इसका शुभारम्भ माना गया है।"[2]

4.1.3.01 राजस्थानी

राजस्थान का मूल लोक-साहित्य वहाँ के वीरों की सजीव गाथाएँ हैं। यहाँ की लोक-गाथाओं में राजस्थान के वीरों के अदम्य साहस और शौर्य का वर्णन है। इन धरती-पुत्रों की शौर्य-गाथाएँ इतनी जीवन्त हैं कि श्रोता को सीधे उस काल का भ्रमण करा देती हैं। वीरों का एक सजीव चलचित्र आँखों के सामने घूम जाता है।

कर्नल टॉड ने लोक-साहित्य के अध्ययन-अनुसन्धान के क्षेत्र में अथक परिश्रम किया है। उनके ग्रन्थ 'एनाल्स एंड एंटीक्वीटीज़ ऑफ राजस्थान' में राजस्थान के खान-पान, रीति-रिवाज, वेशभूषा, शौर्य-गाथाओं आदि का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। इस ग्रन्थ में राजपूताना काल का सम्यक् इतिहास है। यहाँ की डिंगल भाषा का अध्ययन इटली के विद्वान् एल.पी. टॅसीटोरी ने किया है। यहाँ के चारणों के गीतों का संकलन और संरक्षण करने का श्रेय भी इन्हीं को जाता है। लेखक ने स्वयं राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रमण कर वहाँ की माटी में लोक की सुगन्ध को सूँघने का प्रयास किया है। राजस्थान की ग्रामीण हिन्दू-मुस्लिम साझा संस्कृति प्रेरणादायी है। छोटी-सी सारंगी पर बजती हुई सर्वाधिक प्रचलित धुन 'केसरिया बालमा, आवो नी, पधारो म्हारो देस रे !'

मानों हमारे कानों को कुछ गूढ़ सन्देश, प्रेम-गाथाओं एवं वीर-गाथाओं को सुनने का निमन्त्रण देती है। कठपुतली-नाच और स्वाँग के माध्यम से लोक कथाओं का वर्णन करना सहज रूप में दर्शकों को आकर्षित करता है। वहीं अजमेर शरीफ में सूफी-गीतों की धुन हमें एक अलग ही कालखण्ड में ले जाती है। 'नरसी मेहता का मायरा' एक नवीन विधा है। कृष्णभक्तिगाथा, जिसमें एक भक्त अपनी पुत्री को मायरा भेजने में असमर्थ पाता है, पर उसकी अगाध भक्ति के वशीभूत हो कृष्ण स्वयं उसकी पुत्री के घर मायरा देने जाते हैं। वह मायरा अद्वितीय है। यह एक भक्त की मार्मिक कथा है तथा मायरे के माध्यम से समाज में प्रचलित प्रथा का ज्ञान भी कराती है। वहाँ की लोक कथाओं में वीरों की अदम्य शौर्यगाथा, निश्छल प्रेमगाथाएँ हैं। लोक नृत्य में कठपुतली नृत्य एवं कठघोड़े का नृत्य है और लोक नाट्य स्वाँग महत्त्वपूर्ण हैं।

राजस्थानी लोक-साहित्य के प्रमुख रूप –

लोक गाथा	:	नरसी मेहता का मायरा, प्रेम और शौर्यगाथाएँ
लोक गीत	:	'केसरिया बालमा आवो नी पधारो म्हारो देस रे' जैसे गीत एवं संस्कार गीत
लोक नृत्य	:	कठपुतली नृत्य, कठघोड़ा नृत्य
लोक नाट्य	:	स्वाँग

4.1.3.02 ब्रजभाषा

यह ब्रज क्षेत्र की भाषा है। इसे 'ब्रज' कहते हैं। हिन्दी की सभी बोलियों में ब्रजभाषा प्रमुख है। इसके द्वारा पश्चिमी हिन्दी की बोलियों को सरलता से समझा जा सकता है। आधुनिक मथुरा जनपद और इसके आसपास का क्षेत्र ब्रज मण्डल कहलाता है। इस भाषा को ब्रजी, ब्रिज की भाषा, माधुरी, मधुरही, पुरुषोत्तम भाषा, नागभाषा तथा ग्वालियरी भी कहते हैं। शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न ब्रजभाषा सभी भाषाओं में उच्चासीन है। शौरसेनी का दूसरा नाम ब्रज मण्डल है। इसकी उपबोलियाँ हैं – भुप्सा, अन्तर्वेदी, डांगी, जादवाल। मथुरा, आगरा और अलीगढ़ इसका मुख्य क्षेत्र हैं। यदि हम कबीर, सूर और तुलसी को पढ़ते और समझते हैं तो देश के बहुत बड़े भूभाग की बोली-भाषा को समझ सकते हैं। कबीर की काव्य-भाषा में भोजपुरी का विशद् क्षेत्र समाया है तो सूर की काव्य-भाषा में समूचा ब्रजमण्डल – एटा, इटावा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली, गुडगाँव, धौलपुर, मथुरा, अलीगढ़, आगरा, भरतपुर क्षेत्र है और तुलसी की काव्य-भाषा में फैजाबाद, बैसवाड़ा से लेकर मध्य प्रदेश तक का बड़ा क्षेत्र समाया हुआ है। थोड़े-बहुत अन्तर के साथ इतने बड़े क्षेत्र को समझा जा सकता है। इन सन्त-भक्त कवियों ने अपनी वाणी से देश की सांस्कृतिक एकता को भाषाई आधार प्रदान किया है और भाषाविज्ञान के लिए एक नया दृष्टिकोण भी दिया है। ग्रियर्सन के अनुसार ब्रजभाषा पश्चिमी हिन्दी की श्रेष्ठतर प्रतिनिधि भाषा है। ब्रजभाषा का साहित्य 14वीं शती से मिलता है। मध्यकाल में ब्रजभाषा समस्त भारतवर्ष की साहित्यिक भाषा रही है। इसका प्रयोग 16वीं शती के अन्त तक रहा तथा कुछ विद्वानों ने 20वीं सदी में भी साहित्य रचा है।

ब्रजभाषा लोक-साहित्य की दृष्टि से सम्पन्न भाषा है। इस भाषा का प्रयोग अपने काव्य में करने वालों में भारत के सिरमौर कवि सूरदास, नन्ददास, बिहारी, मतिराम, भूषण, देव, रत्नाकर और आधुनिक काल के भारतेन्दु

तक रहे हैं। इस भाषा में शब्दान्त में 'ओ' और 'ई' रहता है – आया का आयो, होता का होतो, दूजा का दूजो। 'ड' के स्थान पर 'र'। जैसे – जुड़तो के स्थान पर जुरतो। अधिकतर शब्द उकारान्त होते हैं। जैसे– माल के स्थान पर मालु, सब के स्थान पर सबु। इस भाषा में सर्वनाम हम के स्थान पर हौं और था के स्थान पर हुतो, देखने के स्थान पर देखन, मारता के स्थान पर मारतु हो जाता है।

ब्रजक्षेत्र का रासलीला और होली नृत्य मानों मनोरंजन के गंगा-यमुना का दोआब है। रासलीला अन्य क्षेत्रों में भी होती है परन्तु ब्रज की रासलीला में कई टोलियाँ होती हैं। इसमें पुरुष ही राधा-कृष्ण बनते हैं। मंच पर जब राधा-कृष्ण के चरित्रों का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है तो दर्शक दिव्य कृष्णलीला की साक्षात् अनुभूति से गद्-गद् हो उठते हैं। उनकी वेशभूषा और आंगिक अभिनय स्पृहणीय है। दर्शक रस से सराबोर हो जाता है और अन्त में फूलों की होली से लीला समाप्त होती है, जो दर्शक को ब्रज की कुंजों का स्मरण कराती है।

4.1.3.03 कन्नौजी

कन्नौजी बोले जाने वाले प्रदेश का नाम किसी समय कान्यकुब्ज था। कन्नौज (शहर) ही इसका केन्द्र है। पूर्व के कानपुर, दक्षिण में यमुना और उत्तर में गंगा नदी पार हरदोई शाहजहाँपुर, पीलीभींत इस बोली का क्षेत्र है। कुछ विद्वान् इसे ब्रजभाषा की एक बोली मानते हैं। इसके कुछ लोक-साहित्य प्रकाशित हुए हैं। इसमें 'व' का 'उ' होता है और 'औ' का भी 'उ' होता है। जैसे – सोवत का सोउत और कौन का कउन हो जाता है।

4.1.3.04 मालवी

उज्जैन के आसपास का क्षेत्र मालव के नाम से सदियों से प्रमुखता से जाना जाता है। इस बोली का क्षेत्र रतलाम, प्रतापगढ़, दक्षिण पश्चिम में इंदौर, दक्षिण में भोपाल और हौशंगाबाद का पश्चिम भाग तथा बैतूल का उत्तरी भाग, उत्तर में गुना, उत्तर पश्चिम में नीमच है। देवास, इंदौर, उज्जैन में भी यह बोली जाती है। मालवी की बुंदेली और मारवाड़ी के बीच की स्थिति है। इस पर राजस्थानी का प्रभाव है। मालवी में 'न' नहीं बोला जाता और 'र' के स्थान पर 'ड' अधिक प्रचलित है।

4.1.3.05 बुंदेली

बुंदेल राजपूतों का प्रदेश होने के कारण इस भू-भाग को बुंदेलखंड और यहाँ की भाषा को बुंदेलखंडी या बुंदेली कहा जाता है। इनका राज्य 14वीं शती के आरम्भ से था। बुंदेली नाम सहज, सरल और लोकाश्रित है। इस भाषा का क्षेत्र यमुना उत्तर और नर्मदा अंचल, पूर्वी ओर हेटोस, पश्चिम में चंबला है किन्तु वर्तमान में यह क्षेत्र विस्तृत है। इसमें बाँदा का पश्चिमी भाग, उरई, हमीरपुर, जालौन और झाँसी के आसपास के जिले आते हैं। मध्यप्रदेश में ग्वालियर का पूर्वी भाग, भोपाल का थोड़ा हिस्सा, ओरछा, पन्ना, दतिया, सागर, टिकमगढ़, सिडनी, छिंदवाड़ा, हौशंगाबाद और बालाघाट के जिले आते हैं। इसी बुंदेलखंड में तुलसी, केशव, मतिराम, ठाकुर, पद्माकर जैसे शिरोमणि कवि हुए है। लेकिन इनकी काव्य भाषा अवधी और ब्रज रही है।

4.1.3.06 बघेली

इस भाषा का नामकरण बघेल राजपूतों के नाम पर हुआ है। अर्द्धमागधी अपभ्रंश से उत्पन्न बघेली भाषा का निकटतम सम्बन्ध अवधी भाषा परिवार से है। स्वाभावतः यह अवधी भाषा के निकट की ही एक उपबोली है। इसे रीवाँई भी कहते है । मध्यप्रदेश के रीवाँ, दक्षिण में मंडला, जबलपुर, बाँदा, हमीरपुर, फतेहपुर, नागोद, शहडोल, सतना, मैहर तथा इसके आसपास तक विस्तृत बघेली बोली कुछ प्रमाण में महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश और कुछ अंशों में नेपाल में भी बोली जाती है। लोक-साहित्य की दृष्टि से भी बघेली की विस्तृत परम्परा रही है। ग्रियर्सन ने इसे स्वतन्त्र भाषा माना है जबकि बघेली और अवधी में विशेष अन्तर नहीं है।

4.1.3.07 छत्तीसगढ़ी

चंदवंशी राजाओं के गढ़ के कारण इस भूखण्ड को चंदीशगढ़ कहा जाता था। बालाघाट के कुछ भागों में यह बोली जाती है। यहाँ इसे 'खलोटी' भाषा भी कहते हैं। छत्तीसगढ़ के मैदानी भाग के पूर्व में पूर्वी संभलपुर का उड़ीसा प्रदेश है। यहाँ के लोग इसे 'लरिया' नाम से पुकारते हैं। छत्तीसगढ़ के इतिहास का अवलोकन करने पर पता चलता है कि इसका सम्बन्ध पौराणिक और ऐतिहासिकता से है। पौराणिक काल में यहाँ का अधिकांश भाग दण्डकारण्य के नाम से प्रचलित था। कालान्तर में इसके कुछ हिस्से को महाकोसल और कुछ को कोसल नाम से जाना जाने लगा। इसके बाद भी छत्तीसगढ़ का नामोल्लेख यहाँ नहीं मिलता। लेकिन नाम के सम्बन्ध में कहा जाता है कि किसी समय यहाँ 36 गढ़ हुआ करते थे। इसी का आधार लेते हुए इस प्रदेश को छत्तीसगढ़ कहा गया, ऐसी आम मान्यता है। छत्तीसगढ़ी बोली का मुख्य क्षेत्र ही आज का छत्तीसगढ़ राज्य है, अतः यहाँ बोली जाने वाली भाषा छत्तीसगढ़ी के नाम से जानी गई। भाषाविज्ञान में अर्द्धमागधी अपभ्रंश के दक्षिणी रूप से उपजी छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र बिलासपुर, रायगढ़, खैरागढ़, रायपुर, दुर्ग, राजनांदगाँव, कांकेर आदि हैं।

4.1.3.08 अवधी

पौराणिक और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अवध प्रदेश 'कोसल' और 'साकेत' के नाम से भी जाना जाता है। अवध प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा को अवधी के नाम से जाना गया। अवधी पूर्वी हिन्दी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बोली है। अवधी को बोलने का क्षेत्र अवध के साथ-साथ हरदोई, खिरी, फैजाबाद के कुछ भाग के अलावा फतेहपुर, इलाहाबाद, कैराकत और जौनपुर तथा मिर्जापुर का पश्चिमी भाग भी है। इसे कौसली भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध कोशल राज्य से है। अवधी के स्थान पर बैसवाड़ी नाम भी व्यवहृत है। बैस राजपूतों की प्रधानता के कारण उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली, फतेहपुर के कुछ भाग में बैसवाड़ी बोली जाती है। अवधी की अपेक्षा बैसवाड़ी थोड़ी कर्णकटु है। अवधी की भाषागत सीमाओं की दृष्टि से इसके पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी, कन्नौजी, बुंदेली है और पूर्व में भोजपुरी है। अवधी में 'श' और 'ष' नहीं है। यहाँ मात्र 'स' का प्रयोग होता है। श्वास के स्थान पर साँस, षोड्स के स्थान पर सोलह, 'ऋ' के स्थान पर 'री', 'ऋषि' के स्थान पर 'रिसि', 'ल' के

स्थान पर 'र', 'अंजुलि' के स्थान पर'अजुरि' आदि। अवधी का संस्कारगीत कर्णप्रिय एवं हृदयस्पर्शी है। कवि सुमेरु गोस्वामी तुलसीदास की काव्यभाषा अवधी है।

4.1.3.09 भोजपुरी

भोजपुर बिहार के शहाबाद जनपद में स्थित एक गाँव का नाम है, जो किसी समय उज्जैन के राजा भोज की राजधानी थी। इन्हीं की ख्याति और ऐश्वर्य के आधार पर इस प्रदेश को भोजपुर कहा गया और यहाँ बोली जाने वाली भाषा भोजपुरी कही गई। बौद्धकाल में यह 'मल्ल' जनपद भी था। राजा भोज के वंशजों ने, जिनकी उपाधि भोज थी तथा जिनके लिए उज्जैनी भोज कहा जाता था, उन्होंने जिस नगर को अपनी राजधानी बनाया, वह भोजपुर कहलाया। यह बिहार में डुमराव के निकट स्थित है। इन्हीं के वंशज वीर कुँवरसिंह 1857 में अंग्रेजों के विरुद्ध बगावती युद्ध लड़े जिनकी शौर्यगाथा इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। मध्यकालीन सत्ता से विद्रोह लेते-लेते यह राजवंश समाप्त हुआ।

सन् 1868 में इस क्षेत्र के लोगों की भाषा को भोजपुरी कहा गया। मुगल और अंग्रेज यहाँ के सैनिकों को बक्सरिया कहते थे। राहुल सांकृत्यायन ने 'मल्ली' शब्द का प्रयोग किया है। लेकिन कृष्णदेव उपाध्याय ने इसे अव्यवहारिक बताया है। जो भी हो, यह तो स्पष्ट है कि 'भोजपुरी' की पृष्ठभूमि 'मल्ली' है। भोजपुरी की 04 उपबोलियाँ हैं – (i) उत्तरी भोजपुरी, (ii) पश्चिमी भोजपुरी, (iii) दक्षिणी भोजपुरी और (iv) नागपुरिया भोजपुरी। ये बिहार के पश्चिमी जिलों में तथा उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में व्यवहार में लाई जाती हैं। विदेशों में मॉरिशस, फिजी तक तक इनका प्रचलन है। बोलियों में सर्वाधिक प्रयोग इसी भाषा का किया जाता है। कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार "इसकी सीमा रेखा गंगा नदी से उत्तर में मुजफ्फरपुर जिले की पश्चिमीभाग जहाँ की भाषा मैथिली है। फिर इस नदी के दक्षिण में इसकी सीमा गया और हजारीबाग की मगही से मिल जाती है। यहाँ से हजारीबाग की मगही से घूमकर यह सम्पूर्ण राँची जिले के अधिकांश भागों में फैल जाती है। दक्षिण की ओर यह सिंहभूमि की उड़िया और गंगपुर की भाषा से परिसीमित होती है। यहाँ से भोजपुरी की सीमा जसपुर रियासत के मध्य से होकर रांगी पठार के सरहद के साथ-साथ दक्षिण की ओर जाती है। जिससे सरगुजा और पश्चिमी जसपुर की छत्तीसगढ़ी भाषा से इसका विभेद होता है। पलामू के पश्चिमी प्रदेश से गुजरने के बाद भोजपुरी भाषा की सीमा उत्तरप्रदेश के मिर्जापुर जिले के दक्षिण प्रदेश में फैलकर गंगा तक पहुँचती है। यहाँ यह गंगा के बहाव के साथ पूर्व की ओर घूमती है और बनारस के निकट पहुँचकर गंगा पार कर जाती है। ... मिर्जापुर के दक्षिण में छत्तीसगढ़ी से इसकी भेंट होती है। परन्तु उस जिले के पश्चिमी भाग के साथ-साथ उत्तर की ओर घूमने पर इसकी सीमा पश्चिम में पहले बघेलखण्ड की बघेली और अवधी से जा लगती है।"[3] इसकी व्याप्ति बिहार के छपरा, चंपारण, आरा के साथ-साथ उत्तरप्रदेश के जौनपुर, मिर्जापुर, बनारस, बलिया, मउ, गाजीपुर, आजमगढ़, गोरखपुर, देवरिया, कुशीनगर, सारन, चंपारण और बस्ती आदि जिले तक थी। संक्षेप में भोजपुरी के उत्तर में नेपाली, दक्षिण में उड़िया और छत्तीसगढ़ी, पूर्व में मैथिली और मगही तथा पश्चिम में अवधी और बघेली बोली तक परिसीमित है।

भोजपुरी की बोलियों के 03 भेद हैं – आदर्श भोजपुरी, पश्चिमी भोजपुरी और नागपुरिया । इसकी उपबोलियों में मधेसी तथा थारू हैं । इन बोलियों में मुख्य अन्तर 'ड' का रहता है । इसे कहीं 'र' या कहीं 'ड़' बोला जाता है । जैसे – घर के स्थान पर घड़, सड़क के स्थान पर सरक आदि ।

i. नगपुरिया भोजपुरी : यह छोटा नागपुर में बोली जाती है । इसके शब्द, धातु और रूप छत्तीसगढ़ी के हैं । यह छत्तीसगढ़ी से प्रभावित है । छत्तीसगढ़ी बोली को बोलने वाला व्यक्ति नगपुरिया भोजपुरी को आसानी से समझ सकता है ।
ii. मधेसी बोली : इसका तात्पर्य है मध्यदेश की बोली से है । चंपारण जनपद की बोली को मधेसी कहते हैं । इसकी लिखावट कैथी लिपि की वर्णमाला में होती है ।
iii. थारू : नेपाल की तराई और बहराइच से चंपारण तक थारू लोगों की यही भाषा है । इसे भोजपुरी का ही विकृत रूप कहते हैं ।

भोजपुरी साहित्य में भौगोलिक उथल-पुथल तथा जीवन मूल्यों के उत्कर्ष-अपकर्ष विद्यमान हैं । भोजपुरी साहित्य में इस क्षेत्र का सम्पूर्ण इतिहास, भौगोलिक स्थिति, सामाजिक जीवन सचित्र अपना अक्स दर्शाता है । अनपढ़ स्त्रियाँ अतीत से वर्तमान तक का दर्शन लोक-साहित्य के माध्यम से दर्पण की भाँति कराती हैं । बाबू कुँवरसिंह की गाथा यहाँ की प्रमुखलोक गाथा है । बाबू कुँवरसिंह द्वारा अंग्रेजोंसे संघर्ष का वर्णन सुन हृदय रोमांच से परिपूर्ण हो उठता है । एक अन्य कथा कुसुमादेई की कथा है जो तुर्कों की विषय-लोलुपता से जुड़ी है । कुसुमादेई ने अपने प्राण देकर अपनी लाज की रक्षा की थी । ये घटनाएँ ही भोजपुरी इतिहास को बखूबी लिखती हैं । लोक-गायक अपने क्षेत्र की घटना को अपने भीतर सँजोकर अपने कण्ठ से मुखरित करता है । अंग्रेजी शासन के विरुद्ध गाँधी आन्दोलन इसी क्षेत्र से प्रारम्भ होता है । उस काल की स्थिति को प्रस्तुत लोक गीत में देखा जा सकता है ।

गाँधी क आइल जमाना, देवर जेलखाना अब गइलें ।
जब से तपे सरकार बहादुर, भारत मरे बिन दाना ॥

स्त्रियों ने अपने लोक-गीतों में गाँधी, जवाहर, सुभाष की देशसेवा देखकर स्वयं को भी स्वतन्त्रता आन्दोलन में सम्मिलित करना चाहा है । लोक-गीतों में स्त्रियाँ देश की परतन्त्र दशा को देखकर कहती हैं – "ऐ विदेशी ! तुम्हारे राज में हम काठ के बर्तन को तरसते हैं जबकि पहले हम सोने की थाली में जेवना परोसती थीं । भारत के लोग अन्न बिना मर रहे हैं और लंदन के कुत्ते हलवा-पूड़ी खा रहे हैं ।"

इन लोक-गीतों में प्राचीन स्थानों के नाम तथा उन स्थानों की प्रसिद्ध वस्तुओं का वर्णन मिलता है । जैसे – मगही-मगह का पान, मोरंग देश की सुपारी, बनारस का बैद्य, पटना का हाथी और जरी, बनारस की साड़ी, जयपुर की रजाई, सकलाती अर्थात् सूरत का जूता, गुजराती मोतियों के गहने, सूरत के जौहरी की कला का वर्णन है । हाजीपुर का बाजार सर्वप्रसिद्ध है । जहाँ दहेज का सारा सामान मिलता है । भोजपुरी लोक-गीतों में पूर्वी बनेजिया (कलकत्ता) में व्यापार करने जाने का प्रसंग लगभग सभी गीतों में मिलता है ।

कलकतवा से मोर बलमु अइले हो राम ।

भोजपुरी लोक-गीतों में अभिव्यक्त समाज का चित्रण किसी भी चैतन्य समाज का प्रतिनिधित्व करता है । भोजपुरी लोक गीत एवं लोक नाट्य में भिखारी ठाकुर का नाम सर्वविदित है । भोजपुरी एक व्यापक क्षेत्र की बोली है और इसका लोक-साहित्य भी उतना ही व्यापक है । स्त्री-विमर्श के कुछ बिन्दु मौलिक रूप से बीज रूप में भोजपुरी लोक-गीतों में विद्यमान हैं । भिखारी ठाकुर-कृत लोक गीत द्रष्टव्य है –

गमछा बिछाई दिहिल, रुपिया बटोरि लिहल,
गइया के पगहा बनवल ऐ बाबूजी ।

बेटी का जन्म स्त्रियों के लिए कभी शुभ नहीं रहा, किसी ने शुभ नहीं माना । कभी सोहर नहीं गाया गाया, कोई थाली नहीं बजायी गई –

जो हम जनतीं कोखी, बेटी जनमिहें हो,
खइतीं मरीचिया झरार हो ।

बेटी का विवाह भी पिता के लिए किसी ग्रहण से कम नहीं । विवाह मण्डप में वह इस भय में रहता है कि न जाने कब कौन-सी माँग वर पक्ष की ओर से कर दी जाए –

चान गरहनवा बेटी साँझ ही लागेला, सुरुज गरहनवा भिनसार ।
धियवा गरहनवा मंडवा में लागेला, कबहोनी उगरह होइंये ॥
समकाल में वही पिता का विद्रोही हो जाता है ।
जो हम जनतीं बेटी लागी हतियारी, तोहके रखतीं कुंआर ।
चहे जमाना देइत हमरा के गारी, तोहके रखतीं कुंआर ॥

स्त्री अपनी अस्मिता की बात भी लोक-गीतों में कहती है । जेवनार गीत का उदाहरण देखिए –

अइसन राम के मुँह कइसे देखबि, गरभ दिहिलें बनबास जी ।
फटती धरतिया बेवर होइ जइति हो, बलु सीता जइति समाइ हो ॥

4.1.3.10 हरियाणवी (बाँगरू)

अंबाला से दक्षिण-पश्चिम की ओर के भू-क्षेत्र को हरियाणा कहते हैं । दिल्ली, रोहतक, कर्णिक के पूरे जिले, नाभा, हिसार, पटियाला का दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र सम्मिलित है । प्राचीनकाल में इसे कुरुक्षेत्र और ब्रह्मवर्ष कहते थे । बाँगरू केवल करनाल के पास बोली जाती है । इस प्रदेश में अहीर और जाट सबसे अधिक हैं । इस क्षेत्र के लोक-गीतों के संग्रह का कार्य कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय द्वारा किया जा रहा है । हरियाणवी लोक-गीतों का रंग और भाव भोजपुरी के समान ही है । यहाँ का योह (पुल्लिंग) याह (स्त्रीलिंग) तथा ए के स्थान पर ऐ उच्चारण होता है ।

4.1.3.11 खड़ीबोली

इसके अन्य नाम हैं – हिन्दुस्तानी, कौरवी, नागरी। खड़ी का अर्थ है – मानक, प्रमाणित (स्टैंडर्ड) जैसे पुणे की मराठी बोली महाराष्ट्र की मानक बोली है। वर्तमान में हिन्दी हो या उर्दू, दोनों खड़ीबोली पर आधारित हैं। इसी बोली का विकसित रूप साहित्यिक हिन्दी है जो अब राजभाषा है। यह गंगा-यमुना के उत्तरी भाग तथा अम्बाला जिले की बोली है। इस्लाम के प्रभाव के कारण शब्दों के साथ इसकी ध्वनि पर भी अरबी और फ़ारसी का प्रभाव है। खड़ीबोली शुद्ध के अर्थ में भी ली जाती है जिस पर किसी का प्रभाव नहीं है। गुलेरीजी के अनुसार मेरठ की बोली को शुद्ध बनाकर समाजोपयोगी बनाया गया है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भी यही मत है। कुछ विद्वान् इसे रेख़्ता (गिरी खड़ी) भी मानते हैं। इसके अधिकांश शब्द अकारान्त हैं। ऐ के स्थान पर ए, औ के स्थान पर ओ बोला जाता है।

4.1.3.12 कुमाऊँनी

कुमाऊँ शब्द की व्युत्पत्ति कुर्मांचल से हुई है। इसका क्षेत्र नैनीताल, अल्मोड़ा और पिथौरागढ़ के जिले हैं। ग्रियर्सन ने कुमाऊँनी की बारह उपबोलियाँ गिनायी हैं। इसका उद्गम खस है। इसके लोककवियों में गुमनियत और कृष्ण पाण्डेय प्रसिद्ध रहे हैं। कुमाऊँनी पर दरद, खस, राजस्थानी, खड़ीबोली हिन्दी आदि भाषाओं के अतिरिक्त किरात, भोट तथा तिब्बत्च्छनीय परिवार की भाषाओं का भी प्रभाव है। इसकी सांस्कृतिक शब्दावली हिन्दी से ली जाती है।

4.1.3.13 गढ़वाली

कुर्मांचल की पश्चिमी सीमा पर यमुना तक का प्रदेश केदारखण्ड कहलाता है। इसके अन्य प्राचीन नाम तपोभूमि, इलावृत्त, देवभूमि तथा उत्तराखंड थे। 15वीं शती में पवार राजपूतों ने और बाद में बांग्ला के पाल राजाओं ने यहाँ पर राज किया। ठाकुरों के बावन गढ़ियों में विभक्त होने के कारण गढ़वाल या बारना नाम पड़ा जिसे आज उत्तराखंड कहा जाता है। इसके क्षेत्र गढ़वाल, चमोली, उत्तरकाशी, रुद्रप्रयाग, देहरादून और मसूरी हैं। टेहरी गढ़वाल की बोली आदर्श मानी जाती है। इस बोली में भोटिया, शक, किराक, नाँगा और खस जातियों की भाषाओं के नाना रूप एवं तथ्य सम्मिलित हैं। गढ़वाली लोक-गीतों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। गढ़वाली में प्यार के स्थान पर व्यार, सात के स्थान पर साँत, छाया के स्थान पर छाँया हो जाता है।

4.1.4 पाठ-सार

लोक-साहित्य में एक रागात्मक राष्ट्रवाद है। लोक-साहित्य के महीन रेशमी धागे से समूचा हिन्दी समाज जुड़ा हुआ है। हिन्दी लोक-साहित्य का इतिहास अति प्राचीन है। हिन्दी की सभी बोलियों में लोक-साहित्य का अमूल्य भण्डार है। ब्रज, भोजपुरी, अवधी, राजस्थानी, बुंदेली और गढ़वाली आदि में अकूत लोक-साहित्य विद्यमान है। इन बोलियों में लोक-साहित्य की विविध विधाओं के रत्नों के भण्डार भरे हैं। ये रत्न भारतीय

संस्कृति की मौलिक पहचान हैं। ये हमारी अमूल्य धरोहर हैं। लोक-साहित्य मौखिक रूप में विद्यमान रहा है जिसे एक पीढ़ी अपनी दूसरी पीढ़ी को अमूल्य थाती की तरह सौंपती रही। पीढ़ियों की इस मौखिक धरोहर को लुप्त होने से बचाने के लिए प्रयास किए जाने चाहिए। लुप्त होते लोक-साहित्य को लिपिबद्ध करके ही सुरक्षित किया जा सकता है। लोक-साहित्य के मनीषी अनुसन्धानकर्त्ताओं द्वारा इस प्रकार के प्रयास किये जा रहे हैं। इसके सतत अध्ययन से नए-नए तथ्य भी सामने आ रहे हैं। राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि विद्वानों द्वारा लोकसाहित्य को संरक्षित करने हेतु सार्थक प्रयास किये गए हैं। भावी अध्येताओं द्वारा सर्वेक्षणीय प्रकल्पों की सहायता से शोध कार्य करने के लिए लोक-साहित्य एक व्यापक क्षेत्र है। लोकसाहित्य संरक्षण के लिए निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं –

i. अनुसन्धानकर्त्ता द्वारा स्वयं लोक-साहित्य क्षेत्र-विशेष का सर्वेक्षण किया जाए।
ii. समूह रूप में अन्य लोगों द्वारा संकलन करवाया जाए।
iii. सरकारी आँकड़ों का सम्यक् उपयोग किया जाए।
iv. टेपरिकॉर्डर आदि तकनीक की सहायता से मौखिक साहित्य को एकत्रित किया जाए।

4.1.5 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भोजपुरी का सम्बन्ध है –

(क) उज्जैनी राजपूतों की राजधानी भोजपुर से
(ख) अवधी की उपबोली से
(ग) मगही से
(घ) छत्तीसगढ़ी से

2. तिब्बत्च्छनीय परिवार की भाषा का सम्बन्ध है –

(क) कुर्मांचल से
(ख) मालवी से
(ग) गढ़वाली से
(घ) कुमाऊँ से

3. बोली के अध्ययन के लिए श्रेष्ठ है –

(क) ग्रन्थालय
(ख) क्षेत्र विशेष का स्वयं सर्वेक्षण

(ग) संकलनकर्त्ता पर निर्भर रहना
(घ) सरकारी सर्वेक्षण का उपयोग करना

4. राहुल सांकृत्यायन मल्ली भाषा कहते हैं –

(क) बुंदेली को
(ख) अवधी को
(ग) भोजपुरी को
(घ) बघेली को

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'लोक' को परिभाषित कीजिए।
2. हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियों का नाम बताइए।
3. लोक गीत पर अपना मत स्पष्ट कीजिए।
4. अवधी बोली का क्षेत्र बताइए।
5. बुंदेली बोली के नामकरण का आधार बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. लोक-साहित्य को परिभाषित करते हुए उसकी विधाओं का परिचय दीजिए।
3. भोजपुरी लोक-साहित्य पर प्रकाश डालिए।
4. ब्रज और अवधी भाषा के विषय में लिखिए।
5. बुंदेली, छत्तीसगढ़ी, बघेली, मालवी बोलियों के क्षेत्रीय परिवेश पर प्रकाश डालिए।

4.1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. लोक : परम्परा, पहचान एवं प्रवाह, श्यामसुन्दर दुबे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ क्रमांक : 12
2. लोक-साहित्य, डॉ॰ सत्यनारायण दुबे, साहित्य सृजन, इलाहाबाद, पृष्ठ क्रमांक : 19
3. डॉ॰ सत्यनारायण दुबे, लोक-साहित्य, साहित्य सृजन, इलाहाबाद, पृष्ठ क्रमांक : 29

❖❖❖

खण्ड – 4 : हिन्दी का लोक-साहित्य

इकाई – 2 : हिन्दी लोक-साहित्य के अग्रणी विद्वानों यथा – संकलन-संग्रह करने वाले विद्वान्, अध्ययन की प्रेरणा देने वाले विद्वान् एवं अनुसन्धान करने वाले विद्वान् आदि के कार्यों की समीक्षा, हिन्दी-प्रदेश का लोक-साहित्य : अध्ययन की सीमाएँ एवं आवश्यकताएँ

इकाई की रूपरेखा

4.2.0 उद्देश्य कथन
4.2.1 प्रस्तावना
4.2.2 लोक-साहित्य के अग्रणी विद्वान् : संकलन-संग्रह-अध्ययन की प्रेरणा देने वाले अनुसन्धानकर्त्ता
- 4.2.2.01 सर जार्ज ग्रियर्सन
- 4.2.2.02 विलियम क्रुक
- 4.2.2.03 शरच्चन्द्र राय
- 4.2.2.04 झवेरचन्द मेघाणी
- 4.2.2.05 पण्डित रामनरेश त्रिपाठी
- 4.2.2.06 डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय
- 4.2.2.07 डॉ॰ उदय नारायण तिवारी
- 4.2.2.08 डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल
- 4.2.2.09 श्री देवेन्द्र सत्यार्थी
- 4.2.2.10 महापण्डित राहुल सांकृत्यायन
- 4.2.2.11 भिखारी ठाकुर
- 4.2.2.12 डॉ॰ श्याम परमार
- 4.2.2.13 डॉ॰ सत्येन्द्र

4.2.3 हिन्दी प्रदेश के लोक-साहित्य के अध्ययन की सीमाएँ
4.2.4 लोक-साहित्य के अध्ययन की आवश्यकताएँ
- 4.2.4.1 लोक-साहित्य : इतिहास
- 4.2.4.2 लोक-साहित्य : समाज
- 4.2.4.3 लोक-साहित्य : शिक्षा-व्यवस्था
- 4.2.4.4 लोक-साहित्य : सदाचार एवं आदर्श भावना
- 4.2.4.5 लोक-साहित्य : संस्कृति
- 4.2.4.6 लोक-साहित्य : राष्ट्र-एकता

4.2.5 पाठ-सार
4.2.6 बोध प्रश्न

4.2.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उद्देश्य हैं –

i. हिन्दी लोक-साहित्य के अग्रणी विद्वानों के विषय में जानना।
ii. लोक मानस और लोक प्रतिभा का अध्ययन-चिन्तन करना।
iii. जनपदीय बोलियों के लोक-साहित्य पर शोध, संकलन, अध्ययन आदि की जानकारी प्राप्त करना।
iv. लोक-साहित्य के पुरोधा विद्वानों के विचारों से अवगत होना।
v. लोकभाषा और लोकसाहित्य के महत्त्व को समझना तथा उसकी रचनात्मकता का अवलोकन करना।
vi. प्रेरणादायी विद्वानों से प्रेरणा ग्रहण कर अग्रिम कार्य-योजना का निर्धारण करना।

4.2.1 प्रस्तावना

हिन्दी लोक-साहित्य के अध्येताओं एवं अनुसन्धानकर्त्ताओं में सर्वप्रथम नाम सर जॉर्ज ग्रियर्सन का है। डबलिन में स्नातक होने के बाद इन्होंने कैम्ब्रिज से उच्च शिक्षा प्राप्त की। मीर औलाद अली से हिन्दुस्तानी तथा प्रो० एटकिंसन से संस्कृत की शिक्षा ली। इन्होंने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अद्भुत कार्य किया है। सन् 1886 में 'सम भोजपुरी हिन्दी साँग्स' शीर्षक से इनका एक विशिष्ट लेख प्रकाशित है। इन्होंने लोक-साहित्य संग्रह, संकलन एवं विद्वतापूर्ण लेखों के द्वारा देश-विदेश में भोजपुरी लोक-गीतों एवं लोक कथाओं की ख्याति फैलाने में योगदान दिया। इन्होंने उत्तरप्रदेश के पूर्वी क्षेत्र मिर्जापुर के लोगों के जादू-टोने, टोटके, ग्रामदेवता, कुलदेवता, रीति-रिवाज का पूर्ण विवेचन किया है। सन् 1866 में 'पापुलर रिलिजन एंड हिन्दी लोक ऑफ नॉर्दन इंडिया' नामक पुस्तक की रचना की। सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन भाषा वैज्ञानिक और इतिहासज्ञ के रूप में प्रसिद्ध है। उनका 'भाषा सर्वेक्षण' ग्रन्थ भाषा, साहित्य और इतिहास के लिए एक मानक सन्दर्भ ग्रन्थ है। इन्होंने 30 वर्षों से अधिक समय तक भारतीय भाषा एवं साहित्य की उन्नति हेतु प्रयास किए। कर्नल टॉड ने अथक परिश्रम से राजस्थान के राजपूताना काल के लोकजीवन का संकलन किया। मीराबाई पर शोध हेतु इस संकलन में पर्याप्त सामग्री है। भारतीय लोक कला मण्डल उदयपुर, राजस्थान साहित्य समिति, मरुभारती आदि संस्थाओं का योगदान भी उल्लेखनीय है।

भारतीय साहित्य के पुरोधाओं में शरच्चन्द्र राय ने 'मैन इन इंडिया' नामक पत्रिका का सम्पादन किया और झारखण्ड के मुण्डा जाति के जीवन पर प्रकाश डाला। इनकी लिखी 02 कृतियाँ 'भुइयाँ' और 'खारिज' अद्वितीय ग्रन्थ हैं। झवेरचन्द मेघाणी ने 'गुजरात लोक-साहित्य' के विषय में कंकावटी (प्रकाशन वर्ष 1927) में वीर गाथाओं पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसके अतिरिक्त 'रढ़ियाली रात' (संकलन) (प्रकाशन वर्ष 1925), 'चुंदड़ी' दो भागों में (संकलन) (प्रकाशन वर्ष 1928) इनके द्वारा संकलित उपादेय ग्रन्थ हैं। झवेरचन्द मेघाणी अपने सुरीले कण्ठ से इन गीतों को गाते भी थे।

4.2.2 लोक-साहित्य के अग्रणी विद्वान् : संकलन-संग्रह-अध्ययन की प्रेरणा देने वाले अनुसन्धानकर्त्ता

4.2.2.01 सर जार्ज ग्रियर्सन

डॉ॰ ग्रियर्सन का जन्म डबलिन में 7 जनवरी सन् 1851 को हुआ। पिता डबलिन के प्रसिद्ध बैरिस्टर थे। डबलिन के ट्रिनिटी कॉलेज से बी॰ए॰ उपाधि प्राप्त करने के बाद करने के उपरान्त उच्च शिक्षा के लिए कैम्ब्रिज गए। वहाँ से गणित विषय में ऑनर्स किया। मीर औलाद अली से हिन्दुस्तानी तथा प्रो॰ एटकिंसन से संस्कृत का अध्ययन किया। सन् 1871 में आई॰सी॰एस॰ की परीक्षा उत्तीर्ण कर भारत आए। नौकरी के साथ-साथ इन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा। इनके अध्ययन का विषय भारतीय आर्य भाषा था। इन्होंने संस्कृत और प्राकृत के साथ हिन्दी, बांग्ला और बिहार की भाषाओं का अध्ययन किया। सन् 1980 में इनका ग्रन्थ मैथिली व्याकरण प्रकाशित हुआ जिसमें विद्यापति के गीतों संग्रह पहली बार प्रकाशित हुआ। इनके भारत निवास का अधिकांश समय बिहार में व्यतीत हुआ। इन्होंने बहुत समीप से बिहार के निवासियों का रहन-सहन, आचार-विचार, व्यवहार अन्धविश्वास, नामकरण की परम्परा आदि का अनुसन्धान किया। सन् 1885 में उनकी पुस्तक 'बिहार पीजेंट लाइफ' प्रकाशित हुई। यह पुस्तक ग्रामीण शब्दावली का कोश है। बाद में इस ग्रन्थ से प्रेरित होकर हिन्दी क्षेत्र के विभिन्न अंचलों पर शोध-कार्य सम्पन्न हुए हैं।

ग्रियर्सन ने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य करने के साथ ही भारतीय लोक-गीतों तथा लोक-कथाओं का संकलन भी किया है। इन्होंने सन् 1885 में 'सम बिहारी हिन्दी साँग्स' नामक एक लेख प्रकाशित किया, जिसमें बिहारी भाषा के विभिन्न प्रकार के लोक-गीतों का संग्रह है। सन् 1886 में ग्रियर्सन का एक अन्य बृहत् और विद्वतापूर्ण आलेख प्रकाशित हुआ जिसमें भोजपुरी के बिरहा, जँतसार, सोहर आदि गीतों का संग्रह किया गया है। भोजपुरी लोक-गीतों का प्रथम संकलन तैयार करने का श्रेय ग्रियर्सन को प्राप्त है। उन्होंने 'विजयमल' नामक लोक गाथा का संकलन सन् 1864 में किया। सन् 1865 में इनका लेख 'दि सॉन्ग ऑव आल्हा गैरेज' छपा। इस लेख में उन्होंने आल्हा के विवाह से सम्बन्धित लोक गाथा का मूलरूप प्रस्तुत किया। इसके साथ ही ग्रियर्सन ने गोपीचन्द की लोक गाथा का भोजपुरी तथा मराठी पाठ भी एकत्र किया है। सन् 1886 में जर्मनी की प्रसिद्ध पत्रिका में इनका लेख 'नयका बनजरवा' छपा। यह भोजपुरी लोक गाथा है, जिसका प्रचलन उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग में अधिक है। डॉ॰ ग्रियर्सन के संकलन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने मूल पाठ के साथ ही उसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया है। 'बिहार पीजेंट लाइफ' ग्रन्थ में उन्होंने ग्रामीण जीवन की शब्दावली का बड़ा ही सुन्दर संग्रह कियाहै।

4.2.2.02 विलियम क्रुक

भारतीय लोक-साहित्य और लोक-संस्कृति के संग्रह और संरक्षण में सर विलियम क्रुक का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। ये अंग्रेज सिविलियन थे और दीर्घ अवधि तक मिर्जापुर के कलक्टर रहे। उन्होंने लोक-साहित्य की एक पत्रिका का प्रकाशन भी किया। क्रुक ने सन् 1866 में 'पॉपुलर रेलीजन एंड हिन्दी लोक ऑव

नादर्न इंडिया' नामक पुस्तक भी लिखी। इसमें इन्होंने जनसाधारण के अन्धविश्वास, जादू, टोने-टोटके, नजर लगना-उतारना, ग्राम देवता, कुल देवता, भूत-प्रेत, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों आदि विषयों का पूर्ण विवेचन किया है। इस पुस्तक में भोजपुरी प्रदेश की विभिन्न जातियों का विवरण चार भागों में प्रकाशित किया गया है।

1920 तक लोक-साहित्य की पर्याप्त सामग्री एकत्रित, सम्पादित तथा प्रकाशित हो चुकी थी। अब तक अधिकांश शोध कार्य विदेशी विद्वानों द्वारा ही किया गया था। भारतीय विद्वानों द्वारा भी इस सम्बन्ध में कुछ कार्य किया गया था किन्तु उनमें संगठन-कौशल का अभाव दिखाई देता है। कालान्तर में भारतीय विद्वान् लोक-साहित्य के संरक्षण में प्राण-पण से जुटे और अथक परिश्रम करके उन्होंने अपनी इस सांस्कृतिक धरोहर को संकलित कर सुरक्षित किया।

4.2.2.03 शरच्चन्द्र राय

मानवशास्त्री होते हुए भी शरच्चन्द्र राय ने बिहार की मुण्डा, उराँव, संथाल, बिरहोर जातियों का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया। इन्होंने 'मैन इन इंडिया' जैसी महत्त्वपूर्ण पत्रिका का सम्पादन किया। आदिम जातियों के सम्बन्ध में इनके अनेक लेख छपे। इन्होंने बिहार की मुण्डा जाति के लोगों के सामाजिक जीवन के अध्ययन के साथ ही उनके लोक-गीतों का संकलन भी किया। आपने अपनी एक अन्य पुस्तक में ओरांव नामक आदिम जाति की जीवन-शैली एवं लोक-गीतों को स्थान दिया है। 'भुइयाँ' जाति के लोगों पर लिखी गई इनकी एक पुस्तक में इस जाति के लोगों की जीवन-शैली का सर्वांगीण परिचय है। इनका 'खारीज' नामक ग्रन्थ अद्वितीय है। लोक-साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले लोगों के लिए श्री शरच्चन्द्र राय प्रेरणास्रोत हैं।

4.2.2.04 झवेरचन्द मेघाणी

गुजरात में लोक-साहित्य की एकान्त साधना में रत झवेरचन्द मेघाणी ने गुजराती लोक-साहित्य के संकलन एवं संरक्षण हेतु श्लाघनीय कार्य किया है। उन्होंने गुजराती लोक-गीतों, लोक-कथाओं, शिशु-गीतों, गौर-गाथाओं आदि का विशाल संग्रह प्रस्तुत किया। 'कंकावटी' का प्रकाशन रनपुर से सन् 1927 में हुआ। इसके बाद सन् 1925 से 1942 के मध्य 'रढियाली रात' के नाम से लोक-गीतों का संकलन चार भागों में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में प्रत्येक प्रकार के गीत हैं। सन् 1928 में इनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'चूँदड़ी' के दो भाग प्रकाशित हुए। 'हालरडों' में पालने के गीतों का संग्रह है। 'सोरठी गीत' एक कथा-संकलन है जिसमें ग्रामीण जीवन पर आधारित कहानियाँ है। इन संग्रहों के अतिरिक्त झवेरचन्द मेघाणी ने लोक-साहित्य का सैद्धान्तिक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। झवेरचन्द मेघाणी द्वारा बम्बई विश्वविद्यालय में प्रस्तुत व्याख्यानों का संग्रह लोक-साहित्य की अमूल्य निधि है। 'धरतीनुंधावन' ग्रन्थ में अनेक प्रस्तावनाओं का संकलित हैं। लोकसाहित्य मर्मज्ञ झवेरचन्द मेघाणी लोकसामग्री का संग्रह मात्र ही नहीं करते थे वरन् अपने मधुर कण्ठ से गाकर उन्हें सुनाते भी थे।

4.2.2.05 पण्डित रामनरेश त्रिपाठी

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राइमरी स्कूल में हुई। बचपन से ही इन्हें कविता से प्रेम था। मिडिल पास करने के बाद वे अंग्रेजी पढ़ने जौनपुर गएलेकिन हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद 18 वर्ष की उम्र में पिता से अनबन होने के कारण वहाँ से कलकत्ता चले गए। वहाँ भी ये अधिक समय तक न रह सके। वहाँ उन्हें संग्रहणी रोग हो गया। अर्द्धमृतावस्था में पहुँचने पर स्वास्थ्य-सुधार के लिए जयपुर राज्य के सीकर ठिकाना स्थित फतेहपुर ग्राम में सेठ रामबल्लण नेवटिया के पास गए। फतेहपुर में माठा और स्वास्थ्यप्रद जलवायु के सेवन से वे शीघ्र ही स्वस्थ हो गए। इनकी साहित्य-साधना का शुभारम्भ शेखावाटी की उस पुनीत धरा से हुआ।

त्रिपाठीजी के द्वारा लिखित अनेक बालोपयोगी काव्य-संग्रह, सामाजिक उपन्यास और हिन्दी महाभारत आदि पाठक वर्ग में बहुत प्रसिद्ध हुए। सन् 1915 ई. में पण्डित रामनरेश त्रिपाठी प्रयाग आ गए। थोड़ी-सी पूँजी से उन्होंने प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया। साहित्य के अनेक पथ पर एक साथ चलने वाले वे पहले और अकेले पथिक हैं। उनके द्वारा रचित 'पथिक' खण्ड-काव्य हिन्दी साहित्य का गौरव-ग्रन्थ है। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी को जीते-जी कोई राजकीय सम्मान नहीं मिला। किन्तु पाठक वर्ग द्वारा उन्हें और उनकी कृतियों को अपार सम्मान दिया गया। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने साहित्य के प्रत्येक पहलू और प्रत्येक विधा पर लेखनी चलाई। मानवतावादी कवि रामनरेश त्रिपाठी कवि, नाटककार, कहानीकार, उपन्यासकार, कोशकार, टीकाकार, सम्पादक, व्यंग्य-लेखक, आलोचक, चरित्र-लेखक, शिक्षक, इतिहास लेखक, संग्रहकर्त्ता, सूक्तिकार, वैयाकरणिक, भाषाविद्, यात्रावृत्ताकार तो थे ही, साथ ही उन्होंने संगीत, विज्ञान, अनुवाद, संस्कृत, राजनीति एवं ग्राम्य-जीवन से सम्बन्धित रचनाएँ भी की। उनकी रचनाओं का राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। बाल साहित्य के वाल्मीकि रामनरेश त्रिपाठी ने राष्ट्र की अनेक भाषाओं, यथा मराठी, राजस्थानी, गुजराती, बंगाली आदि में रचनाएँ की। कविता-कौमुदी के सात भाग संकलित कर वे अक्षय यश के अधिकारी हुए। सौन्दर्योपासक एवं स्वच्छता के प्रेमी कवि रामनरेश त्रिपाठी का मुखमण्डल गम्भीर एवं दूरदर्शितापूर्ण लगता था। उनकी वाणी में वशीकरण मंत्र की-सी शक्ति थी। वे अपने अन्तर्भेदनी दृष्टि से मनुष्य के स्वभाव की परख तत्काल ही कर लिया करते थे। सुन्दरता और सुरुचि से उनका सहज स्नेह था। 13 जनवरी 1961 को हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ऊपरी मंजिल के कक्ष में इनका देहान्त हुआ।

स्वाध्याय और देशाटन के द्वारा त्रिपाठीजी ने जो ज्ञान प्राप्त किया वह उनकी रचनाओं में दिखाई देता है। लोक-साहित्य के संकलन में इन्होंने अथक श्रम किया। वास्तव में उनका श्रम बड़ा कष्टसाध्य था जो परवर्ती अनुसन्धानकर्त्ताओं हेतु अनुकरणीय है। बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक में त्रिपाठीजी ने लोक-गीतों के संग्रह का कार्य प्रारम्भ किया। बड़े श्रम के साथ भारत के विभिन्न प्रान्तों की यात्रा अनेक वर्षों तक कर हजारों-हजार लोक-गीतों का संकलन किया। सन् 1926 में इन्होंने 'कविता कौमुदी' के पाँचवे भाग के रूप में ग्रामीण गीतों का प्रकाशन किया जिसमें उत्तरप्रदेश तथा पश्चिम बिहार के लोक-गीतों का संकलन है। त्रिपाठी जी ने लोक-गीतों का संकलन बड़ी निष्ठा एवं लगन के साथ किया और उन्हें वर्गीकृत करके पाठकों के सम्मुख रखा। उन्हें लोक-साहित्य

के संकलनकर्त्ताओं में मील का पत्थर कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। उनका योगदान के लोकसाहित्य के लिए किये गए कार्यों में प्रथम सोपान है।

4.2.2.06 डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय

डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय लोक-साहित्य के उद्भट विद्वान् हैं। उनके हृदय में साहित्य के प्रति सच्चे समर्पण की भावना रही है। इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा सोनवर्षा के प्राइमरी पाठशाला, माध्यमिक शिक्षा तत्कालीन वेस्टेन हाई स्कूल (अब लक्ष्मीराज देवी इंटर कॉलेज) बलिया में और उच्च शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्राप्त की। इन्होंने हिन्दी और संस्कृत में एम०ए० उपाधि प्राप्त की। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने लखनऊ विश्वविद्यालय से 'भोजपुरी साहित्य का अध्ययन' शीर्षक विषय पर सन् 1951 में पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से 'साहित्यरत्न' की परीक्षा उत्तीर्ण की।

डॉ० उपाध्याय ने गवर्नमेंट ट्रेनिंग कॉलेज आगरा, लखनऊ गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज, नैनीताल और गवर्नमेंट पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज ज्ञानपुर, वाराणसी के हिन्दी विभाग में सहायक प्रोफेसर के पद पर लगभग 20 वर्ष तक पी०इ०एस० ग्रेड में अध्यापन-कार्य किया। सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्ति के उपरान्त ये सन् 1966 में लालबहादुर शास्त्री डिग्री कॉलेज, मुगलसराय में प्रिंसीपल के पद पर कार्यरत रहे। इन्होंने सन् 1971 तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में यू०जी०सी० द्वारा मनोनीत प्रोफेसर के रूप में शोधार्थियों के शोध कार्य का निर्देशन किया। डॉ० उपाध्याय ने तीन बार यूरोप की लोक सांस्कृतिक यात्रा की। सन्1965 में ये मारबुर्ग (पश्चिमी जर्मनी) में आयोजित जर्मन लोक-साहित्य सम्मेलन में एकाकी भारतीय प्रतिनिधियों के रूप में सम्मिलित हुए। सन् 1966 में ये पश्चिमी जर्मनी के माटिंगन विश्वविद्यालय द्वारा भारतीय लोक संस्कृति विषय पर व्याख्यान देने के लिए विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में आमन्त्रित किये गए। इसी समय इन्होंने यूरोप के फ्रांस, इंग्लैंड, स्वीत्जरलैंड, हंगरी आदि देशों का परिभ्रमण तथा वहाँ के लोक-साहित्यकारों से मुलाकात की। डॉ० उपाध्याय सन् 1966 में रोमानिया के बुखारेस्ट नगर में आयोजित 'इंटरनेशनल कोन्फ्रेंस फॉर हिन्दी नरेटिव रिसर्च' के अधिवेशन में भारतीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। इसी अवसर पर इन्होंने पूर्वी तथा उत्तरी यूरोप के डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, फिनलैंड, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों के लोक-साहित्य संस्थानों का निरीक्षण तथा अध्ययन किया। ये सन् 1966 में अमेरिका के इंडिया विश्वविद्यालय द्वारा भारतीय लोक-साहित्य विषय पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किये गए। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय अमेरिका की एशियन हिन्दी लोर सोसाइटी की कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी रहे हैं।

डॉ० उपाध्याय को इस उपलब्धि तक पहुँचाने वाले प्रेरणास्रोत इनके ज्येष्ठ भ्राता पद्मभूषण बलदेव उपाध्याय थे। डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक-सहित्य पर ही शोध कार्य किया था। इनका शोध ग्रन्थ 'भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इनकी पुस्तक 'लोक-साहित्य की भूमिका' हिन्दी में लोक-साहित्य विषय पर उच्च कोटि की पुस्तक कही जा सकती है। इसमें लोक-साहित्य के समस्त मुख्य रूपों, जैसे लोक गीत, लोक गाथा, लोक कथा, लोक नाट्य तथा लोकोक्तियों का विशद् विवेचन है। चूँकि डॉ०

उपाध्याय का विशेष अध्ययन भोजपुरी लोक-साहित्य पर है अतः इस पुस्तक में उदाहरण के रूप में भोजपुरी गीतों की ही प्रधानता है। भोजपुरी लोक-साहित्य संकलन से लेकर वर्गीकरण तक के कार्यों में डॉ॰ उपाध्याय का विशेष योगदान है।

प्रारम्भ में भारत में लोक-साहित्य तथा लोक-संस्कृति के संग्रह, संरक्षण और शोध कार्य के मध्य समन्वय स्थापित करने वाली कोई संस्था नहीं थी। इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रयाग में सन् 1665 में 'भारतीय लोक संस्कृति शोध-संस्थान' की स्थापना की गई। इस संस्थान के संस्थापक डॉ॰ ब्रजमोहन व्यास, श्रीकृष्णदास और डॉ॰ उपाध्याय थे। इन्होंने लोक संस्कृति सम्मेलन का आयोजन किया और लोक-साहित्य के विकास तथा संरक्षण हेतु अथक प्रयास किये।

डॉ॰ उपाध्याय ने लोकसाहित्य संकलन के साथ लोक-साहित्य के विभिन्न पक्षों पर गम्भीर चिन्तन किया है। लोकसाहित्य पिपासुओं के पठनार्थ एवं परवर्ती अनुसन्धानकर्त्ताओं के मार्गदर्शनार्थ उन्होंने अनेक पुस्तकों की रचनाएँ भी की हैं, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं – (1) भोजपुरी लोक गीत, भाग – 1, (2) भोजपुरी लोक गीत भाग – 2, (3) भोजपुरी और उसका साहित्य, (4) भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन, (5) भोजपुरी लोक संस्कृति, (6) लोक-साहित्य की भूमिका, (7) लोक संस्कृति की रूपरेखा, (8) हिन्दी का लोक-साहित्य (हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास के सोलहवें भाग में राहुल सांकृत्यायन के साथ)।

4.2.2.07 डॉ॰ उदय नारायण तिवारी

सन् 1903 में जन्मे डॉ॰ उदय नारायण तिवारी प्रयाग साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति के सदस्य व मंत्री रहे। वे प्रयाग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक तथा हि.वि. लैंग्वेज एंड रिसर्च इंस्टीट्यूट, जबलपुर में अध्यक्ष भी रहे। डॉ॰ तिवारी ने विदेशों में वरिष्ठ शोधकर्त्ता के रूप में कार्य किया तथा अध्यापन पद्धति का सूक्ष्म निरीक्षण किया। वे भाषा-विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् के रूप में जाने जाते हैं। इन्होंने 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' पुस्तक में भोजपुरी भाषा का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। भोजपुरी भाषा के ज्ञान का इतना गम्भीर अध्ययन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यह पुस्तक डॉ॰ तिवारी के लगभग 20 वर्षों के अनवरत परिश्रम एवं अथक अध्ययन का परिणाम है। इन्होंने भोजपुरी साहित्य पर भी शोध किया जिसका विषय था, 'ओरिजिन एंड डेवेलपमेंट ऑफ भोजपुरी'। उक्त ग्रन्थ इनके शोध कार्य का हिन्दी रूपान्तरण है। इन्होंने भोजपुरी साहित्य का संकलन-संग्रहण का कार्य भी किया। इनके अतिरिक्त डॉ॰ तिवारी की अन्य प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं – (1) भोजपुरी भाषा और साहित्य, (2) भोजपुरी मुहावरे और पहेलियाँ।

4.2.2.08 डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल

डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने लोक-साहित्य के अध्ययन को गति प्रदान की है। डॉ॰ अग्रवाल ने लोक-साहित्य के प्रमाताओं को सदा ही प्रोत्साहित किया है। इन्हीं के प्रयास से मथुरा में 'ब्रज साहित्य मण्डल' की स्थापना हुई जिसके तत्त्वावधान में 'ब्रजभारती' पत्रिका प्रकाशित होती है। इनके ग्रन्थ 'पृथ्वीपुत्र' में जनपदीय

कल्याणकारी योजना का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। 'पृथ्वीपुत्र' पुस्तक लोक-साहित्य के क्षेत्र में अध्ययन-अनुसन्धान कार्य करने वालों के लिए एक मार्गदर्शक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। जनपद कल्याणकारी योजना का सूत्रपात करना, लोक-साहित्य-संग्रहकों को सूत्रबद्ध कर इस कार्य में जुटाना, टीकमगढ़ से 'लोक वार्ता' पत्रिका निकालना आदि इनके स्तुत्य कार्य हैं। डॉ॰ सत्येन्द्र, डॉ॰ कृष्णदत्त वाजपेयी, बनारसीदास चतुर्वेदी, कृष्णचन्द गुप्त, डॉ॰ अम्बाप्रसाद 'सुमन' आदि दिग्गजों को लोक-साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रवृत्त करने का श्रेय डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल को ही है। सच तो यह है कि लोक-साहित्य को उच्चस्तरीय अध्ययन का विषय बनाने में डॉ॰ अग्रवाल और डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा का योगदान कभी भुलाया नहीं जा सकता। लोक-साहित्य की महत्ता और उसके संग्रह-संरक्षण का आह्वान करते हुए डॉ॰ अग्रवाल ने डॉ॰ सिद्धेश्वर को लिखा था – "हमें अब सामूहिक चिन्ता है कि किस प्रकार साहित्यश्री हमें फिर से प्राप्त हो। इस प्रयोजन के लिए हमारे पास वहाँ से निमन्त्रण आया है जहाँ भूमि का मीठा दूध प्रतिवर्ष सूर्य की किरणों से दही जमाकर जौ, गेहूँ के अरबों दानों से हमारे कोठरों को लक्ष्मी से भर देता है और इसी सागर में हमारा विष्णु सोया हुआ है, उसके पास हमारी साहित्यश्री विराजमान है। वहाँ से उसका आह्वान करना हमारी दीपावली का सन्देश है।"

4.2.2.09 श्री देवेन्द्र सत्यार्थी

सत्यार्थी उन विभूतियों में से हैं जिन्होंने लोक-गीतों के संग्रह-कार्य को अपने जीवन का ध्येय ही बना लिया था। ये मूलतः पंजाब के निवासी थे। इन्होंने भारत के सभी जनपदों की यात्राएँ कीं। सुदूर अंचलों की खाक छानकर आदिवासी वृद्धाओं, युवक-युवतियों से सम्पर्क कर इस महारथी ने लोक-गीतों का संग्रह किया है। लोक-गीतों का संग्रह करने के साथ ही इन्होंने उनकी व्याख्या और आलोचना इतनी भावुकता भरी शैली में की है कि सहृदय पाठक भाव-विभोर हो उठता है। देवेन्द्र सत्यार्थी द्वारा भावात्मक शैली में लिखे निबन्ध अद्वितीय हैं। सत्यार्थीजी ने इन निबन्धों में उदाहरण के रूप में पूरे-पूरे गीत भी दे दिये हैं। डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने सत्यार्थीजी को लिखे एक पत्र में लिखा है "अब तो समान शील और सदृश चिन्तन वाले मनुष्यों को मिलकर कुछ प्रयोग करना ही चाहिए। आप भी हम लोगों के साथ इसी नाव पर है। साथ ही क्यों, नाव का गुन अपनी कमर से बाँधकर उसे बहुत पहले ही खींचकर ले चलने वाले नाविक का रूप आपका ही है।"

सत्यार्थीजी लोक संग्रहकर्त्ताओं के शिरोमणि कहे जाते हैं। उनकी पुस्तकों में 'बेला फूले आधी रात', 'बाजत आवे ढोल', 'धीरे बहो गंगा' अत्यन्त लोकप्रिय हैं। बहुचर्चित 'आजकल' पत्रिका का सम्पादन करके इन्होंने लोक-साहित्य की बड़ी सेवा की है। पण्डित गौरीशंकर द्विवेदी ने अपने जिस 'प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ' में बुंदेलखंडी लोक-गीतों का संग्रह और उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है, उस ग्रन्थ में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने बुंदेलखंड के सात प्रमुख लोक-गीतों की चर्चा अपनी भावात्मक शैली में की है।

4.2.2.10 महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन का जन्म अपने ननिहाल पन्दहा ग्राम, आजमगढ़ में 09 अप्रैल 1893 को हुआ। पन्दहा से दस मील दूर कनैला ग्राम इनकी मातृभूमि थी। इनके पिता का नाम गोवर्धन पाण्डेय और माता का नाम कुलवन्ती था। इनका बचपन का नाम केदार पाण्डेय था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने ग्राम में ही हुई। प्रारम्भ से ही ये घुमक्कड़ी स्वभाव के थे। जीवनपर्यन्त वे कभी एक स्थान पर टिक न सके। साहित्यकारों ने उन्हें प्रथम श्रेणी का घुमक्कड़ कहा है। घूमते-घूमते ही इन्होंने 30 से अधिक भाषाएँ सीख लीं। ये बौद्ध और साम्यवादी हुए।

राहुल सांकृत्यायन की प्रारम्भिक यात्राओं ने उन्हें दो दिशाएँ प्रदान कीं। एक तो प्राचीन एवं अर्वाचीन विषयों का अध्ययन तथा दूसरा देश-देशान्तरों की अधिक-से-अधिक प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करना। इन दो प्रवृत्तियों से अभिभूत होकर राहुलजी पर्यटक और अध्येता बने। राहुलजी का पर्यटन केवल पर्यटन के लिए नहीं था। उनके पर्यटन के मूल में अध्ययन की प्रवृत्ति प्रमुख थी। इन्होंने विश्व के विभिन्न देशों, इग्लैंड, यूरोप, पश्चिमी एशिया, जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत रूस की व्यापक यात्रा कर साहित्यिक, सांस्कृतिक विचारधाराओं का अध्ययन एवं चिन्तन किया था। इन्होंने तिब्बत की यात्रा चार बार तथा लंका की यात्रा तीन बार की। राहुलजी की हिन्दी में गहरी निष्ठा थी। ये महान् पण्डित और बहुभाषी थे। संस्कृत, पालि और अपभ्रंश के तो ये मान्य पण्डित थे। दर्शन, इतिहास तथा तुलनात्मक धर्म के ये अद्वितीय विद्वान् थे। अपनी विद्वता के कारण वे रूस के लेनिनग्राव विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर नियुक्त किये गए।

उनकी लेखनी की अजस्र धारा से साहित्य, दर्शन, धर्म, इतिहास, संस्कृति आदि विभिन्न विषयों पर 150 से भी अधिक ग्रन्थ प्रकट हुए। उनके प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या 126 है। उनके द्वारा लिखित लेख, निबन्ध एवं प्रस्तुत व्याख्यानों की संख्या कई हजार है। इनके बहुआयामी व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर भारत सरकार ने इन्हें पद्मभूषण की उपाधि से विभूषित किया। उनकी विद्वता से अभिभूत हो श्रीलंका ने उन्हें लिपिकाचार्य और डी॰लिट्॰ की मानद् उपाधि प्रदान की है। राहुलजी को साहित्य वाचस्पति, महापण्डित आदि अनेक उपाधियों से सम्मानित किया गया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी प्रखर लेखनी के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के अछूते विषयों पर अनुसन्धानपरक लेख लिखकर मानव जाति का सही अर्थों में सच्चा मार्गदर्शन किया है। उनके जीवन-दर्शन की स्पष्ट झलक उनके विचारों में परिलक्षित होती है।

4.2.2.11 भिखारी ठाकुर

सम्पूर्ण उत्तर-पूर्वी भारत विशेष रूप से भोजपुरी भाषा-क्षेत्र में अपने बिदेसिया नाटक और गीतों के माध्यम से अपार सफलता अर्जित करने वाले भिखारी ठाकुर का जन्म गंगा, सरजू और सोन के तिमुहानी से पाँच कि.मी. दूर दियरा में बसे गाँव कुतुबपुर (सारन) में सन् 1857 में हुआ था। इनका बचपन खेलकूद और चरवाही करने में व्यतीत हुआ। निम्नवर्गीय परिवार में जन्मने के कारण विधिवत् शिक्षा का अवसर न मिला फिर भी रामचरितमानस का पाठ सुनकर इनके भीतर कवित्व शक्ति जाग उठी। ये अपने जातीय कर्म में भी योगदान देते थे। इसी सिलसिले

में समाज के सभी वर्गों के बाहर-भीतर की गुत्थियों को देखने-समझने का मौका इन्हें मिला। बचपन में ही विवाह हो जाने के कारण आर्थिक संतुलन बनाए रखने और रोजी-रोटी कमाने के फेर में ये कलकत्ता चले गए। इसी बीच इनको मेदनीपुर और जगन्नाथपुरी जाने का भी मौका मिला जहाँ इन्होंने 'रामलीला', 'रासलीला', 'जाला' आदि देखे। ये इनसे इतना अधिक प्रभावित हुए कि यही सब इनके जीवन का लक्ष्य बन गया। दीर्घ अवधि के पश्चात् जब ये अपने गाँव पुनः लौटे तो वहाँ इन्होंने कलात्मक रुझान वाले 'नवहियन' की खोज करके एक 'नाच गिरोह' तैयार किया। इसी सन्दर्भ में इन्होंने समाज में व्याप्त अनेक धार्मिक और सामाजिक समस्याओं पर संवाद एवं गीतों की रचना की। अपने गीतों और लोक नाट्य के माध्यम से सामाजिक समस्याओं को उजागर कर जनता को मनोरंजक डोरी पकड़वा कर जगाने का विलक्षण कार्य भिखारी ठाकुर ने किया। यह नौटंकी कला न केवल इनके जीवन-यापन का आधार बनी अपितु इसके माध्यम से इन्होंने अपने प्रगतिशील विचार जनमानस तक पहुँचाए ।

सन् 1835 से 1955 के समाज की समस्याओं का सूक्ष्म अध्ययन करके भिखारी ठाकुर ने नौटंकी के माध्यम से कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं, यथा बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह, औरतों में गहनों के प्रति लगाव, व्यभिचार, अवैध सन्तानों के प्रति सामाजिक नजरिया, आर्थिक तंगी से व्यथित होकर कलकत्ता, बंगाल, असम जैसे अन्य शहरों में नवयुवकों का पलायन, निम्न वर्गों पर बढ़ते अत्याचार, वृद्धों की समस्या तथा अशिक्षा आदि को मार्मिक ढंग से उठाया है। शादी-विवाह जैसे अवसरों पर इनकी नौटंकी का प्रदर्शन होता था जिसे देखने दर्शक 18-20 कि.मी. दूर से भी पैदल चलकर आया करते थे। अपनी सामयिक लोक परम्परा के आधार पर भिखारी ठाकुर ने जिन नाटकों की रचना की, उन्हें सम्पादित कर 'भिखारी ठाकुर ग्रन्थावली' शीर्षक दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है। इसमें बिदेसिया, भाई-विरोध, बेटी-वियोग, कलियुग-प्रेम, राधेश्याम-बहार, गंगा-स्नान, विधवा-विलाप, पुत्र-वध, गवरी चोर और ननद-भौजाई आदि सम्मिलित हैं।

लोक समाज ने भिखारी ठाकुर की कला को अत्यन्त सम्मान दिया। सम्मानस्वरूप उन्हें 'रायबहादुर' का की उपाधि से अलंकृत किया गया। भिखारी ठाकुर की विदेशिया पर फिल्म भी बनाई गई। स्वयं भिखारी ठाकुर ने सिनेमा में अभिनय किया है। सन् 1971 में 84 वर्ष की उम्र में कुतुबपुर गाँव में उनका देहवासन हो गया। लोकजीवन के महान् चितेरे, 'भोजपुरी के शेक्सपियर' कहे जाने वाले सशक्त नाटककार, भरतमुनि की परम्परा में प्रतिष्ठित होने वाले रंगकर्मी और भोजपुरी काव्यों के अनमोल रत्न भिखारी ठाकुर का जीवन नाटक, कविता, गीत और रंगकर्म को अपनाने वाली पीढ़ियों को प्रेरणा देता रहेगा।

4.2.2.12 डॉ॰ श्याम परमार

डॉ॰ श्याम परमार ने मालवा के लोक गीत, लोक नाट्य तथा लोक कथा आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रशंसनीय कार्य किया है। 'मालवी लोक गीत' का सम्पादन कर इन्होंने लोकसाहित्य के क्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। 'मालवी और उसका साहित्य' (सरस्वती सहकार की ओर से राजकमल प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित) नामक अपने दूसरे बड़े ग्रन्थ में इन्होंने मालवा के लोक गीत, लोक नाट्य आदि विषयों का संक्षिप्त

विवेचन सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया है। 'मालवा की लोक-कथाएँ' छोटे बच्चों को ध्यान में रखकर लिखी गई पुस्तक है। लोक नाट्यों के सम्बन्ध में इनकी 'लोकधर्मी नाट्य-परम्परा' नामक पुस्तक भी प्रकाशित हुई है।

4.2.2.13 डॉ॰ सत्येन्द्र

डॉ॰ सत्येन्द्र ने ब्रज लोक-साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनके शोध प्रबन्ध का शीर्षक है – 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन'। इन्होंने अपने शोध कार्य में ब्रज के लोक-गीतों तथा लोक-कथाओं की विस्तृत समीक्षा की है। पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में भी इनके द्वारा संकलित ब्रज के लोक-गीतों का लघु संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनके द्वारा सम्पादित 'ब्रज लोक संस्कृति' नामक एक अन्य ग्रन्थ में लोक साहित्य के प्रमुख विद्वानों के लेख संगृहीत हैं जिसमें ब्रज क्षेत्र की लोक संस्कृति पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। 'लोक-साहित्य विज्ञान' नामक ग्रन्थ में सत्येन्द्रजी ने लोक-साहित्य के सैद्धान्तिक पक्षों का विवेचन किया है। डॉ॰ सत्येन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य में लोक तत्त्व' है जिसमें इन्होंने सूर, तुलसी और जायसी आदि कवियों की कृतियों में उपलब्ध लोक संस्कृति की गम्भीर विवेचना की है। डॉ॰ सत्येन्द्र द्वारा रचित प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं – (1) ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, (2) ब्रज की लोक कहानियाँ, (3) ब्रज लोक संस्कृति, (4) ब्रज ग्राम साहित्य का विवरण, (5) लोक-साहित्य विज्ञान, (6) ब्रज के लोक गीत, (7) ब्रज की लोक-कथाएँ।

4.2.3 हिन्दी प्रदेश के लोक-साहित्य के अध्ययन की सीमाएँ

लोक-साहित्य का आशय है, 'वह साहित्य जिसे लोक ने रचा।' मानव-समाज के उद्‌भव-काल से ही लोक-साहित्य का रचनाकाल माना जाना चाहिए। यह लोक भावाभिव्यक्ति है अर्थात् इसका सीधा सम्बन्ध भावनाओं से है, बौद्धिकता या विचारों से नहीं। इसीलिए जब से मानव का अस्तित्व बना तब से उसकी भावनाएँ भी बनीं और भावनाओं के साथ ही लोक-साहित्य रचा गया होगा। स्पष्ट है कि मानव-समाज और लोक-साहित्य की उत्पत्ति साथ-साथ हुई है। विदेशों में आभिजात्य वर्ग ने इस साहित्य को असंस्कृत समाज की अभिव्यक्ति कहा है। इसीलिए विदेशों में लोक संस्कृति और लोक सभ्यता जैसे शब्दों का जन्म हुआ। यदि इसे स्वीकार भी लिया जाय तब भी स्वतः सिद्ध है कि लोक-संस्कृति अति-आदिम, गम्भीर एवं मनुष्य की जड़ों की ओर ले जाने वाला साहित्य है। वस्तुतः लोक-साहित्य हमारे अंतस् का बेबाक उजास है।

समूचे जनमानस की मनोवृत्ति का अध्ययन एक पैमाने पर करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। लोक की व्याप्ति विस्तृत है। प्रयत्नसाध्य होकर भी इसे जानना सामान्य नहीं है तथापि इसके स्वरूप का अनुमान भर लगाया जा सकता है। लोक शब्द एक मानव से दूसरे मानव की रागात्मकता का परिचय है और इसकी यही विशेषता इसके अध्ययन की सीमाएँ है।

लोक की वाणी और धरती का पानी कोस-दर-कोस बदलता हुआ दिखाई देता है। काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर इसका अध्ययन करना बड़ा दुष्कर है। इसके अध्ययन के लिए आवश्यक है कि

अध्ययनकर्त्ता जन-जन की संस्कृति में रच-बस जाए जो किसी भी कालिक अध्येता के लिए कठिन कार्य है। श्रीराम शर्मा के शब्दों में कहें तो "लोक शब्द उस विशेष जनसमूह का वाचक है जो साज-सज्जा, सभ्यता, शिक्षा, परिष्कार आदि से दूर आदिम मनोवृत्तियों के अवशेषों से युक्त परिधि को समाविष्ट करता है।" लोक-साहित्य को ग्राम साहित्य तक सीमित कर देना समीचीन नहीं है। इसकी व्याप्ति कस्बों, शहरों और महानगरों तक है। लोक की यात्रा जहाँ-जहाँ तक हुई है वहाँ-वहाँ तक यह संस्कृति विस्तृत हुई है। आज बड़े-बड़े महानगरों में भी लोक-गीतों द्वारा लोग अपना मनोरंजन करते हैं क्योंकि लोक संस्कृति लोक के साथ संचरित होती है। वह कहीं स्थायी रूप से विराजमान नहीं रहती। वर्तमान संक्रमण काल में लोक-साहित्य का अध्ययन करना और भी अधिक दुर्गम है। वैज्ञानिक उपकरणों ने बाजार के माध्यम से लोक-संस्कृति में घुसपैठ की है। शहरी चकाचौंध के प्रभाव से कहीं भी, कुछ भी अछूता नहीं रह गया है। लोक के अध्ययन में यह एक विकट समस्या है क्योंकि ऐसे में लोक-साहित्य की मौलिकता पर ही प्रश्न-चिह्न लग सकता है।

डॉ० श्याम परमार का मानना है कि "हिन्दी का 'जन' शब्द 'लोक' का पर्यायवाची है। जन या ग्राम यद्यपि 'लोक' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तथापि अपने सीमित क्षेत्र के कारण उन्हें लोक की व्यापकता के अनुरूप नहीं मानना चाहिए। जन एक प्राचीन शब्द है। संस्कृत एवं पालि ग्रन्थों में मानव-समाज का बोध जन से ही कराया गया है। इस दृष्टि से लोक और जन में पर्याप्त असमानता है पर प्रयोग ओर परम्परा के प्रचार में आधुनिक हिन्दी की अनुरूपता के लिए 'लोक' ही अधिक उपयुक्त एवं प्रतिबिम्बात्मक है। न केवल इतना ही बल्कि पूर्व संस्कारों के कारण वह 'जन' से कहीं अधिक विशाल स्तर का स्पर्श करता है।" इस दृष्टि से लोक-साहित्य समूचे मानव-समाज का बोध कराता है। इसके माध्यम से देश का वास्तविक इतिहास, समाज, शासन-व्यवस्था, समाज के भीतर विद्यमान कुरीतियों का अध्ययन किया जा सकता है। यहाँ तक कि निरक्षर कही जाने वाली स्त्रियों के लोक-गीतों मे उनके अन्तर्मन को बखूबी समझा जा सकता है। आवश्यकता है कि लोक-साहित्य के प्रति संकुचित सोच को त्याग कर गहरी संवेदना वाले लोग इस क्षेत्र में प्रवृत्त हों और वे अपने समाज का सच्चा स्वरूप लिपिबद्ध करें।

4.2.4 लोक-साहित्य के अध्ययन की आवश्यकताएँ

4.2.4.1 लोक-साहित्य : इतिहास

लोक-साहित्य के अध्ययन से इतिहास के सूत्रों की खोज की जा सकती है। राज्य, युद्ध, शासन-व्यवस्था, युद्ध आदि को वास्तविक रूप में देखा जा सकता है। लोक मानस सदा से मानव इतिहास की अभिव्यक्ति के प्रति सजग रहा है। इसके प्रमाण लोक-गीतों में विद्यमान हैं जब भिखारी ठाकुर मंच से गाते हैं–

जेकर लाख रुपइया बाकी,
ओकर तलवा अमीनवाँ चाटी,
सौ-सौ रुपिया वाले जइहें जेहलखनवां ...।

– तब पूरी शासन-व्यवस्था की पोलपट्टी खुल जाती है। इसकी तुलना समकाल से की जा सकती है। कभी छेद वाला पइसा था, इसे लोक कवि ने सँजो कर रखा है –

भाभी चल्यो छेद का पैसा, जाइ तू नारे लटकाइ लइयों।

यह सच है कि यदि लोक-गाथाओं को इतिहास का कच्चा-माल स्वीकार करके इसे विधिवत् लिपिबद्ध किया जाय तो हमें इतिहास सही अर्थों में प्राप्त हो सकेगा। इन गाथाओं में सच और कल्पना का सम्मिश्रण उतना ही होता है, जितना सच एक आधुनिक कवि की रचना में भाव एवं कल्पना का सम्मिश्रण होता है।इस सन्दर्भ में डॉ० शंकरलाल यादव कहते हैं – “लोक मस्तिष्क ने अपने इतिहास की लड़ियाँ अपने गीतों में, अपनी कथाओं में जोड़ी हैं। लोक-गाथाएँ तो एक प्रकार से हमारे इतिहास की प्रचुर सामग्री से सम्पन्न हैं। उसमें अतिरंजना भले ही हो किन्तु इतिहास के विद्यार्थी को कुछ ऐसे तथ्य अवश्य मिल जाएँगे जो प्रसिद्ध इतिहास लेखकों की दृष्टि से छूट गए हैं।”

4.2.4.2 लोक-साहित्य : समाज

लोक कवि समाज की जड़ में निवास करता है और वहीं से वह अपने कथ्य का चयन करता है। अतः लोक-साहित्य का महत्त्व समाज के लिए सर्वाधिक है। समाज के कार्य व्यवहार, प्रथाएँ, विश्वास, अन्धविश्वास, परम्परा, रीतियाँ, कुरीतियाँ, कुण्ठाएँ, संवेदनाएँ, स्वाभिमान आदि मानव-मन के समस्त भावों और अभिव्यक्ति का अध्ययन लोकसाहित्य के माध्यम से किया जा सकता है। इसके अध्ययन से हमें ज्ञात होगा कि वस्तुतः हमारा समाज कैसा था, वे कौन-सी परम्पराएँ हैं जो हमें ऊर्जा से भर देती हैं और वे कौन-सी कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ या मान्याताएँ हैं जो समाज को खोखला बनाती हैं। अन्ततः हमारी आदिम खोज तो यही है कि कैसे हम उस प्रवाहमान प्रकाश तत्त्व की खोज करें जो मानव हृदय के अन्धकार को दूर मिटा सके – “तमसो मा ज्योतिर्गमय।” विद्वान् का अर्थ है, ‘प्रकाश तत्त्व का उद्‌घाटनकर्त्ता।’ सम्भव है कि लोक-साहित्य से ही हमें वह ऊर्जा मिले जो एक विचार बन कर लोगों के मन को एकता के सूत्र में पिरो दे और एक संगठित समाज तथा राष्ट्र का निर्माण करे। आज जो जीवन-मूल्य धराशायी पड़े हैं वे ही भविष्य में संस्कारवान् होकर सुदृढ़ हो सकें। एकल परिवार संकल्पना से उभरी समस्याओं के विपरीत संयुक्त परिवार की समरस संकल्पना को प्रस्तुत लोक गीत में देखा जा सकता है –

सइ विरिइ जिया अमवा लगवलें,
नेबुल बिना बगिया ना सोहे राजा।
भाई-भतीजा बिना नइहर ना सोहे,
भउजी बिना अँगना ना सोहे राजा।
ससुर-मसुर बिना सभवा ना सोहे,
देवर बिना, ससुरा ना भावे राजा।
देवर बिना ... ।
सासू बिना ओसरा मचिया ना सोहे,

ननद बिना मनवा ना लागे राजा
ननद बिना ... ।

इस गीत में एक स्त्री स्वयं की इच्छा और भावना को व्यक्त करती है । वह दोनों परिवारों को भरा-पूरा देखना चाहती है । स्त्री स्वयं की पूर्णता संयुक्त परिवार में ही महसूस करती है । लोकसाहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है । लोक और समाज की परम्परा अनन्तकालीन है । किसी भी युग में 'लोक बिना समाज के' और 'समाज बिना लोक के' की संकल्पना तक नहीं की जा सकती है ।

4.2.4.3 लोक-साहित्य : शिक्षा-व्यवस्था

लोक-साहित्य मौखिक रूप से समाज के ज्ञानचक्षु का उन्मीलन करता रहा है । महर्षि अरविन्द का कथन है – "भारत में शिक्षा, राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर भी सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, अंतरंग और जीवनपूर्ण है, लोक उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम है ।" एक लोक गीत में सामाजिक घोषणा है कि अब मिथिला वाले अवध वालों को अपनी बेटी नहीं देंगे –

अब मिथिला अपनी बेटी ना दई है, बलु बेटी रहि हैं कुँआर ।
अवध के लोग बड़ा निरमोही तिरिया कदर नाहीं जाने ।
जब मोरी बेटी रहली गरभ से हो, अवध दियो बनवास ।
बेटी के मोरी लियो अगिन परीक्षा, तबो दियो घर से निकार ।
अइसन अवधिया के बेटी ना दिहों, बलू बेटी रखि हो कुँआर ।

कविता की मारक-क्षमता अद्‌भुत होती है । शिक्षा देने की इससे सशक्त मारक-क्षमता भला क्या हो सकती है ! एक दूसरा उदाहरण है, जब स्वयं सीता कहती हैं –

अइसन राम के मुँह नाहीं देखब,
बलू जइवों धरती समाय ।
मुख देखते पाप ली मोही लागे,
गरभ दिया बनवास ॥
फाटी के धरतीया बेबस होइ गइली,
सिया गइली धरती समाय ।

दहेज आदि के लिए स्त्रियों की हत्या करना, उन्हें जीवित जला देना – को देखकर बेटी का पिता पूरे समाज से विद्रोह करता है और लोक गीत में कहता है –

जो हम जनती बेटी लागी हीत यारी, तोहके रखतीं कुँआर ।
चाहे जमाना देत हमरा के गारी हो, तोहके रखती कुँआर ।
जेतना केहू बेटवा के दूध-भात खिलाबल,

ओतना मोर बेटी दिल्ली छींटि ओसारी।
हो बेटी रखतीं कुँआर ...।

यह मार्मिक कथन वास्तविक समाज द्वारा प्रदत्त शिक्षा है जो किसी भी पाषाणहृदय व्यक्ति को पिघला दे। जो एक छोटे से गीत के स्वर-कथ्य एवं संवेदनात्मक प्रस्तुति द्वारा समूचेसमाज के तिमिर में बन्द नेत्र का उन्मीलन कर देना लोकसाहित्य की शिक्षा-व्यवस्था है।

4.2.4.4 लोक-साहित्य : सदाचार एवं आदर्श भावना

लोक-साहित्य में लोक व्यवहार प्रमुख होता है। लोक का प्रकीर्ण-साहित्य – कहावतें, लोकोक्तियाँ आदि नैतिक शिक्षा की औषधि है। समाज के समस्त आदर्श लोक-साहित्य में विद्यमान हैं। जैसे – आँख के अन्धे नाम नयनसुख, नाँच न जाने आँगन टेढ़ा, सौ सोनार की एक लोहार की, अन्धे की लाठी होना, तिनका कबहूँ न निंदिये इत्यादि।

4.2.4.5 लोक-साहित्य : संस्कृति

हमारे देश की जड़ों में संस्कृति और परम्परा है। लोक-साहित्य द्वारा हमें इसका ज्ञान मिलता है। इतना ही नहीं इसमें संस्कृतियों के उत्थान और पतन की गाथा भी है। 'लोक' द्वारा मनाए जाने वाले पर्व और उल्लास, लोक-नृत्य, लोक-गीत, लोक-कथाएँ, त्योहारों पर होने वाले अनेक अनुष्ठान, देवयात्राएँ, मेले, रामलीला, रास-लीला, चरित्र-लीला आदि से भारतीय संस्कृति सतत स्पन्दित हो रही है।

4.2.4.6 लोक-साहित्य : राष्ट्र-एकता

भारत की सभी भाषाओं के लोक-साहित्य अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि हमारा देश तात्त्विक आधार पर एक ही है। लोक-गीतों में राष्ट्रीय एकता, भावात्मक मौलिक ऐक्य-भाव, सांस्कृतिक जुड़ाव का सुदृढ़ ठोस आधार निहित है। इसी को लक्ष्य कर डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि भले ही आकाश के खण्ड हो सकें किन्तु भारतीय स्त्री-हृदय जिन आदर्शों एवं भावनाओं से प्रतिपादित है, उनका बँटवारा नहीं हो सकता। भारतीय स्त्री ही अधिकांश लोक-गीतों की कवयित्री ऋषि है। उसके सुरीले कण्ठ की अमृत-ध्वनि गीतों के रूप में मूर्त है। इस मंगलमयी गीत की भाषा के अनेक रूप हैं किन्तु उनमें छिपे हुए अर्थों का रूप एक ही है। आज जिस कौमी एकता की आवश्यकता महसूस की जा रही है, वह एकता बिना किसी मिलावट या रुकावट के लोक-गीतों में विद्यमान है। सन् 1971 युद्ध का नायक कैप्टन अब्दुल हमीद आज भी गाजीपुर-मऊ क्षेत्र के लोक-गीतों में जीवन्त रूप से साँस ले रहा है –

अब्दुल हमीद एक यहीं का मुसलमान था,
लोड़ दिया टैंक सारे, हुआ देश पर कुर्बान था ...।

ऐसे अनेक वीरों की गाथाएँ जो जन-मानस के कण्ठ में विराजती हैं, शुद्ध रूप से राष्ट्रीयता को प्रस्तुत करती हैं। अब्दुल हमीद की शौर्यगाथा जितना महिमापूर्ण ढंग से लोक-गीतों में है, शायद ही इतिहास के पन्नों में उसे उस रूप में लिखा गया है। लोक अपना नायक बिना किसी भूमिका के चुन लेता है और उसके वर्णन में वह बड़े ही स्वाभाविक ढंग से सभी वर्जनाओं को तोड़ देता है। लोक गीतों के बारीक धागे में समूचे राष्ट्र की मणियों को पिरोया जा सकता है। यह न केवल आज के परिवेश में प्रासंगिक है अपितु समकालीन साहित्य को पूर्णरूप से परिभाषित करने का सामर्थ्य भी रखता है। सन् 1971 में जब देश पर घोर संकट आया तो समूचा जनमानस आन्दोलित हो उठा था। घर-घर से किसानों-मज़दूरों के बच्चे सेना में भर्ती के लिए उठ खड़े हुए थे। उसका आह्वान लोक गीतों में कुछ इस प्रकार हुआ था –

माई हो ललनवाँ देइद, बहिनी हो बीरनवाँ देइद,
सीमवाँ पर लड़े खातिर, धनिया हो, सजनवाँ देइद ... ।

4.2.5 पाठ-सार

वर्तमान समय में लोक-साहित्य की स्थिति अपेक्षाकृत संतोषजनक है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में इसके अध्ययन, संकलन और संरक्षण हेतु केन्द्र बने हुए हैं। नवयुवक शोध छात्र इसके अध्ययन-अनुसन्धान में विशेष रुचि ले रहे हैं। समकालीन समस्याओं के निदान रूप में भी लोक-साहित्य को देखा जा रहा है। लेकिन आवश्यकता है कि शोधार्थियों को इसके अनुसन्धान हेतु उचित मार्गदर्शन मिले। लोकसाहित्य केवल पुस्तकालयों में बैठकर अनुसन्धान किया जाने वाला विषय नहीं है। यह क्षेत्र में जाकर किया जाने वाला व्यवहार कार्य है। शोधार्थियों को लुप्तप्राय विषयों का लोकसाहित्य लिपिबद्ध करने हेतु तत्पर होना चाहिए। लोक-साहित्य के शोध-अध्ययन का स्वरूप क्या हो ! इसका मूल मंत्र बताते हुए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा है– "लोक-गीतों को लेने में भी बहुत बेपरवाही बरती जाती है। कभी-कभी तो असली गीतों की जगह बनावटी गीत गाये जाते हैं जिनका फूहड़पन बिल्कुल नंगा दिखाई पड़ता है। लोक-काव्य का अपना अलग काव्यानुशासन होता है। वह अलंकारों की भद्दी भरमार को सहन नहीं करता। उसके रस, अलंकार सरल-सहज होते हैं। वह सुन्दर लोक गीत अब भी जनगण के कण्ठ में सुरक्षित है।"

प्रस्तुत पाठ में लोकसाहित्य के क्षेत्र में किये गए देश-विदेश के अग्रणी विद्वानों के कार्यों का अध्ययन किया गया है। इससे लोक-साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। लोक-साहित्य के अग्रणी विद्वानों द्वारा संकलन-संग्रह-अध्ययन में अपनायी गई तकनीक की जानकारी के साथ ही वर्तमान में लोक-साहित्य के अध्ययन की संभावनाओं को जाना जा सकता है। लोक-साहित्य संकलन-संग्रह-अध्ययन की प्रेरणा देने वाले अनुसन्धानकर्त्ताओं कर्नल टॉड, सर जॉर्ज ग्रियर्सन, विलियम क्रुक, शरच्चन्द्र राय, झवेरचन्द मेघाणी, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय, डॉ॰ उदयनारायण तिवारी, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, भिखारी ठाकुर, डॉ॰ श्याम परमार, डॉ॰ सत्येन्द्र दुबे, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, पण्डित रामनारायण उपाध्याय आदि विद्वानों द्वारा किये गए संकलन, संग्रह और अनुसन्धान कार्य से

लोक-साहित्य की अध्ययन-प्रक्रिया और उसके महत्त्व को जाना जा सकता है। लोक-साहित्य का अध्ययन से ही विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों के रहन-सहन, रीति-रिवाज और वास्तविक इतिहास का ज्ञान होता है।

साहित्य का सम्बन्ध समाज से है। लोक-साहित्य अपने अकृत्रिम और नैसर्गिक रूप में शुद्ध परिवेश में प्रवाहित प्राणवायु के सदृश है जिसमें विश्व और मानव की पहेली का गूढ़ार्थ, इतिहास, समाज, ज्ञान, मर्यादा और संस्कृति का रहस्य छिपा हुआ है। लोक-साहित्य में राष्ट्र की वास्तविक संस्कृति स्पन्दित होती है। लोक-साहित्य में राष्ट्रीय एकता का एक रागात्मक धागा विद्यमान है जो समकालीन चुनौतियों, समस्याओं एवं त्रासदियों का समुचित निदान है।

4.2.6 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भिखारी ठाकुर की बहुचर्चित रचना है –

(क) गंगा
(ख) परदेसी
(ग) निर्मोही
(घ) बिदेसिया

2. राहुल सांकृत्यायन के बचपन का नाम है –

(क) विष्णुदेव
(ख) कृष्णदेव
(ग) सत्येन्द्र
(घ) केदार

3. मालवी गीतों का सम्पादन किया है –

(क) राहुल सांकृत्यायन ने
(ख) भिखारी ठाकुर ने
(ग) डॉ॰ श्याम परमार ने
(घ) विलियम क्रुक ने

4. अब्दुल हमीद की लोक गाथा प्रचलित है –

(क) जौनपुर में
(ख) इलाहाबाद में
(ग) गाजीपुर में
(घ) बनारस में

5. झवेरचन्द मेघाणी की रचना है –

(क) चूँदड़ी
(ख) मालव की लोक-कथाएँ
(ग) धीरे बहो गंगा
(घ) अमवा

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भोजपुरी का शेक्सपियर किसे कहा जाता है ? उनके अवदान पर प्रकाश डालिए।
2. राहुल सांकृत्यायन के कृतित्व का परिचय दीजिए।
3. कृष्णदेव उपाध्याय के प्रेरणास्रोत कौन थे ? उपाध्यायजी के कृतित्व का उल्लेख कीजिए।
4. रामनरेश त्रिपाठी के रचनात्मक वैशिष्ट्य को उद्घाटित कीजिए।
5. लोक-साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता क्यों है ? अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : हिन्दी का लोक-साहित्य

इकाई – 3 : हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियाँ यथा – राजस्थानी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, अवधी, बुंदेली, हरियाणवी, खड़ीबोली, कुमाऊँनी, गढ़वाली, छत्तीसगढ़ी, बघेली, मालवी, कन्नौजी आदि के लोक-साहित्य का लोक-गीत, लोक नाट्य, लोक-नृत्य, लोकोत्सव, लोक कथा, लोक गाथा, प्रकीर्ण साहित्य, लोक कलाओं आदि प्रमुख रूपों के अन्तर्गत परिचय

इकाई की रूपरेखा

4.3.0 उद्देश्य कथन
4.3.1 प्रस्तावना
4.3.2 हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियाँ के लोक-साहित्य का परिचय
4.3.2.01 भोजपुरी
4.3.2.02 राजस्थानी
4.3.2.03 अवधी
4.3.2.04 बघेली
4.3.2.05 छत्तीसगढ़ी
4.3.2.06 मालवी भाषा
4.3.2.07 हरियाणवी
4.3.2.08 कन्नौजी
4.3.2.09 गढ़वाली
4.3.2.10 कुमाऊँनी
4.3.2.11 ब्रजभाषा
4.3.2.12 खड़ीबोली
4.3.2.13 बुंदेली
4.3.3 पाठ-सार
4.3.4 बोध प्रश्न
4.3.5 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.3.0 उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने से आप –

i. लोक-साहित्य के विविध रूपों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. लोक-गाथाओं में लोक जनजीवन की अनुभूतियों को जान सकेंगे।
iii. लोकोत्सवों एवं उनसे सम्बन्धित लोक-साहित्य का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

iv. हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियों के प्रसिद्ध लोक-नाट्यों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
v. लोक-साहित्य के अन्तर्गत प्रकीर्ण साहित्य का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

4.3.1 प्रस्तावना

शिष्ट-साहित्य की भाँति लोक-साहित्य की भी दो प्रमुख विधाएँ हैं – लोक गीत और लोक गाथा। शिष्ट-साहित्य में नाटक गद्य विधा है पर लोक-साहित्य में यह पद्यात्मक है। लोक-साहित्य पारे की तरह है जिसमें हमारे देश का जनजीवन पारदर्शी दिखाई देता है। इसमें जनसाधारण की व्यक्तिगत एवं परिवेशीय अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति है। स्त्रियाँ ऋतुगीत गाकर अपने भावों को व्यक्त करती हैं। कथाओं से मन बहलाव के साथ सोचने-विचारने की क्षमता विकसित होती है। लोक नाट्यों में लोक कलाकारों द्वारा वहाँ की प्रसिद्ध गाथाओं, घटनाओं इत्यादि का प्रस्तुतीकरण होता है। लोक नृत्य की सहज और स्वच्छन्द शैली द्वारा मांगलिक अवसरों और उत्सवों का उल्लास प्रकट किया जाता है। प्रकीर्ण साहित्य में लोकोक्तियाँ और मुहावरों का व्यंग्यात्मक शैली में प्रयोग लोक अपनी बात को प्रभावी बनाने के लिए प्रयुक्त करता है और अपने हृदय के भावों तथा विचारों को प्रकट करता है। हिन्दी को समृद्ध बनाने में हिन्दी से सम्बन्धित विभिन्न जनपदीय बोलियों का बड़ा योगदान रहा है जिनमें राजस्थानी, भोजपुरी, ब्रज, अवधी, बुंदेली, कन्नौजी, मालवी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, कुमाऊँनी, गढ़वाली, हरियाणवी, खड़ीबोली सहित कई उपबोलियों का सहयोग रहा है। किसी भी भाषा की व्याप्ति में उसका साहित्य महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हिन्दी से सम्बन्धित विभिन्न जनपदीय बोलियों में भी विपुल मात्रा में लोक-साहित्य रचा गया जिनमें लोक गीत, लोक गाथा, लोक-कथाएँ, लोक नाट्य, लोक सुभाषित अर्थात् मुहावरे और कहावतें विभिन्न गीत, नृत्य, लोकोत्सव आदि सभी लोक-साहित्य में समाविष्ट हैं। लोक-साहित्य सामान्य जनजीवन से सीधे सम्बद्ध होता है।

लोक-साहित्य जनश्रुतियों पर आधारित होने के कारण उसके रचनाकारों का परिचय दे पाना दुष्कर कार्य है। विभिन्न उपबोलियों में रचित लोक-साहित्य का अध्ययन करने के लिए भाषा परिवारों को प्रमुख शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है। मागधी भाषा साहित्य के अन्तर्गत भोजपुरी का समावेश होता है, अवधी भाषा परिवार में अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी का, ब्रज शाखा में ब्रज, कन्नौजी और बुंदेली का, राजस्थानी शाखा में राजस्थानी का, मालवी और पहाड़ी भाषा साहित्य में गढ़वाली, कुमाऊँनी का।

4.3.2 हिन्दी की विभिन्न जनपदीय बोलियाँ के लोक-साहित्य का परिचय

4.3.2.01 भोजपुरी

1. <u>लोक-कथाएँ</u> :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार लोक कथा लोक में प्रचलित वे कथानक हैं जो मौखिक परम्परा से क्रमशः एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है। हिन्दी साहित्य कोश में लिखा है कि लोक में

प्रचलित और परम्परा से चली आने वाली मूलतः मौखिक रूप से प्रचलित लोक कहानियाँ ही लोक कथा कहलाती हैं। इन कथाओं में प्रेम, जीवन का संघर्ष, न्याय की माँग, सुखान्त, रहस्य एवं रोमांच, उत्सुकता और वर्णन की स्वाभाविक शैली मुख्य है। लोक-कथाओं में वीरगाथा, किंवदन्ति या जनश्रुति, प्रसिद्ध प्रेम-प्रसंग आदि इसके वर्ण्य विषय होते हैं। भोजपुरी लोक-कथाएँ जनसामान्य में बहुत अधिक प्रचलित हैं जो प्रायः उपदेशात्मक, मनोरंजन, पौराणिक, धार्मिक, हितोपदेश, सामाजिक प्रसंग, विभिन्न त्योहार, व्रत-कथाओं आदि से विषयों पर आधारित होती हैं। धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों के अवसर पर लोक-कथाएँ सुनने और सुनाने का प्रचलन है। अक्सर ललही छठ (जिसे हलषष्ठी भी कहा जाता है), बहुला चौथ, कजरी, सावन के मौके, व्रत और त्योहार के अवसर पर कथाएँ कही और सुनी जाती हैं। मांगलिक कार्यों के दौरान सत्यनारायण की कथा भी इन्हीं लोक-कथाओं का ही उदाहरण है। इसके अतिरिक्त कुछ लोक-कथाएँ सामाजिक और पारिवारिक प्रेम की अभिव्यक्ति भी करती हैं जिनमें मानिकचन्द्र की कथा का विशेष महत्त्व है। इस कथा में एक पत्नी द्वारा कुष्ठरोग से ग्रस्त पति की सेवा कर समाज के सामने सच्चे पातिव्रत धर्म और एक आदर्श अर्द्धांगिनी का रूप प्रस्तुत किया जाता है। मानिकचन्द्र की कथा पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम की अभिव्यंजना है। विभिन्न राजा-रानियों की कहानी, पौराणिक कहानियाँ भी लोक-कथाओं के अन्तर्गत अत्यधिक लोकप्रिय हैं। इन कथाओं में कई गद्य एवं पद्य मिश्रित कथाएँ भी हैं। जैसे, फरगुद्दी यानी गौरैया की कथा, मानिकचन्द्र की कथा, लछटकही की कथा आदि।

<u>फरगुद्दी की कथा का सामान्य परिचय</u> :

एक बार एक फरगुद्दी (गौरैया) को घूमते हुए कहीं से एक चने का दाना मिल जाता है। जिसे दरने के लिए वह उसे एक जाँत पर लाती है और उसका एक टुकड़ा जाँत की डंडी में फँस जाता है। आगे का विवरण देखिए–

बढ़ई बढ़ई खूँटा चीर। खूँटा में मोर दाल बा।
का खाई का पिई, का लई जाई परदेस॥

बढ़ई कहलस : हाँ, हम एगो दाल खातिर खूँटा चीरे जाई ... ? फरगुद्दी राजा के दरबार में अरजी लगवलस।

राजा राजा बढ़ई डाँट।
बढ़ई न खूँटा चीरे। खूँटा में मोर दाल बा।
का खाई का पीई का लई जाई परदेस॥

इसमें फरगुद्दी बढ़ई से खूँटा चीरने के लिए अनुनय-विनय करती है। जिसके न मानने पर वह राजा, फिर राजा से रानी, फिर रानी से साँप, फिर साँप से लाठी, फिर लाठी से आग, फिर आग से समुद्र, फिर समुद्र से हाथी और फिर हाथी के न मानने पर अन्ततः चींटी से अर्जी करती है और चींटी फरगुद्दी की सहायता के लिए राजी होती है। चींटी फरगुद्दी की सहायता के लिए चल पड़ती है। दोनों को साथ देख हाथी डर जाता है और सोचता है कि कहीं चींटी मेरी सूंड में घुस जाएगी तो मुझे बिना मौत के मरना होगा। तब वह समुद्र सोखने के लिए राजी हो जाता

है। हाथी को अपनी ओर आता देख समुद्र काँपकर आग बुझाने के लिए तैयार हो जाता है। आग को देख लाठी साँप को मारने के लिए तत्पर हो जाती है। लाठी को अपनी ओर आता देख साँप रानी को डँसने के लिए अपनी स्वीकृति दे देता है। साँप को डँसने के लिए सहमत होते देख रानी राजा को समझाने के लिए तैयार हो जाती है और रानी के समझाने पर राजा आदेश देने के लिए तत्पर हो जाता है। राजा के आदेश पर अन्ततः बढ़ई का खूँटा चीरा जाता है। खूँटा चीरते ही फरगुद्दी की दाल बाहर निकल आती है और फरगुद्दी अपनी दाल लेकर परदेस चली जाती है। इस प्रकार यह एक नन्हीं-सी गौरैया की संघर्षगाथा है।

इसके अतिरिक्त कौवा हकनी एक स्त्री के सौतिया डाह की मार्मिक कथा है। इसी तरह दुखिया-सुखिया दो बहनों की एक कहानी भी लोक प्रसिद्ध है, जो ज्युतिया व्रत से सम्बन्धित है। ये सभी भोजपुरी लोक-कथाओं के उत्तम उदाहरण हैं।

2. लोक गाथा :

सरल वर्णनात्मक शैली में गीत के माध्यम से लोक सम्पत्ति वाली वे कथाएँ, जिनका प्रचार मौखिक रूप से हुआ हो, उसे लोक गाथा कहते हैं। लोक गाथाओं का रचयिता अज्ञात रहता है। लोक गाथा में मूल पाठ के प्रमाण का अभाव, संगीत और नृत्य का अभिन्न संयोग, स्थानीयता का पुट, सहज शैली, दीर्घ कथानक, एक-दो पंक्ति की पुनरावृत्ति और मौखिक परम्परा विद्यमान रहती है। इन कथाओं की विषयवस्तु में प्रेमकथा, वीरगाथा, स्थानीय चरित्र और रोमांचकारी लोक-गाथाएँ लोकप्रिय हैं। बिहुला बिषधरी की गाथा, नयकवा बनजारा, भरथरी चरित्र आदि प्रेमपूर्ण लोक-गाथाओं के उदाहरण हैं तो आल्हा, लोरिकायन आदि वीरगाथात्मक लोक-गाथाओं के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनमें आल्हा भोजपुरी भाषा की सबसे चर्चित लोक गाथा है। यद्यपि मूलतः यह बुंदेलखंडी भाषा में कवि जगनिक द्वारा रची गई थी परन्तु वह मूल स्वरूप आज दुर्लभ है। इस वीरगाथा का कन्नौजी और भोजपुरी में भी अनुवाद हो चुका है। कालान्तर में भोजपुरी भाषा में इसे अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। इसे गाने वालों को अल्हैत कहा जाता है।

लोरिकायन :

इस लोक कथा में सोनभद्र के लोरिक नामक एक यादव राजा की वीरता का चरित्रांकन है। अपने प्रेम को प्रकट करने के लिए लोरिक ने अपनी ब्याहता पत्नी और प्रेमिका मंजरी के कहने पर एक बड़ी-सी शिला के अपनी तलवार से दो टुकड़े कर दिए थे। जो आज भी रॉबर्ट्सगंज से शक्तिनगर मार्ग पर स्थित है। इस प्रकार यह लोक कथा प्रेमाख्यानक और वीररस के गुणों को अपने में समाहित किये हुए है।

बिहुला विषधरी :

यह भोजपुर क्षेत्र में प्रसिद्ध करुण रसप्रधान लोक गाथा है। इसमें बेहुला अपने पति की सर्पदंश से मृत्यु हो जाने के बाद भी अपने कठोर तप के बल पर उसके प्राण बचा लेती है।

ए राम कोहबर में रोवे सती बिहुला ए दइवा,
सुनि लोग दउड़ि आवे आवे ए राम।
ए राम, आइके देखल हवलिया रे दइवा,
देखि सब रोदनिया करे ए राम।

इसके अलावा गोपीचंद भरथरी, विजयमल, राजा ढोलन, नयकवा बनजारा, नल-दमयन्ती की प्रेमकथा, चनैनी आदि लोक गाथाएँ भोजपुर में अति प्रसिद्ध हैं। इनमें गोपीचंद भरथरी की कथा उनके वैराग्य की गाथा है जिसे स्थानीय जोगी सारंगी बजाकर घूम-घूमकर गाते हैं।

3. लोक गीत :

भोजपुरी के अधिकांश लोक गीत त्योहारों और संस्कारों पर आधारित हैं। कजरी, फगुआ, चौताल आदि त्योहारों के लोक गीत हैं तो सोहर मांगलिक, संस्कारों अवसरों पर गाये जाने वाले लोक गीत हैं। कहीं-कहीं इसे मंगल, सोहिला या ब्याई भी कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी सीतापति रामचन्द्र से सम्बन्धित रचना रामलला नहछू में भी सोहर नामक छन्द का प्रयोग बड़े मनोयोग से ही किया है। इसी प्रकार मुंडन के गीत, जनेउ के गीत, विवाह के गीत, वधू पक्ष के विवाह गीत के 24 प्रकार, तो वहीं वर पक्ष के विवाह गीत के 12 प्रकार बताए जाते हैं। इन्हें अलग-अलग संस्कारों के दौरान गाये जाने का चलन है। फिर गवना का गीत, मृत्यु के गीत आदि संस्कार गीत ही हैं जबकि जँतसार, जो जाँत से चक्की चलाकर आटा पीसने, रोपन गीत धानों को रोपते हुए, सोहनी खेतों से व्यर्थ की घास और पेड़-पौधों के अलग करने अर्थात् निराते समय गाये जाने वाले लोक गीत हैं जिन्हें श्रमजन्य कार्यों के अवसरों पर गाया जाता है। कुछ लोक गीत ऐसे हैं जिन्हें जाति विशेष के लोग ही गाते हैं, जैसे – बिरहा। बिरहा में विरह सम्बन्धी भावों की अभिव्यंजना होती है। यद्यपि वर्तमान समय में इसके स्वरूप में काफी फेरबदल हो चुका है। बिरहा गाने में अहीर जाति के लोग बड़े माहिर होते हैं। विवाह के समय बिरहा गाये जाने का प्रचलन है। अपने वास्तविक रूपानुसार गाये जाने पर इसके भाव अधिक प्रभावी रहते हैं। जैसे विरह के अवसर पर –

पिया पिया कहत पियर भइल देहिया, लोगवा कहेला पिड़रोग,
गंउवा के लोगवा मरमिया न जानेला, भइले गवनवा न मोर।

इसी प्रकार हरिजन जाति के लोग देवी पचरा गाते हैं। धोबी जाति के लोग धोबी गीत, गड़ेरिया जाति के लोग गिउरिया और पड़ोकी मार गीत गाते हैं तो कहार जाति के लोग कहरउ और तेलियों में कोल्हू गीत गाने की प्रथा है। इसी प्रकार अन्य जातियों के लोग भी अपनी परम्परानुसार गीत गाते हैं। इसके अलावा कुछ अन्य प्रकार के गीत भी प्रसिद्ध हैं जिनमें अलचारी प्रमुख है। अलचारी में स्त्री-वियोग का वर्णन होता है। अलचारी शब्द लाचारी से सम्बन्धित है। दरअसल अलचारी महिलाओं की पति वियोगजन्य स्थिति का परिचय देता है। जब – या तो पति परदेस गया हो और जल्दी लौट कर नहीं आया हो अथवा कुछ दिन साथ रहकर अब परदेस जाने के लिए तैयार हो – तब यहाँ महिलाएँ अपने पति को परदेस न जाने के लिए किंवा शीघ्र लौटकर आने के लिए मनाती

हुई दिखाई देती हैं। इसके साथ ही भोजपुरी लोक गीतों में संस्कार गीत, जिसमें सोहर, छठी, मुंडन, नामकरण, विवाह, गौना, ज्युनार गीत, विदाई, मृत्यु गीत आदि भी प्रचलन में हैं। भारतीय परम्परा में ऋतुओं का स्वागत लोक जनमानस अपने भावों के उद्गारों द्वारा करता है। इन ऋतु-गीतों में सावन का कजरी गीत, फाल्गुन में फाग गीत और होली गीत तथा चैता (चैत्र) गीत का सम्बन्ध लोकनायिकाओं के प्रेम के संयोग-वियोग भाव से है –

का करै तब पिआ अइहै हो रामा, जब चैत बीति जइहैं।
अमवा मोजरि गइले फरले टिकोरवा डारि-डारि भइल मतवरवा हो रामा।
सुतलपिआ के जगावे हो रामा, काइलि बड़ी पापिनि।

कजरी गीत :

इसे स्त्रियाँ सावन में झूला-झूलते हुए गाती हैं –

सझियाँ रेलिया से हो बलमवा मोर बिदेसवा गइले ना।
रतिया कारी मोरी भइली, निदिया भइली ना।

खेती-गृहस्थी के गीत-श्रमजीवी स्त्रियाँ अपनी थकान कम करने के लिए तथा अपने भावों की अभिव्यक्त करने के लिए काम करते वक्त गाती हैं।

4. जँतसार :

नहाए जे गइलीं हो मो बाबा के पोखरवा हो,
घोड़ा चढि अइलें कुँवरवा रे ना।
एक ओरि बिरन दुजे कुँवर सनेहियाँ तजि दिहली आपन देहिया।
हँसि हँसि बिरना हो डाले महजलिया, बझल आवे हरवा कंगनवा हो ना।
रोई रोई कुँवर हो डाले महा जलिया बझल आवे घोंघवा सेवरवा हो ना।
सिर धुनि रोवे हो राजा के कुँवरवा चलि गइलि चिरई हमार न हो।

रोपनी गीत :

धान की रोपाई के समय गाये जाने वाले लोक गीत का उदाहरण प्रस्तुत है –

मोरे मन भावे रजपुतवा हाय रे सखी,
मचर मचर करै जुतवा हाय रे सखी।

तीज-त्योहार के गीत :

तीज-त्योहार के गीत पिड़िया, बहुरा, गोवर्धन पूजा, जन्माष्टमी, छठगीत, व्रत के गीत देश-विदेश तक गाये जाते हैं। स्त्रियाँ सूर्योपासना कर छठमाई का व्रत करती हैं –

कोपि कोपि बोललि हो छठी मइया, सुन ए सेवेते का लोग।
मोरे घाटे दुबिया उपजली, मकड़ी लिहली बसै।
कर जारि बोलेले सेवक लोग तोर घाटे दुबिया छिलैबो, मकड़ी देबो उजार।

5. लोक नाट्य :

लोक नाट्य का सम्बन्ध साधारण जनसमूह से है। यह मंच सबके लिए सुलभ है और दर्शकों में कोई वर्गभेद नहीं है। लोक नाट्य में लोक विश्वास पर आधारित लोक कथानकों का प्रतिनिधित्व रहता है। ये नाटक लोगों से गहरे जुड़े होते हैं। इनमें गीत-संगीत, अभिनय, कथ्य सब कुछ समान रूप में रहता है। लोक नाट्य में राम लीला, रास लीला, नौटंकी, ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित नाट्य प्रमुख हैं। भोजपुरीलोक नाट्य में भिखारी ठाकुर का बिदेसिया नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय है। नाटक का कथानक उस बिदेसिया पति पर आधारित है जो बहुत दिनों से परदेस में गया है और अपनी नौकरी के कारण पत्नी और परिवार से कई दिनों तक मिल न पाया हो, जिससे व्यथित होकर बिदेसिया की पत्नी किसी माध्यम से अपना विरह सन्देश भिजवाती है और सन्देश पाकर पति द्रवित होकर अपनी नौकरी छोड़कर अपने परिवार के पास घर लौट आता है।

गवना कराइ सैंया घर बइठवले,
अपने गइले परदेस रे बिदेसिया।
चढ़ली जवनिया बइरिनि भइली हमरी,
के मोरा हरिहें कलेस रे बिदेसिया।
केकरा लक लिखिकै मैं पतिया पठइबों,
केकरा से पठइबौ सनेस रे बिदेसिया।

इसके साथ रविदत्त शुक्ल-कृत देवाक्षर चरित और राहुल सांकृत्यायन-कृत नइकी दुनिया, ढुनमुन नेता, मेहरारुन के दुरदसा, जोंक, ई हमार लड़ाई, देस रच्छक, लरमनवा के हार निहिचय आदि नाटक लोकप्रिय हैं। गोरखनाथ चौबे-कृत उल्टा जमाना, रामविचार पाण्डेय-कृत कुँवर सिंह और रामेश्वर सिंह कश्यप-कृत हास्य रस से परिपूर्ण लोहासिंह लोक नाट्य भोजपुर में मंचित होते रहे हैं।

6. प्रकीर्ण साहित्य :

प्रकीर्ण साहित्य का आशय है, लोकसुभाषित, मुहावरे, लोकोक्ति, लघुगीत, बाल गीत, खेल गीत आदि। इन सभी का अध्ययन प्रकीर्ण साहित्य के अन्तर्गत किया जाता है।

लोकोक्ति :

डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल ने लोकोक्ति को परिभाषित करते हुए लिखा है – "लोकोक्तियाँ मानवीय ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं।" अनन्तकाल तक धातुओं को तपाकर सूर्यराशि नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती हैं, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार लोकोक्ति मानवीय ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है। इसका सीधा सम्बन्ध मानवीय ज्ञान, अनुभव और कथन शैली से है। लोकोक्ति के उदाहरण इस प्रकार हैं –

शठे शाठ्यम समाचरेत।

* * *

ऊँट के मुँह में जीरा।

* * *

धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।

* * *

आछो मंत्री राज नासै।

बालगीत :

मेघराजा पानी दे, पानी दे गुड़ धानी दे।

* * *

गरम जिलेबी ठंडा पानी, पेटझरी त हम ना जानी॥

पालना गीत :

चंदा मामा आरे आव,
पारे आव,
नदिया किनारे आव,
बबुआ के मुँह में घुटुक।

खेल गीत :

उक्का-बुक्का तीन तलुक्का, लउवा लाची, चंदन काठी,
बाग में बगैचा डोलै, सावन में कनैला फूलै,
इजइल बिजइल, पान फूलन, बाबजी का ढोढ़िया पचक।

अन्य लोक प्रसिद्ध गीत का उदाहरण द्रष्टव्य है –

बम लहरी, बम-बम लहरी,
आजमगढ़ से चलल गाड़ी चल दोहरी।

4.3.2.02 राजस्थानी

जनपदीय बोलियों में लोक-साहित्य का सर्वाधिक अनुसन्धानानुरूप राजस्थानी भाषा में मिलता है। राजस्थानी का प्रयोग अनेक स्थानों पर मारवाड़ी कहकर किया गया है। मरुस्थलीय प्रदेश होने के कारण कई स्थानों पर मरुभाषा का भी प्रयोग मिलता है। कहा जाता है कि 16वीं शताब्दी तक राजस्थानी और गुजराती कोई भिन्न भाषा न होकर एक ही भाषा के रूप में जानी जाती थी। मालवी का भाषा साहित्य भी राजस्थानी भाषा परिवार के अन्तर्गत ही आता है। राजस्थानी लोक-साहित्य और इसकी संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। सन्त सान्निध्य के कारण विशेषकर जैन सन्तों के कारण राजस्थानी परिवेश सन्त काव्य की प्रवृत्ति से प्रभावित होता गया। इन सन्तों ने लोकभाषा के महत्त्व को समझकर जिस साहित्य का सृजन किया, वह लोकभाषा में था। वर्तमान परिस्थिति में भी राजस्थानी संस्कृति अपनी लोकसभ्यता से दूर नहीं हो पायी है जिसके कारण यहाँ का लोक-साहित्य आज भी यहाँ के जनमानस के बीच प्रासंगिक है। राजस्थानी भाषा में सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप विपुल मात्रा में लोक गीत, नाटक, मुहावरे, कहावतें आदि प्रचलित हैं।

1. लोक गीत :

लोक-गीतों का सम्बन्ध विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक प्रसंगों से है। इन लोक-गीतों के गायन के प्रसंग भी भिन्न-भिन्न होते हैं। गर्भधारण से लेकर मृत्युपर्यन्त के षोडश संस्कारों को लोक गीत अपने में समाहित किये हुए है। विविध प्रसंगों के साथ ही मेहनत-मज़दूरी करते समय भी लोक मानस द्वारा इन लोक-गीतों को गुनगुनाते हुए देखा जा सकता है। राजस्थानी लोक-गीतों के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रकार के लोक गीत प्रचलित हैं। मंगल प्रसंगों पर मंगलगान, बच्चे के जन्मदिन, शादी-ब्याह, विदाई यहाँ तक कि मृत्यु प्रसंगों पर रुदाली नामक लोक-गीतों का प्रसंगानुरूप गायन होता है। लोक-गीतों को ऋतुवर्णन, श्रमगीत, धार्मिक संस्कारों से सम्बन्धित गीत, स्त्रियों के शृंगार गीत (जिनमें संयोग और वियोग की स्थितियों का वर्णन किया जाता है), बाल गीत, धार्मिक गीत आदि श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

श्रावण अर्थात् सावन मास में महिलाएँ स्थानीय भाषा में ऋतुगान करती हैं। लोक गीत गायन के साथ सावन माह का स्वागत होता है। सावन के आते ही धरा मानों सोलह शृंगार कर लेती है। बाग-बगीचे अपने सौन्दर्य की छटा बिखेरने लगते हैं। तब सावन के झूलों के गीत गाये जाते हैं। प्रोषित पतिका स्त्रियाँ प्रिय के वियोग में पपीहे के बहाने लोक गीत गायन कर अपना वियोग वर्णित करती हैं। इसे पपइया गीत कहते हैं। पपइया का एक उदाहरण देखिए –

भँवर बागाँ में आइज्यो जी,
बागाँ में नार अकेली पपइयो बोल्यो जी।
सुन्दर गोरी किस विध आऊँ जी,
ओ जी म्हारी मरणी नार अकेली।

और भी,

मोरनी बागाँ मां बोले आधी रात मां।

तीज और होली के अवसर पर भी लोक-गीतों का गायन किया जाता है जिसे राजस्थानी में फाग कहा जाता है। एक उदाहरण देखिए –

रसिया रस लूटो होली में,
राम रंग पिचुकारि, भरो सुरति की झोली में।

राजस्थानी लोक-गीतों में श्रमगीतों का प्रचलन भी है। खेत में, घर में परिश्रम करते हुए ये श्रमगीत गाये जाते हैं। राजस्थान में खेत में काम करते समय जो श्रमगीत गाया जाता है उसे भणत कहते हैं। इन गीतों का स्वरूप अन्य भाषाओं के लोक गीतों जैसा ही होता है।

इसके अतिरिक्त संस्कार गीतों में बच्चे के जन्म के समय जो गीत गाया जाता है उसे जच्चा अर्थात् सोहर कहते हैं।

विवाह के समय बनड़ा, बाने बैठना, बड़ा विनायक, चाक पूजन, रातिजोगो, देवी गीत, सती गीत, विवाह के समय भाँवरे, ओळू अर्थात् विदाई आदि अवसरों पर प्रसंगानुरूप गीत गायन होता है। बनड़ी का उदाहरण देखिए –

आ तो बाबुल के रे, बागा की बहार बनड़ी।
बनड़ी रूपा री गनगोरा के उनिहार बनड़ी॥

गाँवों में विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ समय-समय पर दस्तक देती रहती हैं। इनमें से कई संसर्गजन्य भी होती हैं। ऐसी ही एक बीमारी है, 'चेचक'। चेचक आने पर सेडल माता के गीत गाये जाने का प्रचलन है। ऐसी

मान्यता है कि इन गीतों के गायन से माता की कृपा होती है और चेचक दूर हो जाती है। यानी चेचक आदि बीमारियों को दूर करने के लिए भी लोक गीत गाया जाता है।

इसके अलावा बच्चों को बहलाने-फुसलाने आदि के समय बाल-गीतों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार राजस्थानी लोक संस्कृति में भिन्न-भिन्न अवसरानुकूल लोक-गीतों का प्रचलन मिलता है।

2. लोक गाथा :

राजस्थानी लोक-साहित्य में लोक-गाथाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजस्थानी लोक गाथाएँ अपने स्वरूप और विषय में पर्याप्त भिन्नता लिये हुए हैं। लोक-गाथाएँ कथावस्तु प्रधान होने के कारण आकार में लोक-गीतों से अपेक्षाकृत बड़ी होती हैं। लोक गाथा में गायन भी है और कथन भी। इसमें किसी चरित्र विशेष के व्यक्तित्व और कृतित्व का बखान किया जाता है। चरितमूलक लोक-गाथाओं के गायन में काफी समय लगता है और प्रायः ये वीर रस से ओतप्रोत रहती हैं। पाबूजी री पड़ राजस्थानी लोक मानस की अत्यन्त प्रिय लोक गाथा है। अपनी कर्त्तव्यपरायणता के कारण पाबूजी राजस्थानी संस्कृति में देवतुल्य प्रतिष्ठित हैं। राजस्थानी की विभिन्न उपभाषाओं तथा स्थानीय बोलियों में अन्य अनेक लोक गाथाएँ प्रचलित हैं, जिनमें से कवि कल्लोल-कृत 'ढोला मारू रा दूहा', पद्मा तेली महेश्वरी-कृत 'रुक्मिणी मंगल', 'कृष्ण-रुक्मिणी रो ब्यावलो', रतना खाती-कृत 'नरसीजी रो मायरो', श्री गणपति स्वामी-कृत 'जीणमाता रो गीत' आदि लोक-गाथाएँ समय-समय पर प्रकाशित भी हुई हैं।

कवि कल्लोल-कृत 'ढोला मारू रा दूहा' को हिन्दी में सम्पादित कर पुस्तक की भूमिका में लोक-साहित्य की महत्ता की चर्चा की गई है। इस कृति का सम्पादन श्री नरोत्तमदास स्वामी, श्री सूर्यकरण पारीक और श्री रामसिंह द्वारा किया गया था। 'ढोला मारू रा दूहा' एक प्रेमकथा है। जिसमें ढोला का विवाह मारू के साथ बचपन में ही हो जाता है। किन्तु समय व्यतीत होने के साथ बड़े होते-होते ढोला मारू को भूल जाता है। कालान्तर में उसका दूसरा विवाह मालवणी से हो जाता है। मालवणी मारू के रूप सौन्दर्य से भली-भाँति परिचित है इसलिए वह मारू का कोई भी पत्र या सन्देश ढोला तक नहीं पहुँचने देती। एक बार मारू स्वप्न में अपने पति ढोला को देखकर व्याकुल हो उठती है। अपने बेटी की हालत देखकर मारू के पिता और पूँगल के राजा एक चतुर गायक नरवर को ढोला के यहाँ भेजते हैं जो अपनी गायकी के माध्यम से मारू का सन्देश ढोला तक पहुँचाने में सफल हो जाता है। नरवर का गायन सुनकर ढोला को अपने बचपन के विवाह की स्मृति हो उठती है और वह अपनी पत्नी मारू को लाने पूँगल की ओर प्रस्थान करता है। इधर मालवणी उसे कई प्रकार से रोकने का प्रयास करती है लेकिन ढोला नहीं मानता। मारू ढोला को देखकर अत्यन्त आनन्दित हो जाती है जिसके बाद ढोला मारू को लेकर अपने राज्य नरवर की ओर प्रस्थान करता है। राह में उमर सूमरा ढोला और मारू के बीच कण्टक बनकर मारू को प्राप्त करने के लिए उनका पीछा करता है परन्तु ढोला अपने ऊँट पर सवार होकर बड़ी ही तेज गति से वहाँ से निकल पाने में कामयाब हो ही जाता है। इस प्रकार वह अपने राज्य नरवर पहुँचकर अपनी पत्नी मालवणी को भी मना लेता है और दोनों ही रानियाँ ढोला के साथ हँसी-खुशी रहने लगती हैं। ढोला को रिझाने के लिए ढाढ़ी (ढोली) द्वारा गाये गए कुछ दोहे उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं–

आँखड़ियाँ डंबर भईं, नयण गमाया रोय।
क्यूँ साजण परदेस में, रह्या बिंडाणा होय॥

* * *

दुज्जण बयण न साँभरी, मना न वीसारेह।
कूँझाँ लालबचाह ज्यूँ, खिण खिण चीतारेह॥

3. लोक-कथाएँ :

राजस्थानी लोक-साहित्य में लोक-कथाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। जनसामान्य के मनोरंजन का साधन होने के साथ ही ये लोक कथाएँ अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा इतिहास से परिचित भी कराती हैं। ये लोक-कथाएँ बच्चों को चिन्तन-मनन हेतु प्रेरित करती हैं। किशोरों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के साथ बड़े-बुजुर्गों के आनन्द-हर्ष का साधन भी होती हैं। विभिन्न व्रतों, पूजा-पाठ आदि के अवसरों पर लोक-कथाएँ कही-सुनी जाती हैं। ये लोक-कथाएँ प्रायः प्रत्येक समाज और धर्म में प्रचलित हैं जिनमें किसी विशिष्ट व्यक्ति की उत्कृष्टता के कारण उसे प्राप्त यश-पुण्यादि की कथा कहकर, श्रोताओं में अनुकरणीय कार्य करने की प्रवृत्ति विकसित की जाती है। राजा भोज री बात, गोदड़ की कहानी आदि लोक-कथाएँ राजस्थानी लोक-साहित्य में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार व्रतों एवं त्योहारों के आयोजन में भी इसी प्रकार की लोक-कथाएँ अन्तर्निहित हैं जो जनजीवन और जनमानस को नियन्त्रित और संतुलित रखती हैं।

4. लोक नाट्य :

राजस्थानी लोक-साहित्य में लोकनाटकों का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। नृत्य और संगीत के सान्निध्य के कारण ये अपेक्षाकृत अधिक मनोरंजक होते हैं। विभिन्न पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों की कथाओं पर आधारित ये लोक नाट्य आज भी गाँवों में प्रचलित हैं। लोक नाट्य में सामान्य जनजीवन से सम्बन्धित और लोक संस्कृति में व्याप्त जनकथाओं का ही मंचन किया जाता है जिनमें विशेष तौर पर ऐतिहासिक चरित्रों पर आधारित लोक नाट्य अधिक प्रचलित हैं। इनमें वास्तविकता और कल्पना का अद्भुत समन्वय होता है। कभी-कभी ऐतिहासिक यथार्थ की तुलना में कल्पना के आधिक्य के कारण इन लोक कथाओं में अतिशयोक्ति का समाहन भी देखने को मिलता है किन्तु अपने ऐतिहासिक नायकों के प्रति अत्यधिक श्रद्धाभाव के कारण इनका वह प्रस्तुतीकरण भी दर्शकों को खूब भाता है। प्रायः मेले, धार्मिक-सामाजिक सम्मेलन आदि आयोजनों के अवसर पर इन लोक-नाटकों का मंचन किया जाता है। धार्मिक घटनाओं, सामाजिक प्रसंगों और ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित ये नाटक जनसामान्य का मनोरंजन करते हैं।

राजस्थान में 'रामलीला', 'पाबूजी री पड़', 'रावलियाँ री रम्मत' आदि लोक नाट्य खूब खेले जाते हैं। 'पाबूजी री पड़' ऐतिहासिक कथावस्तु पर आधारित लोक नाटक है। जिसमें पाबूजी के जीवन पर आधारित

विशेष घटनाक्रमों को एक लम्बे से कपड़े पर दिखाया जाता है। पाबूजी की घटनाओं को बताने के लिए भोपा-भोपी पात्र हाथ में मशाल लेकर अभिनय करते हुए घटनाओं के चित्र दिखाते हुए उनके जीवनचरित का गान करते हैं। बताया जाता है कि पाबूजी राठौड़ घुड़सवारी के बड़े शौकीन थे। इसी शौक के कारण उन्हें देवल चारण की घोड़ी पसंद आ जाती है। देवल चारण को पाबूजी वचन देते हैं कि वे उसकी गायों की रक्षा करेंगे। पाबूजी के विवाह के दौरान पाबूजी का बहनोई देवल चारण की गायों को घेरकर उन्हें हथियाने का प्रयास करता है। देवल चारण गायों की रक्षार्थ पाबूजी को पुकारती है। उधर पाबूजी के विवाह की भाँवर चल रही होती है परन्तु देवल चारण की आवाज सुनकर वे व्याकुल होकर अपना वचन निभाने चल पड़ते हैं। पाबूजी के रिश्तेदार उन्हें बहुत समझाते-बुझाते हैं परन्तु अपने प्रण को निभाने के लिए वे उनकी एक नहीं सुनते और विवाह संस्कार को अधूरा छोड़कर प्रस्थान करते हैं। गायों की रक्षार्थ अपने बहनोई जींदराव से भीषण युद्ध के दौरान वे शहीद हो जाते हैं। उनकी इसी कर्त्तव्यपरायणता को इस लोक नाटक में अभिव्यंजित किया जाता है।

रावलियाँ री रम्मत लोक नाट्य का प्रचलन अकबर के जमाने से है। बनिया, किसन गूजरी, बीकाजी, संन्यासी आदि का स्वांग रचते हुए रावलियाँ री रम्मतलोक नाट्य का अभिनय किया जाता है।

5. प्रकीर्ण साहित्य :

विभिन्न लोकोक्तियों और मुहावरों का समावेश प्रकीर्ण साहित्य के अन्तर्गत किया जाता है। कुछ कहावतों के उदाहरण देखिए –

जिसो खावे अन्न विसो हुवे मन्न।

अर्थात् जिस प्रकार की कमाई का अन्न खाया जाता है, व्यक्ति का मन और उसके भाव भी उसी प्रकार के हो जाते हैं।

ऊँचा चढ़ चढ़ देखो, घर घर ओही लेखो।

अर्थात् व्यापक दृष्टि से देखोगे तो पाओगे कि घर-घर की यही कहानी है।

वस्तुतः ये कहावतें दीर्घकाल के अनुभूत सत्यों पर आधारित हैं और इसी कारण इनकी प्रासंगिकता आज भी है। साहित्य में जिन मुहावरों और कहावतों का प्रयोग किया जाता है वह दीर्घकालीन अनुभूत सत्य और संचित ज्ञान का परिणाम है।

4.3.2.03 अवधी

पौराणिक और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अवध प्रदेश कोसल और साकेत के नाम से भी जाना जाता है। अवध प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा को अवधी के नाम से जाना गया। अवधी का इतिहास धार्मिक और

राजनैतिक दृष्टि से काफी उतार-चढ़ाव का रहा । विभिन्न परिवेशों का सान्निध्य में रहने से इसका साहित्य भी विविधता को आत्मसात् करता गया है । अवधी भाषा में रचित प्रमुख ग्रन्थों में कुतुबन-कृत 'मृगावती', मंझन-कृत 'मधुमालती', जायसी-कृत 'पद्मावत', गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'रामचरित मानस' उल्लेखनीय हैं । अवधी में रचित कृतियों में जनभाषा की स्पष्ट झलक दिखाई देती है । अवधी में रचित साहित्य साहित्यिक दृष्टि से महान् है । अवधी में लोक-साहित्य की परम्परा भी समय के साथ-साथ चलती रही । सत्ता के निरन्तर बदलाव की धूप-छाँव और मिश्रित संस्कृति के बीच अवधी लोक-साहित्य अच्छा फला-फूला । अवधी भाषा में अनेक लोक गीत, लोक कथा, लोक गाथा, कहावतें, नाटक इत्यादि रचे गए जो लोक-साहित्य-संग्रहण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं ।

1. <u>अवधी लोक-कथाएँ</u> :

अन्य भाषाओं के लोक-साहित्य की भाँति अवधी भाषा का प्रारम्भिक लोक-साहित्य भी पद्यात्मक शैली में ही रचा गया । परिणामतः इसकी लोक-कथाएँ भी पद्य शैली में अधिक प्रचलित हुई । कालान्तर में अवधी लोक-साहित्य में गद्य शैली को भी अपनाया गया । अवधी में प्रचलित लोक-कथाएँ प्रायः धार्मिक अनुष्ठानों, दैनन्दिन लोक व्यवहारों, नैतिक शिक्षा, चमत्कारों तथा पौराणिक आख्यानों पर आधारित हैं । विद्वानों ने अवधी की लोक कथाओं को दो विभागों में विभक्त किया है – (i) प्रसंगानुरूप व्रतादि पूजा-पाठ के अवसर पर कही जाने वाली कथाएँ और (ii) वे समस्त कथाएँ, जो व्रतादि धार्मिक अनुष्ठानों और पूजा-पाठादि से भिन्न अवसरानुकूल कही और सुनी जाती हैं । इन लोक-कथाओं में रहस्य तो होता है परन्तु साधारण कोटि का । सीधी-सादी भाषा और आडम्बर रहित गतिविधियों को अपने में समाहित किये हुए अवधी लोक-कथाएँ लोकानुभव एवं जनश्रुतियों पर आधारित हैं । सर्व-मंगल की कामना के उद्देश्य से रची गई ये लोक-कथाएँ सुखान्त होती हैं । अवधी भाषा की लोक-कथाओं में ध्रुवकुमार, राजा भरथरी, श्रवणकुमार, राजा सरवन, ढोला हजारी (जो की राजा नल के जीवन पर आधारित है), एकादसी की कथा, सारंगा सदाबृज आदि की कथाएँ प्रचलित और लोकप्रिय हैं । इसके अतिरिक्त परसा, पाप और पुन्य, सबसे छोटी कहानी, सबसे बड़ी कहानी आदि लोक-कथाएँ भी प्रसिद्ध हैं । श्रवण कुमार पर आधारित लोक कथा का एक उदाहरण देखिए, जब श्रवणकुमार की माता प्यास से व्याकुल हो उन्हें पानी पिलाने को कहती हैं तो श्रवण पानी लाने के लिए दशरथ ताल के निकट पहुँचते हैं और फिर आगे की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है –

> मटकी बाजी रपटा पाऊँ, भनक परी दसरथ के कान ।
> दसुरथ मारा बानु चढ़ाय, छूटे बान करिहाएँ लागु ॥
> राम-राम कहि गिरे उतान, को आहिउ करिया नवधान ।
> को आहिउ दसरथु के ताल । हम आहिन सरवन के लाल ॥

2. <u>लोक नाट्य</u> :

लोक नाट्य के माध्यम से सामान्य जनजीवन की इच्छाओं, अभिलाषाओं को अभिव्यंजित किया जाता है । जनसाधारण में व्याप्त गतिविधियों, रूढ़ियों-परम्पराओं, रीति-रिवाजों तथा संस्कृति आदि का चित्रण इन

लोकनाटकों में मिलता है । अवधी के लोकनाटकों में रामलीला, रासलीला, स्वाँग, नौटंकी आदि रूपों में जनजीवन की अभिव्यक्ति की जाती है। रामलीला और रासलीला में धार्मिक भावना को समाहित करते हुए पौराणिक चरित्र विशेष का चरित्रांकन कर उसे जनसामान्य के समक्ष एक आदर्श रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अवध प्रदेश का अतीत धार्मिकता से ओत-प्रोत रहा है। उसका प्रभाव अवध लोक नाट्यों में सहज ही देखने को मिलता है। इन नाटकों में पुरुष पात्र ही विभिन्न भूमिकाओं में अभिनय करते हैं।

रामलीला अवधी का अत्यन्त लोकप्रिय लोक नाट्य है। रामलीला का मंचन भी बड़ा भव्य और रोचक होता है। इसका मंचन करने के लिए किसी बड़े मैदान में एक वृहदाकार मंच तैयार किया जाता है। मंच पर एक ओर रामायण कहने के लिए रामायण मण्डली बैठती है जो उच्च स्वर में गायन करते हुए रामलीला के प्रसंगों को आगे बढ़ाने का कार्य करती हैं। रामलीला के पात्र संवाद कथन के माध्यम से कथा को विस्तार देते हैं। कई स्थानों पर इन पात्रों का संवाद दर्शकों के साथ भी हो जाता है जिससे दर्शकों और रामलीला के पात्रों के बीच सहज समन्वय स्थापित हो जाता है। रामलीला की ही तरह रासलीला का भी मंचन किया जाता है। रासलीला वासुदेव कृष्ण के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आधारित विभिन्न लीला-प्रसंगों का मंचन है। इनके अतिरिक्तराजा हरिश्चन्द्र, दानवीर कर्ण, भक्त प्रह्लाद और राम-वनगमन जैसी धार्मिक कथाओं का मंचन भी इन लोक नाट्यों के माध्यम से किया जाता है।

धार्मिक-भावना से ओतप्रोत लोक नाट्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे लोक नाट्य भी मंचित किए जाते हैं जो किसी पौराणिक और धार्मिक पात्र से सम्बद्ध न होकर सामाजिक प्रवृत्तियों पर आधारित हैं। इनकी कथावस्तु और परिवेश समाज पर आधारित होता है। सामान्यतः इन्हें नौटंकी के नाम से जाना जाता है। सामाजिक परम्पराओं, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, सामाजिक आडम्बरों, संस्कृति आदि को विषय बनाकर इनका मंचन किया जाता है। यह एक प्रकार का गीतिनाट्य होता है जहाँ पात्र एक मंच पर बैठ जाते हैं और अवसर आते ही अपनी भूमिका निभाते हैं । लोक-आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इनमें कई बार अश्लीलता का समावेश भी हो जाता है । अपनी स्वाभाविक सरलता के कारण नौटंकी जनसाधारण का मनोरंजन बखूबी करती है । प्रायः इनका मंचन रात्रि में किया जाता है और कई बार ये पूरी-पूरी रात चलती हैं। यद्यपि वर्तमान में सिनेमा की पहुँच गाँवों तक हो गई है तथापि नौटंकी की लोकप्रियता में आज भी कोई कमी नहीं आई है।

नौटंकी के अलावा अवध प्रदेश में स्वाँग का भी पर्याप्त प्रचलन है। विवाहादि के अवसर पर भिन्न-भिन्न जाति-समुदाय के लोग स्वांग किया करते हैं। खुले रंगमंच पर मंचित किए जाने वाले स्वाँग के पात्र छोटेछोटे प्रसंगों पर अभिनय करते हुए सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्य कसते हैं और नृत्यगीत प्रस्तुति तथा संवादों के मध्य तीक्ष्ण कटाक्ष भी कर देते हैं।

3. लोक गीत :

प्रायः सभी भाषाओं के लोक गीत दो मुख्य वर्गों में विभाजित हैं – पहला संस्कार गीत और दूसरा श्रमगीत। अवधी भाषा के लोक-गीत भी आधायन की दृष्टि से इन्हीं दो वर्गों में विभक्त हैं। परन्तु अवधी लोक गीतों का यह वैशिष्ट्य है कि इन लोक-गीतों में अनेक लोक गाथाएँ भी समाहित हैं, जिन्हें पँवाड़ा कहा जाता है। उदाहरणार्थ, कुसुमा नामक पँवाड़ा। वास्तव में 'कुसुमा' पँवाड़ा जँतसारी गीत है परन्तु यह लोक गाथा की श्रेणी में आता है। यहाँ कुसुमा नामक युवती के स्वयं पर मिरजा यानी स्थानीय राजा के रीझ जाने के बाद अपने आत्मसम्मान की रक्षा करने की घटना की चर्चा मिलती है। मिरजा उसके भाई तथा पिता को बंदी बना लेता है। कुसुमा बड़ी युक्ति से अपने पिता और भाई को छुड़वाती है और प्राण त्याग कर अपने पिता और कुल के आत्मसम्मान को भी बचाती है। इसी प्रकार का एक और पँवाड़ा 'चंद्रावली' अवधी में अत्यन्त प्रसिद्ध है। चंद्रावली की कहानी भी कुसुमा से मिलती-जुलती-सी है। पानी लेने गई चंद्रावली मुगल का शिकार बनती है। वह चंद्रावली को छिपा लेता है। चंद्रावली चील्ह(चील पक्षी) के माध्यम से अपने पिता और भाई को अपने बंदी होने का समाचार भिजवाती है। भाई और पिता के मिन्नतों के बावजूद मुगल चंद्रावली को नहीं छोड़ता। इस पर चंद्रावली एक युक्ति का सहारा लेते हुए मुगल को भोजन की व्यवस्था करने के लिए कहती है और उसके वहाँ से जाते ही स्वयं पर तेल डालकर अग्निदाह कर आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार यहाँ भी चंद्रावली कुसुमा की ही तरह अपने कुल के आत्मसम्मान हेतु अपने प्राण न्योछावर कर देती है। अवधी लोक गीतों में वर्णित इन कहानियों के पात्र किसी-न-किसी ऐतिहासिक घटनाक्रम को अपने अंदाज़ में बयाँ करते नज़र आते हैं। अवधी लोक गीत जनजीवन में अपनी पैठ गहरे जमाए हुए हैं। चंद्रावली का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

चंद्रा धरै कगरवा, गगरिया भरि ना।
जैसे नंगी हो कटरिया, लपकाती आवै ना॥
वैसे चंद्रा की देहिया, लपाकै लागी ना।
घोड़वा चढ़े एक आवै हो तुरकवा, झुकत आवै ना॥

अवध क्षेत्र में अवसरानुकूल विभिन्न व्रत, पूजा-पाठ, लोकविश्वास तथा संस्कार आदि पर आधारित लोक गीत गायन का प्रचलन है। ऋतुगीत, श्रमगीत, मेला, संस्कार, देवी गीत, धार्मिक गीत आदि का भी विभिन्न अवसरों पर गायन किया जाता है। ऋतुगीत में कजली का गायन सावन के आने पर होता है। अवध प्रदेश में गाँवों में विशेषतया महिलाएँ झूला झूलते समय इस गीत का गान करती हैं। प्रेमाकुलता -प्रधान इन गीतों में संयोग-वियोग के साथ ही व्यथा-कथन भी होता है। इसी दौरान सावन गीत भी गाया जाता है। यद्यपि इसका स्वरूप कजली की ही तरह होता है परन्तु फिर शैलीगत भिन्नता के कारण इन्हें सावन ही कहा जाता है।

ऋतु-गीतों में चौमासा, छहमासा, बारहमासा जैसे गीतों का भी महत्त्व है। इन गीतों की विशेषता यह है कि ये विरहगीत हैं। जायसी-कृत पद्मावत इसी श्रेणी में आता है। ये गीत पति के वियोग में ही गाये जाते हैं। पति

वियोगिनी स्त्रियों को पति के वियोग में कुछ भी नहीं सुहाता। प्राकृतिक सौन्दर्य उन्हें पीड़ा प्रदान करता है। ये गीत हिन्दी साहित्य की उन रचनाओं की तरह जान पड़ते हैं जिनमें स्त्री पात्रों का विरह वर्णित किया गया हो।

ऋतु-गीतों में ही होली के अवसर पर गाये जाने वाले फगुआ, फाग, चौताल नाम से लोक-गीतों का प्रचलन है। इसी क्रम में अवध प्रदेश में रेख्ता नामक गीत लोकप्रिय है। राधा-कृष्ण, सीता-राम के होली खेलने की कथा पर आधारित ये रेख्ता शृंगार रस से ओतप्रोत गीत होते हैं। कहीं-कहीं इनमें शिवजी को भी होली खेलते हुए बताया जाता है। इस अवसर पर भाँग का विशेष रूप से सेवन किए जाने के कारण यह प्रसंग मादक हो उठता है। पति-पत्नी के संयोग वर्णन के साथ ही इनमें उनके वियोग के प्रसंगों का भी वर्णन किया जाता है। साथ ही, हास-परिहास, सुख-दुःख, संयोग-वियोग वर्णन के कारण रेख्ता गायन से आनन्द और उल्लासमय वातावरण उपस्थित हो जाता है। विभिन्न पौराणिक प्रसंगों को अभिव्यक्त करने वाले लोक गीत रेख्ता का एक उदाहरण देखिए –

चक्र सुदरसन राम का रखवाली पर ठाढ़।
किरपा होय रघुनाथ की सो पढ़ों दसौ औतार।
अवतार राम पहिले जब मच्छ को धरैं।
संखासुर मारि राम कोप हैं करे।
रघुबर के सेवकन को दुख कभी ना परे।

भोजपुरी के समान ही अवधी भाषा में इन ऋतु-गीतों के अतिरिक्त श्रम-गीतों के गायन का भी प्रचलन है। जिनमें जँतसार, सोहनी अर्थात् निराई के समय के गीत, कोल्हू के गीत आदि उल्लेखनीय हैं। परिश्रम करते समय लोक समुदाय इन श्रम-गीतों को गाकर अपने श्रम-बोझ को हल्का करने का प्रयास करते हैं। जाँत से चक्की पीसते समय पसीने से लथपथ महिलाएँ जँतसार के गान में अपनी वेदनाओं की अभिव्यक्ति करती दिखाई देती हैं। करुण रस प्रधान इन गीतों को गाकर स्त्रियाँ परिश्रम से उपजी थकान और नीरसता से स्वयं को मुक्त अनुभव करती हैं। इसी प्रकार सोहनी के गीत उस समय गाये जाते हैं जब बोवाई के बाद उनमें छोटी-छोटी घास या अनावश्यक झाड़-झरकट उग आते हैं तो ग्रामीण समुदाय खुरपी नामक औजार से अपने खेतों से इन अनावश्यक उगी घास-झरकट को उखाड़ने का काम कर रहे होते हैं। इस प्रक्रिया को निराई कहते हैं। निराई के समय उत्पन्न थकावट को दूर करने की दृष्टि से गाये जाने वाले सोहनी गीत में वेदनाभिव्यक्ति भी की जाती है। व्यथा की अभिव्यंजना प्रसंग विशेष का सन्दर्भ लेकर एक चरित्र और कथा के माध्यम से की जाती है। उदाहरणार्थ –

ऊँचे कुंअना कै नीची जगतिया।
रामा पनियाँ भरै यक बंभनियाँ रे ना।
घोड़े चढ़ा आवा एक राजा का पुतवा हो ना।
बाँभनि एक चुन पनियाँ पिअउती हो ना।

ग्रामीण परिवेश में गन्ने का रस कोल्हू के द्वारा निकाला जाता है। इसके अलावा तेल भी कोल्हू के द्वारा ही निकाला जाता है। इस प्रकिया के समय जो गीत गाया जाता उसे कोल्हू के गीत कहते हैं। जिसे अक्सर कुर्मी

और तेली समुदाय के लोग गाते हैं। शृंगार रस से परिपूर्ण इन गीतों में प्रेम के संयोगवियोग पक्षों को अभिव्यक्त किया जाता है।

गाँवों में मेला लगने का खूब प्रचलन होता है। किसी त्योहार, तिथि, पर्व अथवा किसी विशेष आयोजन पर स्थानीय मन्दिर के आस-पास पर मेले का आयोजन होता है। इन मेलों में शिरकत करने आते समय महिलाओं और पुरुषों की पृथक्-पृथक् टोलियाँ गीत गाते हुए मेलों में पहुँचती हैं। इन गीतों के विषय मेले के प्रयोजन पर निर्भर करते हैं।

अवधी भाषा में संस्कार-गीतों की अधिकता है। धार्मिक संस्कारों और पारम्परिक रीति-रिवाजों से अनुप्राणित इन संस्कार-गीतों में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के गीतों का समावेश मिलता है। सोहर, दोहद, सरिया, छठी, लोचना, बधाई, पसनी, मूड़न, जनेउ, सिलपोहनी, देवी गीत, माण्डव के गीत, बियाहे के गीत अर्थात् विवाह गीत, विवाह के ही अवसर पर द्वार-चार, भाँवर, बाती, गारी, परछन, नकटा, गौना और मृत्यु गीत आदि इन्हीं संस्कार-गीतों के अन्तर्गत ही आते हैं। ये गीत बच्चे के जन्म से लेकर जीवनपर्यन्त के संस्कारों पर आधारित होते हैं जो प्रसंगानुकूल समय-समय पर गाये जाते हैं। इन गीतों में दोहद अर्थात् साध के गीत किसी स्त्री की गर्भधारणा के पश्चात् गाये जाते हैं। अवध प्रदेश में जब गर्भवती स्त्री के मायके वालों को यह शुभ समाचार ज्ञात होता है तो वे पुत्री की ससुराल सिधौरी भेजते हैं। इस अवसर पर सिधौरी के गीत बड़े आनन्द के साथ गाये जाते हैं। साध या दोहद गीतों में गर्भवती स्त्री की विभिन्न मनोदशाओं और इच्छाओं की अभिव्यक्ति भी होती है। यह एक प्रकार का सोहर ही होता है किन्तु अवसर भिन्नता के कारण इसका नाम पृथक् है।

सोहर की परम्परा से ही सम्बन्धित सरिया नामक लोक गीत बच्चे के जन्मावसर पर गाये जाते हैं। आजकल ये दुर्लभ हो चुके हैं। बच्चे के जन्म के पूर्व गर्भवती स्त्री के पेट में दर्द दाई को जचकी के लिए बुलाना, बच्चे के जन्म के बाद दाई का नेग माँगना आदि गतिविधियों की चर्चा सरिया नामक लोक गीत में मिलती है। शिशु-जन्म के बाद बधाई नामक गीत गाने की प्रथा है। यह बधाई बच्चे की बुआ लाती है, जिसमें बच्चे के लिए विभिन्न खिलौने और कपड़े आदि लाने का प्रसंग वर्णित किया जाता है। जिसके बदले बुआ अपनेभाई की ओर से नेग पाती है। ये गीत छठी अर्थात् अन्नप्राशन के संस्कार के बीच गाये जाते हैं। बच्चे के पैदा होने के छठवें दिन छठी नामक संस्कार आयोजित होता है, जिसमें सगे-सम्बन्धियों और परिवारजनों को भोजन कराया जाता है। कहीं-कहीं इसे छठी की पूजा भी कहते हैं। इस पूजा में विभिन्न देवी-देवताओं और ग्रहों के चित्रों के साथ माँ और बच्चे की सांकेतिक तस्वीर बनाए जाने की प्रथा है। छठी की पूजा के अवसर पर छठी के गीत गाये जाते हैं। एक उदाहरण देखिए –

पहिले तो पूजे दसरथ मोती थारु भराए।
फिर तो पूजै रानी कौसल्या देई मोतिन माँगभराइ।
फिर तो पूजै बाबा सबै जनै मोतिन थारु भराइ।
हु बिधि पूजा बनाइ॥

इस प्रकार विभिन्न पौराणिक प्रसंगों को गाकर ग्रामीण महिलाएँ छठी की पूजा करती हुई जच्चा-बच्चा के कुशल-मंगल की कामना करती हैं। इस संस्कार में घर के बड़े का विशेष महत्त्व होता है।

पसनी के अवसर पर भी सोहर गीत गाया जाता है, जिसमें नवजात बच्चे को अन्नप्राशन कराया जाता है। इसके बाद मुंडन और कर्णवेध, फिर बरुइा यानी जनेउ संस्कार के अवसर पर भी सोहर गीत गाने की प्रथा है। विवाह के अवसर पर गेहूँ की सफाई करते समय देवी गीत का उठान किया जाता है। इसके बाद सील पोहन, माड़व, विवाह गीत आदि का गायन विधियों के क्रमानुसार अवसर पर किया जाता है। विवाह के अवसर पर एक विशेष प्रकार के गीत गाना बड़ा शुभ और आवश्यक माना जाता है जिसमें वधू पक्ष की महिलाएँ वर पक्ष को गीतों के माध्यम से गालियाँ सुनाती हैं। इसे किसी प्रकार का अपशब्द न मानकर प्रेम-प्रदर्शन का प्रतीक माना जाता है। इसमें सम्बन्धी और उनके रिश्तेदारों को गाली सुनाने का प्रचलन है। इसके पश्चात् भाँवर और विदाई आदि संस्कारों के अवसर पर सम्बन्धित गीत गाकर लोक-कल्याण और मांगल्य की कामना की जाती है। इन सभी संस्कारों के अतिरिक्त अन्तिम संस्कार कहे जाने वाले अर्थात् मृत्यु के समय भीलोक गीत गाये जाते हैं। इसे मृत्यु गीत कहा जाता है। यद्यपि इन गीतों में दुःख और विलाप की अभिव्यक्ति होती है फिर भी अपनी आयु पूर्ण कर सिधारने वाले वृद्ध की मृत्यु उसके भाग्य की द्योतक मानी जाती है। इन गीतों में मृतक की आत्मा का आलाप-संलाप होता है। एक उदाहरण देखिए–

बिछुरत प्रान काया अब काहे रोई हो।
कहत प्रान सुनो मोरि काया,
मोर तोर संग न होई हो।
हम जाबइ अब दुसरे महल मा,
तोर कवन गति होइ रे।

मृत्यु-गीतों में मृतक के परिवारजनों की भिन्न-भिन्न मनोदशाओं का वर्णन करने के साथ ही उनका शोक व्यक्त किया जाता है। इन गीतों के माध्यम से शोकाकुल परिवारजनों का संताप कम करने का प्रयास किया जाता है। अवध प्रदेश में इन संस्कार गीतों के अलावा अन्य धार्मिक, सामाजिक और विभिन्न अवसरानुकूल लोक गीत गाये जाते हैं।

वर्तमान में अवधी भाषा में कई कवियों ने अपनी कलम चलाई जिनमें दयाशंकर दीक्षित, बलभद्र दीक्षित, रमई काका आदि कवियों का नाम विशेष तौर पर उल्लेखनीय है।

अवधी भाषा में अनेक मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी प्रचलित हैं।

4.3.2.04 बघेली

अर्द्धमागधी अपभ्रंश से उत्पन्न बघेली भाषा का निकटतम सम्बन्ध अवधी भाषा परिवार से है। स्वाभावतः यह अवधी भाषा के निकट की ही एक उपबोली है। मध्यप्रदेश के रीवाँ, नागोद, शहडोल, सतना, मैहर

तथा इसके आसपास के क्षेत्रों में विस्तृत बघेली बोली महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश और नेपाल के कुछ क्षेत्रों में भी बोली जाती है। लोक-साहित्य की दृष्टि से बघेली की विस्तृत परम्परा रही है। इनमें लोक गीत, लोक गाथा और लोक-कथाएँ आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

1. लोक-कथाएँ :

अन्य उपबोलियों की भाँति बघेली में भी विभिन्न विषयों पर आधारित लोक-कथाएँ प्रचलित हैं। भूत-बलैत, राजा-रानी, साधू-सन्त, महात्मा आदि विविध कथानकों पर आधारित लोक-कथाएँ बघेली में मिलती हैं। बघेली लोक-कथाओं में बाप-पूत, काँटा से मारकाट जैसी कथाएँ अधिक प्रचलित हैं। काँटा से मारकाट नामक कथा में पिरथी की पत्नी को नदी से नहाकर लौटते समय नचकौनू तिवारी के घर के आगे काँटा चुभ जाता है। मात्र इसी बात पर पूरे गाँव में बवाल हो जाता है। पिरथी नचकौनू पर भड़क जाती है। किसी तरह लालजी के माध्यम से नचकौनू से माँफी मगवाई जाती है। इस पर भी पिरथी का क्रोध शान्त नहीं होता। इसी क्रोधवश नचकौनू तिवारी की तलवार से हत्या कर दी जाती है। कथानक इसी क्रम में आगे बढ़ता रहता है और आगे चलकर दोनों ही पक्षों में भारी मारकाट मच जाती है और इसका अन्त महाभारत के युद्ध के समान होता है। यह एक सामाजिक प्रसंग को आधार बनाकर कही गई कथा है जिसमें मात्र एक छोटे से काँटे के चुभ जाने से बात राई का पहाड़ बन जाती है।

बाप-पूत नामक लोक कथा एक काल्पनिक कथा है जिसमें एक ब्राह्मण अपने पुत्र के साथ परदेस जाने का प्रयोजन करता है। राह में चलते हुए एक जंगल पड़ता है। वहाँ उन्हें तेज प्यास लगती है और वे दोनों एक तालाब के पास पानी पीने जाते है। वहीं उन्हें एक खाली मकान दिखाई देता है जिसमें जाकर वे देखते हैं कि वहाँ बहुत सारा अनाज, दूध और अन्य खाद्य पदार्थ रखे हुए हैं परन्तु मकान में कोई नहीं है। वहाँ वे लोग दाल-चावल बनाकर खाते हैं। इसी बीच एक दानव वहाँ आ जाता है और बड़े से पात्र में खीर बनाकर खाता है। उसे देख बाप और पूत बहुत डर जाते हैं और वहाँ से भागने की सोचते हैं। किसी बात पर बाप जब अपने बेटे को जोर से डाँटता है तो उस डाँट की आवाज सुनकर दानव डर के मारे वहाँ से भाग जाता है। इस प्रकार कथानक आगे बढ़ता है। दानव यह बात लोमड़ी, बाघ आदि को बताता है कि वहाँ कोई मुझसे भी बड़ा दानव आ गया है। सभी पशु दानव के मकान पर आकर बाप-पूत को ढूँढ़ते हैं परन्तु वहाँ उन्हें कोई नहीं मिलता। इसी बीच अचानक बाप की तेज आवाज सुनकर बाघ आदि भी वहाँ से भाग खड़े होते हैं। बाप-पूत दोनों बड़े आराम से बहुत सारा धन वहाँ से लेकर पुनः अपने गाँव चले आते हैं। इस प्रकार की मनोरंजनात्मक लोक-कथाएँ बघेली क्षेत्र में लोकरंजन का काम करती हैं।

2. कहावतें :

"आँधर के आगे रोवै आपन दीदा खोवै।"

अर्थात् किसी निर्दयी के आगे अपनी व्यथा कहना हमेशा व्यर्थ ही होता है।

*   *   *

"जस मुकुन्द तस पादन घोड़ी, तैसे राम मिलैएन जोड़ी।"

अर्थात् बुरी संगत वाले को बुरा फल और अच्छी संगत वाले को अच्छा परिणाम ही मिलता है।

*   *   *

"सड़ा मूड नौआ के दोख।"

अर्थात् गलती किसी की और दोष किसी और को देना।

*   *   *

"बाप राज न खाए पान, दाँत निपोरे गए प्राण।"

अर्थात् जो काम आपने कभी नहीं किया हो या जो काम आप नहीं जानते हों। उस काम को नहीं करना चाहिए। उसके करने से नुकसान ही होता है। हिन्दी में इसी से मिलती-जुलती कहावत है –

"जिसका काम उसी को साजै और करे तो डंडा बाजै।"

*   *   *

"आपन देखि न देय, दूसरे का लात मारै।"

अर्थात् अपने दोषों की ओर न देखकर दूसरों की गलतियों का बखान करना।

3. <u>मुहावरे</u> :

"आँख निपोरब"	:	आँख दिखाना या आँख तरेरना
"सऊंज लगाउब"	:	बराबरी करना
"लरखुरिया करब"	:	चाटुकारिता करना
"मोह चोराउब"	:	किसी काम से जी चुराना
"सटक जाब"	:	मौका पाते ही भाग जाना

4. लोक गीत :

अन्य बोलियों की तरह ही बघेली में भी पर्याप्त मात्रा में लोक गीत मिलते हैं। इनका स्वरूप और प्रसंग भी वैसा ही है जैसा कि अन्य बोलियों में मिलता है। इन लोक-गीतों में धार्मिक, सामाजिक संस्कारों के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों के अलावा ऋतुगीत, श्रमगीतों की व्यापक परम्परा रही है।

(1) सोहर

जौने दिना राम जनम में है,
धरती अनंद भई धरती अनंद भई हैं हो।
गउवन लुटि भई गउवन लुटि भई हो,
आवा गउवन के नाते एक कपिला।
रमइयाँ मुँह दुध पियें रमइया मुँह दुध पिये हो,

(2) मुंडन संस्कार का गीत

झलरिया मोरी उलरू झलरिया मोरी झुलरू,
झलरिया शिर झुकई लिलार।
अंगन मोरे झाल विरवा,
सभवा मां बैठे हैं बाबा कउन सिंह,
गोदी बइठे नतिया अरज करैं लाग।

(3) विवाह गीत

काहे का सेयों हरदी का बिरवा,
काहे का मैन मजीठ।
काहे का सेयों धेरिया कउन कुँवरि,
कच्चे दूध पिआय।
पिअरी का सेयों हरदी का बिरवा,
चुनरी का मैन मजीठ।
धरम का सेयों धेरिया कवन कुँवरि,
कच्चे दूध पिआय।
खोरवन दुधवा कटोरवन पानी,
आजी ओखी लीन्हें ठाढ़।
एक नन्चू दुधवा पिया मोरी नातिन,
फेर चौके मा जाव।

(4) सोहाग गीत

चिरई रे सोवई चुनगुन रे सोवई,
सोइ गे न गरवा के लोग।
राजा के सोहागवा,
एक नहीं सोये हैं अजवा कउन सिंह,
जेखे घरे नतिनी कुँवारि।

(5) ऋतु गीत

सावन के समय कजरी या कजली,
कउन रंग मुंगवा कउन रंग मोतिया,
कउन रंग ननदी के विरना।
लाल रंग मूँगा सुपेत रंग मोतिया,
सँवरे रंग ननदी के बिरना।
काहेन सोहई मुंगवा काहेन सोहई मोतिया,
काहेन सोहई ननदी के बिरना।
गले सोहइ मुंगवा कानेन सोहइ मोतिया,
सेजरिया सोहई ननदी के बिरना।
टूटि जइहै मुंगवा बिखर जइहैं मोतिया,
रूठि जइहैं ननदी के बिरना।
बिन लेबइ मुंगवा बटोर लेबइ मोतिया,
मनाय लेबइ ननदी के बिरना।

(6) बारहमासी

उतरत सावन लागत भादौं आये न विरना तुम्हार हो,
काहेन की तोरी माया बनी है काहेन के तोरे बाप हो।
काहेन के तोरे भइया बने हैं आ न सावन मास हो,
कठवन की तोरी माया बनी है पथरन के तोरे बाप हो।

(7) प्रणय सम्बन्धी गीत

दादरा गीत

बना सोवई अटारी जगावा सखी,
उनके मौरीमाँ लागी है,
अनार की कली कचनार की कली,
अनार की कली कचनार की कली।

(8) बिरहा

आमा कच्छ पानी, बनायो चोंगी।
चिरई तोरे कारन, भयो जोगी॥
लंबी सड़किया के गोला बाजार।
लौटा कै पानी छलक नहिं जाय।
पतरइला कै बोली, अलख नहिं जाय।
बिरहा घाट मा बिरहा बिटउना।
मैं बिरहन पनिहार॥

बघेली क्षेत्र में अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं जिनमें गोंड, भुमिया, मवासी, पनिया आदि लगभग 14-15 उपजातियाँ यहाँ रहती हैं। संस्कृति और परम्परानुरूप इनकी जीवन-पद्धति में ईश्वर का बड़ा स्थान होता है। स्वाभावतः इनकी लोक-परम्परा, जीवन-शैली, यहाँ तक कि भाषा और संस्कृति भी अन्य जातियों से भिन्न जान पड़ती है। परिणामतः उपर्युक्त सामाजिक और धार्मिक लोक-गीतों के अलावा बघेली में कुछ जनजातीय लोक गीत भी गाये जाते हैं जिनमें विभिन्न देवताओं की आराधना के साथ ही संस्कार-गीत, त्योहार-गीत, ऋतु-गीत, श्रम-गीत आदि प्रचलित हैं। इनमें विभिन्न जनजातियों में बोली जाने वाली भाषाओं की शब्दावली का विशेष प्रभाव देखा जाता है। प्रायः इन जनजातीय गीतों में कोई-न-कोई कथा कही जाती है। झुमकी, छल्ला, माँदर, करमा आदि लोक गीत काफी लोकप्रिय हैं। करमा जनजातीय गीत का एक उदाहरण देखिए –

ऐ हे हे हाय पतरैला जवान, देखे मा लागे सुहावन रे।
कउन फूल फूले लुहिलुहिया हो,
कउन फूल फूलै मनमाल।
कउन फूल फूलै रस डोमरी,
जहाँ छइला करे दरबार।

5. पहेलियाँ :

अरिया माँ लोलरिया नाचै।

(जीभ)

* * *

उज्जर बिलैया, हरियर पूँछ। तू जान महतारी पूत।

(मूली)

* * *

एक सींग के गोली गाय, जेतना खियावौं ओतना खाय।

(जाँत)

* * *

अत्थर पर पत्थर, पत्थर पर जंजाल, मोर कहानी कोई न जाने, जाने भइया लाल।

(नारियल)

* * *

अगर कगर दौरिया, बीच मा बहुरिया।

(दाल)

बघेली लोक-साहित्यमर्मज्ञों में रामबेटा पाण्डेय, कुन्तीदेवी अग्निहोत्री, जगदीशप्रसाद द्विवेदी, मोहनलाल श्रीवास्तव, रामेश्वरप्रसाद मिश्र, बृजकिशोर निगम आदि के नाम प्रमुख हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से बघेली लोक-साहित्य सम्पदा को बढ़ाया है।

4.3.2.05 छत्तीसगढ़ी

छत्तीसगढ़ के इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध पौराणिकता और ऐतिहासिकता से है। पौराणिक काल में यहाँ का अधिकांश भाग दण्डकारण्य के नाम से प्रचलित था। कालान्तर में इसके कुछ हिस्से को महाकोसल और कुछ को कोसल के नाम से जाना जाने लगा। छत्तीसगढ़ नाम के सम्बन्ध में कहा जाता है कि किसी समय यहाँ 36 गढ़ थे। इसी का आधार लेते हुए इस प्रदेश को छत्तीसगढ़ कहा गया। छत्तीसगढ़ी बोली का मुख्य क्षेत्र छत्तीसगढ़ राज्य है। भाषाविज्ञान में अर्द्धमागधी अपभ्रंश के दक्षिणी रूप से इसका विकास माना जाता है। इसका सम्बन्ध भी अवधी भाषा परिवार से ही है। इसका क्षेत्र सरगुजा, कोरिया, बिलासपुर, रायगढ़, खैरागढ़, रायपुर, दुर्ग, राजनांदगाँव, कांकेर आदि है। यहाँ अन्य जातियों के अतिरिक्त लगभग 50 से अधिक आदिवासी जातियाँ निवास करती हैं। विभिन्न जातियों और जनजातियों की संस्कृति के सम्मिश्रण से यहाँ का लोक-साहित्य भी समृद्धि पाता गया। लोक-साहित्य की दृष्टि से यहाँ लोक-कथाएँ, गाथाएँ, लोक गीत, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, पहेलियाँ आदि लोकप्रिय हैं।

1. लोक-कथाएँ :

छत्तीसगढ़ी लोक-कथाओं में कहीं तो आदिवासी समुदाय के दैनन्दिन जीवन में व्याप्त लोकविश्वास, क्रिया-कलाप, कल्पनागम्यता, जादू-टोना, भूत-प्रेतादि से सम्बन्धित कथाएँ हैं तो कहीं सामान्य जीवन, रहस्य, होशियारी, देवी-देवताओं से सम्बन्धित लोक-कथाएँ भी प्रचलित हैं । कुछ कथाएँ पौराणिक प्रसंगों पर भी आधारित होती हैं । छत्तीसगढ़ी लोक-कथाओं में बकरी और बाघिन, देही तो कपाल, का करही गोपाल, महुआ का पेड़, बकरी और सियार, सुख की खोज, अकास धरती, चम्पा और बाँस, मूरख कौआ, अनोखा दोस्त आदि लोक कथाएँ प्रचलित हैं । ये लोक कथाएँ आकार में छोटी होती हैं किन्तु इनका सीधा सम्बन्ध प्रकृति के किसी-न-किसी उपादान से होता है । धरती और अकास ऐसी ही कथा है, जिसमें एक सियार यह सोचता है कि इस धरती पर सभी का विवाह होता है परन्तु धरती और अकास का विवाह नहीं होता । अतः वह दोनों का विवाह करवाने का निश्चय करता है । एक दिन गाजा-बाजा की आवाज सुनकर अन्य सियार भी धरती और अकास के विवाह में सम्मिलित होकर मदमस्त हो जाते हैं और नशे में ही सियार और देवता का वार्तालाप चलता है । जिसमें देवता कहते हैं कि धरती और अकास एक नहीं हो सकते । कहते हैं उस दिन से ही सियार रात में चिल्लाने लगा । नितान्त काल्पनिकता के सहारे गढ़ी गई यह लघु कहानी छत्तीसगढ़ की सीधी-सादी संस्कृति को अभिव्यक्त करती है ।

2. लोक गाथा :

छत्तीसगढ़ी में अनेक लोक-गाथाएँ प्रचलित हैं जिनमें कुछ ऐतिहासिक तो कुछ पौराणिक प्रसंगों पर आधारित हैं । राजा वीरसिंह, श्रवणकुमार, भरथरी आदि लोक गाथाएँ यहाँ विशेष लोकप्रिय हैं । भरथरी से सम्बन्धित लोक गाथा का उदाहरण देखिए –

> कतेक गैना ल गावंव मय, तीन महीना ल ओ,
> तीने महीना जादू मारे हे, जादू काटत हे राम,
> खड़े-खड़े सामदेई ये, रूपदेई राम,
> जादू ल बइरी इन काटत हें, जेला देखत हे राम,
> काटे मँ जादू कट जाए, नैना रानी ये ना,
> गुस्सा होवय देखतो बाई रामा ये दे जी ।

3. लोक गीत :

छत्तीसगढ़ी की यह विशेषता यह है कि यहाँ लोक गीत और लोक नृत्य परस्पर पूरक होते हैं । अर्थात् प्रत्येक लोक नृत्य के साथ एक विशेष लोक गीत का युग्म होता है । माँदर, झाँझ, बाँसुरी, घुँघरू आदि नृत्य-गीतों के विशेष प्रकार हैं । इसके अतिरिक्त नारी गीत, पुरुष गीत, सुआ गीत, करमा गीत, मंड़ई गीत, ऋतुगीत, श्रमगीत, संस्कारगीत आदि लोक गीत छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य की शोभा बढ़ाते हैं ।

(1) करमा गीत

चलो नाचे जाबा रे गोलेंदा जोड़ा,
करमा तिहार आये है, नाचे जाबो रे ।
पहली मैं सुमिरौं सरस्वती माई रे,
पाछू गौरी गणेश रे गोलेंदा जोड़ा ... ॥
गाँव के देवी देवता के पइंया लगारे,
गोड़ लागौ गुरुदेव के रे गोलेंदा जोड़ा ॥

(2) सुआ गीत

छत्तीसगढ़ी लोक-गीतों में सुआ गीत नामक लोक गीत बहुत लोकप्रिय है । सुआ तोते को कहते हैं । सुआ गीत में स्त्रियाँ एक तोते के माध्यम से सन्देश भेजती हैं । आम मान्यता के अनुसार सुआ एक ऐसा पक्षी है जो किसी के द्वारा बोली गई बातें सुनकर, रटकर उन्हें पुनः उसी स्वर में बोलता है । हिन्दी कहावतों में भी तोता रटंत का ज़िक्र मिलता है । जायसी के पद्मावत में भी हीरामन सुआ (तोते) की चर्चा विशेष तौर पर हुई है । स्त्रियाँ प्रायः सुआ को अपने हृदय की बात बताकर यह विश्वास करती हैं कि वह उनके मन की व्यथा प्रियतम तक अवश्य पहुँचा देगा । सुआ गीत को वियोग-गीत माना गया है । सुआ गीत हमेशा एक ही बोल से प्रारम्भ होता है जो इस प्रकार है –

तरी नरी नहा नरी नहीं नरी ना ना रे सुअना, मोर नयना जोगी, लेतेंव पाँव ल पखार ॥
रे सुअना तुलसी में दियना बार, अग्धन महीना अगम भइये ।
रे सुअना बादर रोवय ओस डार, पूस सलाफा धुकत हवह ॥
रे सुअना किट-किट करय मोर दाँत, माध कोइलिया आमा रुख कुहके ॥
रे सुअना मारत मदन के मार, फागुन फीका जोड़ी बिन लागय ।
रे सुअना काला देवय रंग डार, चइत जंवारा के जात जलायेंव ॥
रे सुअना सुरता में धनी के हमार ॥

(3) हल्दीया विवाह गीत

एके तेल चढ़गे कुँवरि पियराय ।
दुए तेल चढ़गे महतारी मुरझाय ॥
तीने तेल चढ़गे फुफु कुम्हलाय ।
चउथे तेल चढ़गे मामी अंचरा निचुराय ॥

(4) गौरा का गीत

गौरा का त्योहार छत्तीसगढ़ के रावत समुदाय की स्त्रियों द्वारा मनाया जाता है । इस त्योहार में गऊरा-गऊरी अर्थात् शिव-पार्वती की पूजा-अर्चना की जाती है । यह लोकोत्सव प्रतिवर्ष दीपावली और लक्ष्मी-पूजा के बाद

मनाया जाता है। कार्तिक महीने की कृष्ण पक्ष की अमावस्या को मनाए जाने वाले इस उत्सव में दीपावली की रात्रि में परम्परानुसार गौरा-गौरी की विधिवत बरात निकाले जाने का प्रचलन है। आदिवासी समुदाय के लोग तालाब या किसी जलाशय के समीप की मिट्टी से गौरा-गौरी की मूर्तियाँ बनाते हैं। सूर्योदय से पूर्व ही ब्राह्म मुहूर्त में गौरा-गौरी की बरात निकाली जाती है जिसमें लोग सज-धज कर धूमधाम से सम्मिलित होते हैं। इस दौरान गाँव की महिलाएँ गौरा-गौरी के भक्तिमय गीत गाती हैं जिससे सम्पूर्ण परिवेश भक्ति-भाव से परिपूर्ण हो जाता है। गौरा-गौरी विवाहोत्सव पूर्ण होने के उपरान्त कलश यात्रा प्रारम्भ होती है। तदनन्तर तालाब या किसी जलाशय में गौरा-गौरी की मूर्तियाँ विसर्जित की जाती हैं। इस पूजा में सभी जाति और समुदाय के लोग सम्मिलित होते हैं।

इस अंचल में दीपावली पूजा के दिन को शुरुहुत्ति त्योहार कहते हैं। इसका आशय है, त्योहार की शुरुआत। इस दिन दिवस अवसान के समय लोग समूह में एकत्रित हो गाँव के बाहर जाते हैं और एक स्थान पर पूजा करते हैं। उसके बाद उसी स्थान से मिट्टी लेकर गाँव लौट आते हैं। साथ लायी गई मिट्टी को साना जाता जाता है और उससे शिव-पार्वती की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। शिव गऊरा हैं जिनकी सवारी बैल है और पार्वती गऊरी हैं जिनकी सवारी कछुआ है। मूर्तियों को लकड़ी के पिढ़हे पर आसीन कर उन्हें अत्यन्त कौशल और उत्साहपूर्वक सजाया जाता है। लकड़ी की एक पिढ़हे पर बैल पर आरूढ़ गऊरा और दूसरे पिढ़हे पर कछुए पर आरूढ़ गऊरी की प्रतिष्ठा की जाती है। पिढ़हे के चारों कोनों में चार स्तम्भ लगाकर उन पर दिया-तेल-बाती रखा जाता है। सम्पूर्ण झाँकी अत्यन्त मनोहारी जान पड़ती है। रात्रि में लक्ष्मी-पूजन के उपरान्त गऊरा-गऊरी की झाँकी सम्पूर्ण गाँव में निकाली जाती है। झाँकियों में दो कुँवारे लड़के या दो कुँवारी लड़कियों का युग्म गऊरा-गऊरी के पिढ़हे सर पर रखकर चलते हैं। उनके साथ चल रही स्त्रियाँ गऊरा-गऊरी के गीत गाती हैं, नृत्य-गीत दोनों ही आरम्भ हो जाते हैं। गाते-नाचते हुए लोग झाँकियों के साथ-साथ चलते हुए पूरे गाँव की परिक्रमा करते हैं। कुछ पुरुष एवं महिलाएँ नाचते-नाचते अति उत्साहित हो जाते हैं। मान्यता है कि उस समय उन लोगों पर देवी-देवता सवार होते हैं।

गऊरा लोक गीत का गायन केवल महिलाओं द्वारा ही किया जाता है। पुरुष दमऊ, सींग बाजा, ठोल, गुदुम, मोहरी, मंजीरा, झुमका, दफड़ा, ट्रासक आदि वाद्ययंत्र बजाते हैं। इसे गंडवा बाजा कहते हैं क्योंकिइन वाद्यों को गांडा जाति के लोग ही बजाते हैं।

इस उत्सव के पहले जो पूजा होती है, वह बैगा जाति के लोग करते हैं। इस पूजा को 'चावल चढ़ाना' कहा जाता है। गीत गाते हुए गऊरा-गऊरी को चावल चढ़ाया जाता है। पुरऊराम साहू द्वारा संकलित गीत देखिए –

एक पतरी रयनी भयनी, राय रतन ओ दुरगा देवी।
तोरे शीतल छाँय, चौकी चंदन पिढ़ुली ॥

महिलायें गीत गा रही हैं और गऊरा-गऊरी को चावल चढ़ाया जा रहा है –

एक पतरी चावल, दो पतरी चावल, ...
दू पतरी रयनी भयनी, राय रतन ओ दुगा देवी।
तोरे शीतल छाँय, चौकी चंदन पिढ़ुली॥

4.3.2.06 मालवी भाषा

1. लोक नाट्य : माच

'माच' शब्द मंच का अपभ्रंश है। यह मालवा का प्रसिद्ध लोक नाट्य है। इसमें मालवा की धार्मिक और शृंगारिक प्रवृत्तियों का समावेश देखने को मिलता है। इसे समन्वय लोक नाट्य भी कहते हैं क्योंकि इसने विभिन्न लोक-शैलियों को अपनाया है। ये लोक नाट्य फाल्गुन, चैत और बैसाख में मंचित होते है। माच के प्रदर्शन के 15 दिन पूर्व मंच का खंभा गाड़कर मण्डली का मुखिया शुभ लग्न में पूजा करता है। यह मंच 5 से 15 फीट ऊँचा होता है। इसके तीन ओर दर्शक बैठते हैं। मंच के 12 घाट वाले पाट पर नवयुवक कार्यकर्त्ता तथा टेक पर गायकों का समूह बैठता है। यह लोक नाट्य रात भर चलता है। इसका क्रम है – ईश वन्दना, भिश्ती द्वारा पानी छिड़कना, जाजिम बिछाना, देवी द्वारा आशीर्वाद देना, गुरु की जय बोलना। माच में भैरव की स्तुति अनिवार्य है। इसके प्रवर्तक गुरु गोपाल ने राजस्थानी ख्यालों का मालवी रूपान्तरण किया है। इसी आधार पर माच लोकशैली की रचना हुई है। माच का विदूषक शेरमार ख़ाँ राजस्थान के कठपुतली नाट्य के तीसमार ख़ाँ का अनुकरण है। इसका विदूषक हाजिर-जवाब और हास्यकला में निपुण होता है। वह श्रोताओं को हँसाकर उनका मनोरंजन करता है। माच ख्यालकारों में गुरु बालमुकुन्द प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा लिखित लोक नाट्यों में राजा हरिश्चन्द्र, नागजी, ढोला-मारुणी, गेंदा परी, राजा भरथरी, सुधबुध सालंगा, हीर-रांझा, देवर-भौजाई, चारण-बनजारा लोकप्रिय रचनाएँ हैं। लोक नाट्य खेलने वालों में कालू तथा भेरू ने प्रसिद्धि पाई है। ख्यालों के बाद माच का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। यह लोकशैली में माच ख्याल की रचना है। माच के साथ ही अन्य भाषाओं की तरह यहाँ नौटंकी भी प्रसिद्ध है।

2. लोक गीत :

भेरू (भैरव) के गीत

भेरूजी गोतन बाजूटिया रा सावला,
उनी सुतारण ले लाव ललकार।
हाताँ री झालो देती आवे रे गुड़ री गूजरी,
भेरूजी जो तम कलस्या रा सावला॥
उनी कुमारण से लाव ललकार।

4.3.2.07 हरियाणवी

1. लोक नाट्य : स्वांग

स्वाँग का अर्थ है, 'नकल करना'। यह नाच-तमाशा अथवा नौटंकी का पूर्व रूप है। स्वाँग धारण कर किसी का चरित्रांकन करना ही स्वाँग करना है। यह हरियाणा और राजस्थान का नकलपरक नाट्य रूप है। स्वाँग हरियाणा की सामाजिक धरोहर है। अन्य लोक-नाट्यों के भावों की तरह ही इसके भी भाव और रंग होते हैं। स्वाँग के माध्यम से पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य किया जाता है। बिदेसिया के सामाजिक नाटक के समान यह कथा-गीत सवाल-जवाब के रूप में होता है। इसका प्रारम्भ 'आगे सुणों हवाल' कहकर होता है। ऐसा बोलकर दर्शकों की जिज्ञासा बढ़ाई जाती है। पूर्वार्द्ध में कथा शिथिल रहती है किन्तु उत्तरार्द्ध तक आते-आते घटनाएँ तीव्र गति से आगे बढ़ती हैं।

2. लोक गीत :

कात कन्हाण के गीत

सत की साथण पाणी नै चाली, या तुलसाँ गैल होली हो राम।
भरण गई जल जमना की झारी हो राम,
सत की साथण न्यू उठ बोली या तुलसाँ ओड कुँवारी हो राम।
भरण गई जल जमना की झारी हो राम,
लोटा भी पटक्या, झारी भी पटकी या रोंदड़ी घर आयी हो राम।

4.3.2.08 कन्नौजी

1. लोक नाट्य : नौटंकी

उत्तरप्रदेश के इस क्षेत्र की नौटंकी में लोक कथा और किंवदन्तियाँ रहती हैं। सुलतान और शहजादी का प्रेमप्रसंग ही इन ख्यालों का मुख्य आधार है। इन्हीं से नौटंकी का बीजारोपण हुआ। कानपुर तथा हाथरस दोनों स्थानों की नौटंकी की अपनी विशिष्ट शैली है। इनमें हाथरसी शैली की नौटंकी का संगीत अत्यन्त सरल और सुगम है। कानपुरी नौटंकी की मंचसज्जा पारसी रंगमंच से प्रभावित है। इसके वेश-विन्यास में चमक-दमक और भड़कीलापन कम रहता है। इसके लिए रंगशाला की आवश्यकता नहीं होती। नौटंकी प्रायः हिन्दी की सभी बोलियों में खेली जाती है। इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता किन्तु कथ्य और शैली में क्षेत्रीय विशेषता दिखाई देती है।

2. लोक गीत :

बम भोला चले कैलास बुंदियाँ परन लगीं,
शिवशंकर चले कैलास बुंदियाँ परन लगीं।
गौरा ने बोइ दई हरी हरी मेंहदी,
बम भोला ने बोइ दई भाँ बुंदियाँ परन लगीं॥

4.3.2.09 गढ़वाली

गढ़वाली लोकसाहित्य के सभी रूपों में पहाड़ी प्रवृत्ति के अनुरूप श्वासों के आरोह-अवरोह का प्रभाव देखा जाता है। गढ़वाली में संस्कारों के लोक गीत मंगल-गीतों की श्रेणी में गिने जाते हैं। इन गीतों में पुत्र की महत्ता बताई जाती है। उसे देवता-प्रसूत कहा जाता है। अन्य भाषाओं के समान ही गढ़वाली मंगल-गीतों में वर-वधू के प्रतीक सीता-राम और शिव-पार्वती हैं। इन गीतों में स्त्रियाँ अपने पुत्र को कृष्ण कहकर सम्बोधित करती हैं। पुत्र का जन्म माता की तपस्या का फल है – "तू होला मेरी तपस्या का जायो।"

एक अन्य लोक गीत इस प्रकार है –

देन्णा होई जाया बें सेळी धरती,
देन्णा होई जाया बें भूमियाळा दयोऊ।
देन्णा होई जाया बें माई मडूली,
देन्णा होई जाया बें रितू बसन्ता॥

4.3.2.10 कुमाऊँनी

कुमाऊँनी में पुत्र-जन्म पर लोक गीत गाया जाता है –

लोक के नाथ हरि जन्म लिए,
पीताम्बर की कथनी काछे चतुर्भुज रूप धरे।

आदिवासियों की मान्यता है कि शंकर की पूजा करने से पुत्र मिलता है। इनके लोक-गीतों में चढ़ावे का वर्णन भी मिलता है –

शिव के मन माहि बसे काशी
शिव के मन माहि बसे काशी।
आधी काशी में बामन बनिया,
आधी काशी में संन्यासी,
शिव के मन माहि बसे काशी।
काही करन को बामन बनिया,

काही करन को संन्यासी,
शिव के मन माहि बसे काशी।
पूजा करन को बामन बनिया ।
पूजा करन को संन्यासी,
शिव के मन माहि बसे काशी।

4.3.2.11 ब्रजभाषा

ब्रज के लोक-गीतों में भोजपुरी, अवधी के सोहर के समान ही एक लोक कथा गीत के रूप में गायी जाती है। किसी सास व ननद ने बहू की आँखों पर पट्टी बाँध दी और उसके नवजात शिशु को घुरे पर फिंकवा दिया और बेटे से कहा कि तेरी पत्नी ने पत्थर जन्मा है। यह सुन पति अपनी पत्नी को रथ में जुतवा देता है। उधर नवजात शिशु एक मालिन के घर पलकर बड़ा होता है। बड़ा होकर सच्चाई को जानने पर वह अपनी माँ को प्रतिष्ठा देकर दादी को दण्ड देता है –

आधौ राजु जा मालिन ऐ देउ जानै तौ हम पारिए,
दादी ऐ चौराहे पै देवू गढ़वाय, जानै हम घूरे पै दिए डलवाए।

4.3.2.12 खड़ीबोली

कुरुक्षेत्र क्षेत्र की खड़ीबोली में प्रचलित एक लोक गीत को बड़ी बिहाई कहते हैं। कहीं-कहीं इसे ब्याही भी कहते हैं। बिहाई इसी का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है शिशु-जन्म। यहाँ 'मनरंजना' नामक गीत अत्यन्त प्रचलित है जिसमें ननद-भाभी की नोंक-झोंक का वर्णन रहता है –

जो भाबो तुम ललना जन्मोगी अहो मनरंजना,
तो हमें क्या दोगी नेग अहो मनरंजना।

4.3.2.13 बुंदेली

बुंदेलखंड में संचतगीत प्रचलित हैं। संचतगीत मातृभावना के प्रतीक हैं। संचत शब्द का अर्थ है 'सन्तति'। गर्भावस्था में छठे या आठवें माह में फूल-चौका किया जाता है। यह रिवाज वैदिक पुंसवन संस्कार का ही एक रूप है। गर्भवती स्त्री मायके से भेजे गए लाल रंग के वस्त्र पहनकर चौके पर बैठती है। इन गीतों को गीत कड़ौ भी कहते हैं। पड़ोस की महिलाएँ महीने भर आकर सादन के गीत गाती हैं। इन गीतों में पुत्र न होने का दुःख भी अभिव्यक्त किया जाता है –

जशोदा के महलन बेग चलो री,
महल के अंदर बेग चलो री।
बंदनवारे बंदे अति सोहें

लगी आम की धौरें।
जशोदा के महलन बेग चलो री,
सोने के कलश धरे अति सोहें,
उनहू की ऊँची पौरें।
जशोदा के महलन बेग चलो री।

4.3.3 पाठ-सार

लोक-साहित्य लोक परम्परा से चलता है। इसमें मनोरंजन के साथ शिक्षा और ज्ञानार्जन का उद्देश्य निहित होता है। लोक-साहित्य में लोक के संस्कार, व्रत, पूजा आदि से सम्बन्धित गीत होते हैं। लोक-साहित्य में ग्रामीण खेलों के गीत भी होते हैं। इसमें जनसाधारण के सहज विश्वास, श्रद्धा आदि को महत्त्व दिया जाता है। लोक-गीतों की शैली प्रायः हिन्दी की सभी बोलियों में संवाद शैली है। मुख्यतः यह मनुष्य की आदिम अवस्था का वर्णन है। इसमें कोई शास्त्रीय नियम नहीं होते। सामान्य लोक व्यवहार और आनन्द-प्राप्ति के लिए प्रयुक्त जनसामान्य की सहज उद्‌भावना ही लोक गीत है। लोक गीत मौखिक परम्परा है और अपौरुषेय है। इसमें नाम या वंश की लालसा नहीं होती। इनका स्वरूप बनता-बिगड़ता रहता है। यह मानव संस्कृति के सहज भावों का व्यापक उभार है।

लोक-गीतों, लोक-नाट्यों, लोक-कथाओं आदि में देश की प्रवृत्ति और संस्कृति का यथार्थ चित्रण होता है। लोक कला की बोली लोक में प्रयुक्त बोली है। यह काव्यशास्त्रीय नियमों पर आधारित साहित्य के समान अलंकार-छन्दोबद्ध नहीं होती। लोक-साहित्य में प्रयुक्त बोली एक जनपद से दूसरे जनपद की यात्रा करती हुई उनमें सम्बन्ध जोड़ती है। इसी कारण हिन्दी बोलियों के क्षेत्र परस्पर प्रभावित होते जाते हैं और सम्पूर्ण देश के लोकसाहित्य में वर्णित भावों की अभिव्यक्ति एक समान होती जाती है।

लोक नृत्य मांगलिक अवसरों पर पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। यह स्वोत्पन्न कला है। कलाकार भावों के अनुरूप अपना आंगिक प्रदर्शन करता है। उत्तरप्रदेश में कहरवा, धोबिअउ, होरी, कोल्हू नृत्य प्रसिद्ध है। इन नृत्यों में पुरुष ही स्त्री वेश धारण करता है। ये नृत्य वैयक्तिक और सामूहिक दोनों प्रकार के होते हैं। नृत्य करने वाला गाता भी है और नृत्य भी करता है। भारत की प्रायः सभी जातियों-जनजातियों में नृत्य की परम्परा है। इन समुदायों के लोकनृत्यों की क्षेत्रीय विशेषता लिए अपनी शैली होती है। अपने ढंग के परिधान होते हैं और वाद्य भी परिवेश के अनुरूप भिन्न-भिन्न होते हैं।

लोक नाट्य लोक रंगमंच का संगीतात्मक रूप होता है। इसे गेयता के साथ खेला जाता है। नाट्यसंगीत में सहजता होती है। परिधानों में लोकप्रिय वेश धारण किया जाता है। लोकवाद्य में नगाड़े, ढोलक, हारमोनियम, गैंती, मंजीरा आदि का प्रयोग होता है। इनकी भाषा काव्यमयी होती है और पद्यात्मक संवादों द्वारा अभिव्यक्ति की जाती है। भांडों द्वारा चुटीले शब्दों में गद्य का प्रयोग भी किया जाता है।लोक नाट्यों के कथानक में एकांकी की तरह तीव्रता जगाने के लिए विदूषक पात्र होते हैं। हिन्दी बोलियों के प्रसिद्ध लोक नाट्यों में रामलीला, रासलीला,

कीर्तनिया, स्वाँग, नौटंकी, भवाई, बिदेसिया, माच, भोंड प्रथा आदि प्रमुख हैं। अन्य लोक-नाट्यों में भी विदापत-विदूषक का बहुत महत्त्व होता है। पारिजात नाटक में नायक और विदूषक का संवाद है। नायक कहता है – "यहाँ भँड़ैती नहीं, पारिजात नाटक दिखाना है।" विदूषक कहता है – "अच्छा ! तुम मेरी जात बदलना चाहते हो ?" लोक-नाट्यों का प्रारम्भ ईश-वन्दना के साथ होता है और समापन रासनृत्य तथा पदों के गायन के साथ। अन्त में सर्वमंगल की कामना की जाती है। सभी भाषाओं में लोक नाट्य पौराणिक, ऐतिहासिक घटना-प्रधान कथ्यों को आधार बनाकर मंचित किया जाता है। इसके मंच के स्थल चौपाल जैसे सार्वजनिक स्थान होते हैंजहाँ सभी लोग एकत्रित होकर इनका आनन्द ले सकें।

लोक-कथाओं का स्रोत अतिप्राचीन है। पंचतंत्र हितोपदेश, बृहद्कथा, बैताल-पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, तोता-मैना, पुरुष-परीक्षा, नीति-कथाएँ, भोजकथा आदि की कथाओं को आधार बनाकर लोक-कथाएँ विस्तार पाती हैं। मानव से लेकर पशु-पक्षी सभी इसके पात्र होते हैं। अपनी क्षेत्रीय विशेषता के साथ यह लोगों के कण्ठ में विद्यमान रहती है। इसमें मानवीय भावनाएँ, प्रेम, शृंगार, मंगल कामना, रहस्य और उत्साह का समावेश रहता है। प्रायः लोक-कथाएँ सुखान्त होती हैं। इसमें आशावादी दृष्टिकोण के साथ भाग्य और कर्मवाद का समन्वय तथा सामाजिक-समानता की सद्भावना निहित रहती हैं। लोक-कथाएँ गद्य-पद्य मिश्रित होती हैं। प्रायः सभी बोलियों में कौवा हंकनी, रानी और चेरी की कथा, फरगुद्दी की कथा, कुसुमादेई, अब्दुर हमीद, वीर कुँवरसिंह, अमरसिंह राठौड़, शहजादी की प्रेमकथा, सेठ-सेठानी की कथा आदि लोक-कथाएँ थोड़े हेर-फेर के साथ कही-सुनी जाती हैं।

हिन्दी की सभी बोलियों में प्रकीर्ण लोक-साहित्य प्रचुर मात्रा में रचा गया है। लोकोक्ति, मुहावरे, कहावतें, सुभाषित, पहेलियाँ, मुकरियाँ, गहगड्ड, पशु-पक्षी सम्बन्धी ज्ञान, चिकित्सा-ज्ञान आदि प्रकीर्ण साहित्य के माध्यम से भाषा समृद्ध होती है। इनके प्रयोग से भाषा-शैली प्रभावोत्पादक और चमत्कारपूर्ण बन जाती है।

4.3.4 बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. आल्हा की मूल भाषा है–

(क) अवधी
(ख) ब्रज
(ग) बघेली
(घ) बुंदेली

2. बिरहा को गाने में माहिर होते हैं –

(क) अल्हैत
(ख) गढ़वाली
(ग) अहीर
(घ) धोबी

3. पचरा लोक गीत का सम्बन्ध है –

(क) संस्कार से
(ख) मंगल गीत से
(ग) प्रेम गीत से
(घ) देवी गीत से

4. माच का अर्थ है –

(क) स्वाँग
(ख) नाटक
(ग) लोरिकी
(घ) मंचन

5. लोरिकायन है –

(क) लोक गीत
(ख) लोक नाटक
(ग) प्रकीर्ण साहित्य
(घ) लोक गाथा

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. माच लोक नाट्य की विशेषताएँ लिखिए।
2. नौटंकी के कथ्य पर प्रकाश डालिए।
3. रासलीला का परिचय दीजिए।
4. गढ़वाली लोक गीत पर प्रकाश डालिए।
5. कठपुतली और कठघोड़ा नृत्य का वर्णन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. भोजपुरी लोक-साहित्य पर प्रकाश डालिए।
2. अवधी लोक-साहित्य की विशेषताएँ लिखिए।
3. भिखारी ठाकुर के बिदेसिया लोक नाट्य का वर्णन कीजिए।
4. छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य के विषय में लिखिए।
5. प्रकीर्ण को परिभाषित करते हुए उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।

4.3.5 सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. भोजपुरी लोक-गीतों में संस्कार, अखिलेश्वर सिन्हा, जानकी प्रकाशन, पटना, सं. 2008
02. भोजपुरी के कवि और काव्य, श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सं. 2001
03. लोक-गीतों के सन्दर्भ और आयाम, डॉ॰ शान्ति जैन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं. 1999
04. भाषाविज्ञान एवं समाज भाषाविज्ञान, प्रो॰ गिरीश महाजन, डॉ॰ भाऊसाहेब परदेशी, चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपुर।
05. भाषाविज्ञान, डॉ॰ श्यामसुन्दर दास, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर।
06. भोजपुरी और हिन्दी, डॉ॰ शुकदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
07. लोक-साहित्य, डॉ॰ सत्यनारायण दुबे, साहित्य सृजन प्रकाशन, इलाहाबाद।
08. भोजपुरी लोकाक्तियाँ, डॉ॰ शशिशेखर तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद प्रकाशन, पटना।
09. लोक परम्परा, पहचान एवं प्रवाह, श्यामसुन्दर दुबे, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
10. भोजपुरी लोक गीत : एक अध्ययन, पूनम सुधाकर, विकास प्रकाशन, कानपुर।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖